Samay Se Samvad: Janvikalp Sanchayita

Pramod Ranjan, Premkumar Mani, Reyazul Haque, Amartya Sen, Sudhir Chandra, Bipan Chandra, Yogendra Yadav, Tulsi Ram, Raju Ranjan Prasad, Rajendraprasad Singh, et al.

▶ To cite this version:

Pramod Ranjan, Premkumar Mani (Dir.). Samay Se Samvad: Janvikalp Sanchayita. 2022, 978-93-92380-49-5. hal-03931761

HAL Id: hal-03931761
https://hal.science/hal-03931761v1

Submitted on 9 Jan 2023

HAL is a multi-disciplinary open access archive for the deposit and dissemination of scientific research documents, whether they are published or not. The documents may come from teaching and research institutions in France or abroad, or from public or private research centers.

L'archive ouverte pluridisciplinaire **HAL**, est destinée au dépôt et à la diffusion de documents scientifiques de niveau recherche, publiés ou non, émanant des établissements d'enseignement et de recherche français ou étrangers, des laboratoires publics ou privés.

Distributed under a Creative Commons Attribution - NonCommercial 4.0 International License

समय से संवाद

जन विकल्प संचयिता

संपादक

प्रेमकुमार मणि

प्रमोद रंजन

समय से संवाद

समय से संवाद

जन विकल्प संचयिता

संपादक

प्रेमकुमार मणि

प्रमोद रंजन

अनन्य प्रकाशन

प्रकाशक : अनन्य प्रकाशन
ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा
दिल्ली-110032
फोन नं. 011-22825606, 22824606
E-mail: prakashanananya@gmail.com

सर्वाधिकार : प्रमोद रंजन

प्रथम संस्करण : 2022

आवरण : राजन कुमार

आईएसबीएन : 978-93-92380-49-5

मूल्य : ₹ 450

शब्द-संयोजन : कम्प्यूटेक सिस्टम, दिल्ली-110032

मुद्रक : हर्ष प्रिंटर्स, दिल्ली-110094

SAMAY SE SAMVAD : JAN VIKALP SANCHAYITA

edited by

Prem Kumar Mani

Pramod Ranjan

अनुक्रम

भूमिका			09
भाग – 1	:	**संपादकीय**	
अध्याय - 1	:	समय से संवाद	19
अध्याय - 2	:	जनतंत्र की मुश्किलें : राजनीतिक दलों का आंतरिक जनतंत्र	24
अध्याय - 3	:	बिहार में विकास की राजनीति	27
अध्याय - 4	:	माओवाद, हिंसा की राजनीति और सामाजिक परिवर्तन के सवाल	30
अध्याय - 5	:	सामाजिक न्याय का महायान	34
अध्याय - 6	:	बुद्ध, मार्क्स और आज की दुनिया	37
अध्याय - 7	:	उत्तर प्रदेश के चुनावी नतीजे	40
अध्याय - 8	:	बिहार में माओवादी हिंसा	46
अध्याय - 9	:	आजादी का संघर्ष आज भी चल रहा है	51
अध्याय - 10	:	सवाल दुनिया की व्याख्या का नहीं, उसे बदलने का है	54
अध्याय - 11	:	आस्था नहीं, वैज्ञानिक चेतना	60
भाग – 2	:	**अध्ययन कक्ष**	
अध्याय - 12	:	बौद्ध दर्शन के विकास व विनाश के षड्यंत्रों की साक्षी रही पहली सहस्राब्दी – ***तुलसी राम***	67
अध्याय - 13	:	प्राचीन भारत में वर्णव्यवस्था और भाषा – ***राजू रंजन प्रसाद***	76
अध्याय - 14	:	ऋग्वैदिक भारत और संस्कृत : मिथक एवं यथार्थ – ***राजेन्द्र प्रसाद सिंह***	83
अध्याय - 15	:	आधुनिक हिंदी की चुनौतियां – ***अरविंद कुमार***	94

अध्याय - 16 : खड़ी बोली का आंदोलन और अयोध्या प्रसाद खत्री
- राजीवरंजन गिरि 106

अध्याय - 17 : उत्तरआधुनिकता और हिंदी का द्वंद्व
- सुधीश पचौरी 115

अध्याय - 18 : बहुजन नजरिये से 1857 का विद्रोह
- कंवल भारती 130

भाग-3 : समकाल

अध्याय - 19 : मैं बौद्ध धर्म की ओर क्यों मुड़ा? *- लक्ष्मण माने* 141

अध्याय - 20 : पेरियार की दृष्टि में रामकथा
- सुरेश पंडित 156

अध्याय - 21 : गीता : ब्राह्मणवाद की पुनर्स्थापना का षड्यंत्र
- प्रमोद रंजन 165

अध्याय - 22 : मार्क्स को याद करते हुए *- राजू रंजन प्रसाद* 168

अध्याय - 23 : दण्डकारण्य : जहां आदिवासी महिलाओं के लिये जीवन का रास्ता युद्ध है
- क्रांतिकारी आदिवासी महिला मुक्ति मंच 173

अध्याय - 24 : जनयुद्ध और दलित-प्रश्न
- कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ नेपाल (माओवादी) 186

अध्याय - 25 : हाशिये के लोग और पंचायती राज अधिनियम
- लालचंद ढिस्सा 200

अध्याय - 26 : सच्चर रिपोर्ट की खामियां *- शरीफ कुरैशी* 206

अध्याय - 27 : संविधान पर न्यायपालिका के हमले के खिलाफ
- शरद यादव 212

अध्याय - 28 : सामाजिक जनतंत्र के सवाल- *प्रफुल्ल कोलख्यान* 216

अध्याय - 29 : माइक थेवर को जानना जरूरी है *- रवीश कुमार* 224

अध्याय - 30 : प्रेमचंद की दलित कहानियां : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन *- धीरज कुमार नाइट* 226

अध्याय - 31 : मुक्ति संघर्ष के दो दस्तावेज *- रेयाज-उल-हक* 232

अध्याय - 32 : राजापाकर कांड *- नरेन्द्र कुमार* 237

भाग-4 : साक्षात्कार

अध्याय - 33 : वैश्वीकरण के साथ खास तरह के संवाद की जरूरत *- सीताराम येचुरी* 245

अध्याय - 34 : हम जनता की लामबंदी में यकीन रखते हैं *- गणपति* 251

अध्याय - 35 : यह सीधे-सीधे युद्ध है और हर पक्ष अपने हथियार चुन रहा है *- अरुंधति रॉय* 285

अध्याय - 36 : पांच सौ वर्ष पुराना है कश्मीर की गुलामी का इतिहास *- संजय काक* 295

अध्याय - 37 : प्रायः मानवीय मुद्दों को नजरअंदाज कर दिया जाता है *- अमर्त्य सेन* 302

अध्याय - 38 : भारतीय इतिहास लेखन मार्क्सवादी नहीं, राष्ट्रवादी है *- सुधीर चंद्र* 309

अध्याय - 39 : भूंडलीकरण को स्वीकार करना ही होगा *- बिपन चंद्र* 317

अध्याय - 40 : जाति केवल मानसिकता नहीं *- योगेंद्र यादव* 334

अध्याय - 41 : साहित्य प्रायः उनका पक्ष लेता है जो हारे हुए हैं *- अरुण कमल* 347

अध्याय - 42 : प्रतिभा आपको अकेला कर देती है *- राजेंद्र यादव* 355

भाग - 5 : यवन की परी

उन्हें नफरत है खिड़कियों से *- रति सक्सेना* 367

कविता : एक पत्र पागलखाने से *- परी* 369

भाग – 6 : परिशिष्ट

1. जनविकल्प में प्रकाशित सामग्री की सूची **389**

2. विमोचन से संबंधित समाचार व समीक्षाएं

समाचार : जन विकल्प पत्रिका का विमोचन
- *आज समाचार सेवा* 407

समाचार : सार्थक वैचारिक हस्तक्षेप जनविकल्प
- *प्रमोद कुमार सिंह* 408

समीक्षा : नंदीग्राम पर लिखी कविताओं ने छुआ है
- *मैनेजर पांडेय* 409

समीक्षा : आंतरिक जनतंत्र का सवाल - *सुरेश सलिल* 410

समीक्षा : स्त्री अस्मिता और पहचान की सशक्त आवाज
- *रोहित प्रकाश* 413

समीक्षा : बहुजन नजरिये की महत्वपूर्ण मासिक पत्रिका
- *मुसाफिर बैठा* 415

समीक्षा : एक बहुध्रुवीय दुनिया का सपना - *सुरेश सलिल* 418

समीक्षा : समाचार, विचार और पत्रकारिक मानक
- *सुरेश सलिल* 421

समीक्षा : संचेतना और वैज्ञानिकता का वाहक
- *अरुण नारायण* 424

समीक्षा : बुद्धिवादी समाज के निर्माण की वैचारिकी
- *शंभुकुमार सुमन* 425

समीक्षा : कहानी में दम - *ओम नारायण* 428

जन विकल्प का प्रकाशन वह दुनिया और आज का दौर

यह किताब 'जन विकल्प' में प्रकाशित चुने हुए लेखों और साक्षात्कारों का संकलन है।

मासिक 'जन विकल्प' का प्रकाशन पटना से जनवरी, 2007 में शुरू हुआ और इसका अंतिम अंक उसी साल दिसंबर में आया। पत्रिका सिर्फ एक साल चली। उसमें भी एक अंक संयुक्तांक था। 10 सामान्य अंक निकले और एक अंक साहित्य वार्षिकी का प्रकाशित हुआ। इस प्रकार कुल 11 अंक प्रकाशित हुए। अपनी प्रकृति में यह एक लघु पत्रिका थी। लघु-पत्रिकाओं का पाठक वर्ग सामान्यतः साहित्यिक अभिरूचि के व्यक्तियों के बीच होता है। लेकिन जन विकल्प का पाठक वर्ग वहीं तक सीमित नहीं था, बल्कि इसमें बड़ी संख्या में समाज और राजनीति कर्म में दिलचस्पी लेने वाले लोग भी शामिल थे। विशेषकर, ऐसे लोग जो जमीनी स्तर पर परिवर्तनकारी संघर्षों में लगे थे। इसके लेखकों में भी अनेक ऐसे लोग शुमार हुए, जो मूल रूप से लेखक नहीं, बल्कि समाजकर्मी थे।

पत्रिका का उद्‌घाटन अंक से ही जोरदार स्वागत हुआ। भारत से ही नहीं, बल्कि दुनिया के अनेक देशों से पाठकीय प्रतिक्रिया आती रहीं। समाचार पत्रों में इसके ताजा अंकों की समीक्षाएं भी निरंतर प्रकाशित होती रहीं।

इस संकलन को पाठकों को सौंपते हुए डेढ़ दशक पहले के उस दौर की याद आना स्वभाविक है। वर्ष 2006 तक मैं हिमाचल प्रदेश और पंजाब के हिंदी दैनिक समाचार-पत्रों में काम कर रहा था। कई बार नौकरियां बदलीं, एक अखबार से दूसरे में गया, लेकिन न्यूज रूमों की स्थितियां सभी जगह कमोवेश एक थीं। समाचार पत्रों में क्या छपता था और क्या-क्या लिखना होता था, वह दीगर बात है, लेकिन न्यूज रूमों में काम करने वालों के लिए जनतंत्र

एकदम नदारद था। समस्या यह नहीं थी कि उनमें काम करने वाले अधिकांश सिर्फ दो-तीन समुदायों से आते थे। बल्कि समस्या यह थी कि वहां ऐसे लोगों का वर्चस्व था जो सोच और काम करने के तौर-तरीकों में न आधुनिक थे, न होना चाहते थे। उनमें से अधिकांश अपने समुदायों की तलछट थे; जिन्हें कहीं काम नहीं मिलने पर उनके किसी वरिष्ठजन ने अखबारों में फिट कर दिया था। नौकरी को वे अखबार के मालिक, संपादक और भगवान की नियामत मानते थे। उन्हें लगता था कि बड़े-बड़े लोगों के संपर्क में आने का जो मौका उन्हें मिल रहा है, वह किसी पूर्वजन्म का सुफल है। वे चौबीस घंटे अखबार के लिए काम करते, वही उनकी पूरी दुनिया थी। वे इस बात से कतई अनजान लगते थे कि एक कर्मी के कुछ अधिकार भी होने चाहिए, जैसे कि छुट्टियां व अन्य न्यूनतम सुविधाएं। इस दिशा में उनके अधिकतम सरोकार वेतन वृद्धि तक थे, उससे आगे वे सोचते तक नहीं थे। हालत गुलामों के एक बाड़े जैसी थी। इन सबका सीधा असर अखबारों में प्रकाशित होने वाली सामग्री पर पड़ता था। मौलिकता, रचनात्मकता और स्वतंत्र चिंतन सिरे से नदारद था।

इन्हीं परिस्थितियों में मैंने शिमला से प्रेमकुमार मणि को एक लंबा पत्र लिखा था। उस पत्र में क्या था, यह तो ठीक याद नहीं, लेकिन इतना याद है कि पत्र काफी लंबा था और मैंने उसमें अखबारों की नौकरी छोड़ने की मंशा जताई थी और उनसे पूछा था कि जीविका का कोई वैकल्पिक साधन वे देखते हों तो सुझाएं।

दारुण स्थितियों के अनिर्वाह्य हो जाने पर 2005 के अंत में पत्रकारिता को अलविदा कह अपने शहर पटना लौट आया। पटना में मणि जी से मुलाकातों का सिलसिला स्वभाविक तौर पर बढ़ा। उनके मन में पत्रिका शुरू करने की चाह संभवतः पहले से मौजूद थी। जल्दी ही पत्रिका निकालने की योजना बन गई, जिसके लिए संसाधन मणि जी को उपलब्ध करवाना था। उन्होंने कहा कि पत्रिका के संपादक के रूप में उनके साथ मेरा नाम (प्रमोद रंजन) भी जाएगा। विचार और साहित्य की दुनिया में मणि जी एक प्रतिष्ठित नाम थे। संपादक के रूप में अपने साथ मेरा नाम देने का फैसला निश्चित तौर पर उनका बड़प्पन था।

हमारे बीच बातचीत का एक लंबा दौर पत्रिका के नाम को लेकर चला। हमने दर्जनों नामों पर विचार किया, लेकिन मणि जी को कोई नाम जंचता न था।

लेकिन, जब 'जन विकल्प' नाम सामने आया, तो वे इस पर सहमत हो

गए। इसका 'जन' राममनोहर लोहिया और मार्क्सवाद का है। लोहिया ने 1950 के दशक में 'जन' नामक पत्रिका निकाली थी; और यह मार्क्सवाद की शब्दावली का अभिन्न हिस्सा भी है।

जन विकल्प के प्रकाशन का समय इक्कीसवीं सदी की अंगड़ाई का समय था। बाजार का भूमंडलीकरण तीसरी दुनिया के देशों में पसर रहा था। भारत में एक ओर नया मध्यमवर्ग फलफूल रहा था तो दूसरी ओर राजनीति, धर्म और वैश्वीकृत बाजार की जुगलबंदी गहरी होती जा रही थी। दुनिया को देखने के लिए अब भी मार्क्स और लोहिया की विचार-पद्धति मददगार थी, लेकिन हम यह भी देख सकते थे कि उनके नाम पर बने संप्रदाय और पीठ– मसलन, मार्क्सवादी और लोहियावादी राजनीतिक दल– मौजूदा समस्याओं को समझने में असफल हो रहे हैं। ऐसे में, विकल्प की बात सोचना स्वभाविक था।

यही कारण है कि पत्रिका में भूमंडलीकरण और विभिन्न राजनीतिक विकल्पों पर लगातार सामग्री प्रकाशित हुई। हमारी संपादकीय समझ थी कि भूमंडलीकरण को रोका नहीं जा सकता, बल्कि हमें देखना चाहिए कि आम जन के पक्ष में इसका क्या और कैसे उपयोग हो सकता है। हमने भूमंडलीकरण पर हिंदी में मचे हाय-हाय को तवज्जो नहीं दी।

यह वह समय था, जब हिंदी जगत में इंटरनेट ने अपनी शुरूआती धमक ही दी थी। प्रिंट पत्रिका के अतिरिक्त हमने जन विकल्प का ब्लॉग भी बनाया और इसके अंक ईमेल से भी प्रसारित किए। नतीजा यह हुआ कि अनेक देशों से हमें पाठक मिले, जिनमें विदेशों में प्रवास कर रहे हिंदी लेखक, संस्कृति-समाज कर्मी शामिल थे। उस दौर में भारत से बाहर रह रहे हिंदी भाषियों के लिए अपनी भाषा में किसी चीज का पहुंचना दुर्लभ हुआ करता था।

उस समय तक हिंदी समेत भारतीय भाषाओं के लेखक व पाठक ईमेल के साथ तालमेल बिठाना शुरू कर ही रहे थे। गूगल का ब्लॉगर लोकप्रिय हो रहा था और ब्लॉग के लिए 'चिट्ठा', ब्लॉगिंग के लिए 'चिट्ठाकारिता', ब्लॉगर के लिए 'चिट्ठाकार' जैसे हिंदी शब्द बनने लगे थे। कुछ लोग वेबसाइट के लिए 'जालपृष्ठ' जैसा शब्द ढूंढ लाए थे। लेकिन, अभी भी प्रिंट सामग्री ही मुख्य थी। इसके निकट भविष्य में कमजोर पड़ जाने की आशंकाएं हवा में नहीं थीं। हां, इंटरनेट की आमद को देखते हुए अनेक लोग इस फिक्र में जरूर थे कि इसका हिंदीकरण कैसे किया जाए। संभवतः यह भी एक अवचेतन कारक था कि जन विकल्प में भी भाषा को लेकर अनेक लेख प्रकाशित हुए।

यह मुख्य रूप से समसामयिक मुद्दों की पत्रिका थी। युवा लेखक देश-

विदेश की ताजा घटनाओं, समस्याओं का विश्लेषण उसमें लिखा करते थे। हमारी कोशिश होती थी कि साहित्यिक हलचलों पर भी कुछ सामग्री नियमित तौर पर प्रकाशित हो। इसके अलावा विभिन्न धाराओं के समाज-राजनीति कर्मियों, इतिहासकारों व अन्य बौद्धिकों के साक्षात्कार भी हमने प्रकाशित किए। पत्रिका में अधिकांश सामग्री जिन स्तंभों के तहत प्रकाशित हुई, वे थे– 'समकाल', 'अध्ययन कक्ष', 'धरोहर' 'साक्षात्कार' और 'पुस्तक चर्चा'।

हर अंक में कविता का भी एक स्तंभ अवश्य होता था। पत्रिका के पहले अंक के साथ वितरण के लिए हमने एक कविता-पुस्तिका 'यवन की परी' प्रकाशित की थी, जिसमें 'एक पत्र पागलखाने से' शीर्षक लंबी कविता व कुछ अन्य सामग्री थी। वह पागलखाने में बंद एक अनाम कवयित्री की कविता थी, जो किसी अज्ञात यवन देश के पागलखाने में कैद थी। उसका काव्यानुवाद हमें रति सक्सेना ने उपलब्ध करवाया था। वह कवियित्री कौन थी, क्या करती थी, यह रति जी को भी नहीं मालूम था, न आज तक दुनिया उनका असली नाम जान पाई है। रति जी उन दिनों एक वेब पत्रिका चलाया करती थीं। वह कविता उन्हें किसी ने ईमेल से इस सूचना के साथ भेजी थी कि इसे लिखने वाली महिला ने हाल ही में पागलखाने में आत्महत्या कर ली है। अक्क महादेवी और मीरा की काव्य-परंपरा की याद दिलाने वाली यह कविता शुरुआती पंक्तियों से ही विज्ञान, ईश्वर, साहित्य, संगीत, कला और युद्ध की निरर्थकता को अपने वितान में समेटे इतने ठंडे लेकिन तूफानी आवेग से आगे बढ़ती है कि हम सन्न रह जाते हैं। स्त्री की आजादी के सवाल पर कथित आधुनिक और उत्तर आधुनिक समाज की दोहरी मानसिकता को उजागर करने वाली यह कविता निश्चित रूप से विश्व की प्रतिनिधि समकालीन कविताओं में शुमार किए जाने लायक है। इस कविता को इस पुस्तक में संकलित किया गया है। पत्रिका में प्रकाशित अन्य कविताओं को स्थानाभाव के कारण नहीं लिया गया है।

अल्पजीवी होने के बावजूद जन विकल्प को इतनी व्यापक चर्चा किन कारणों से मिली, इस पर सोचने पर पाता हूं कि शायद इसका कारण था, इसकी जनपक्षधरता, वैचारिक खुलापन और उस समय उपलब्ध नवीनतम तकनीक– ईमेल और ब्लॉग का उपयोग। लेकिन, इसे इसकी वैचारिक पहचान प्रेमकुमार मणि द्वारा लिखी गई संपादकीय टिप्पणियों से मिली। उनकी संपादकीय टिप्पणियां तात्कालिक मुद्दों पर होती थीं, लेकिन उन्हें वे एक ऐसी ऊंचाई से देखते थे, जिससे न सिर्फ उन तात्कालिक लगने वाले मुद्दों की ऐतिहासिकता एक कौंध की तरह उजागर होती थी, बल्कि भविष्य को देखने का नजरिया भी

मिलता था। संभवतः यही कारण था कि समाचार-पत्रों में प्रकाशित जन विकल्प की समीक्षाएं प्रायः उनके संपादकीय पर ही केंद्रित हो जाया करती थीं। उनकी सभी संपादकीय टिप्पणियां इस किताब में संकलित हैं। अखबारों में छपी थोड़ी-सी समीक्षाएं संयोग से मेरी एक पुरानी फाइल में मिल गईं, उन्हें भी इस पुस्तक के परिशिष्ट में दे दिया है।

अगर आप जन विकल्प की मूल फाइल, जो कि इंटरनेट पर मौजूद हैं, से गुजरें तो पाएंगे कि अनेक लेखों में 1970 के दशक की राजनैतिक और बौद्धिक दुनिया की हलचलों को याद किया गया है। समेकित रूप से देखने पर सत्तर का दशक पत्रिका में एक ऐसे संदर्भ बिंदु के रूप में सामने आता है, जिसकी रोशनी में लेखकगण नई सदी के पहले दशक को देख रहे हैं। इस क्रम में लेखकों ने उन परिवर्तनों को लक्षित किया है, जो उस दौरान हुए। वे उन परिवर्तनों से कुछ-कुछ हैरान भी हैं, लेकिन नई चुनौतियों से निपटने के लिए नया रास्ता, नया विकल्प ढूंढने की कोशिश गहनता से कर रहे हैं।

आज जब 2022 के अंतिम दिनों में मैं यह पंक्तियां लिख रहा हूं, तो जन विकल्प के प्रकाशन के 15 साल बीत चुके हैं। और, इस बीच भी काफी कुछ बदल चुका है। ये बदलाव 1970 से 2007 के बीच की तुलना में बहुत तेज गति से हुए हैं। पिछले दो वर्षों में कोरोना वायरस महामारी की आड़ में इन बदलावों को एक ऐसी आंधी का रूप दे दिया गया, जिसमें बहुत दूर तक देख पाना कठिन हो रहा है। लेकिन, हम इतना तो देख ही सकते हैं कि मानव-सभ्यता के एक नए चरण का आगाज हो चुका है।

हमारी शिक्षा व्यवस्था, स्वास्थ्य व्यवस्था, प्रशासनिक व्यवस्था और बाजार सब बहुत तेजी से ऑनलाइन होने की प्रक्रिया में हैं।

लिखने-पढ़ने की दुनिया काफी बदल चुकी है और निकट भविष्य में इसमें आमूलचूल परिवर्तन आ जाएगा। मशीनों की कृत्रिम बुद्धिमत्ता इस काबिल हो चुकी है कि वह न सिर्फ स्वयं नई चीजें सीख रही है, बल्कि अनेक क्षेत्रों में ऐसा बहुत कुछ पैदा करने में सक्षम हो गई है, जिन्हें कुछ वर्ष पहले तक सिर्फ मनुष्य के बूते का काम माना जाता था। हमारे देखते-देखते मशीन और मनुष्य के बीच की विभाजन-रेखा धुंधली हो रही है।

मसलन, मशीनों के इस नए अवतार के कारण दुनिया की प्रतिष्ठित विज्ञान विषयों की शोध पत्रिकाएं एक अभूतपूर्व संकट से गुजर रही हैं। इन पत्रिकाओं में प्रकाशित होने पर लेखकों को उनकी नौकरियों में प्रमोशन, आर्थिक अनुदान आदि अनेक प्रकार के लाभ होते हैं। अनेक लेखक इन पत्रिकाओं को

प्रकाशनार्थ मशीनों द्वारा तैयार किए गए शोध-पत्र भेज रहे हैं। मशीनों द्वारा इंटरनेट पर मौजूद वैज्ञानिक शोधों के अथाह सागर से एकदम मौजूं संदर्भ ढूंढ कर सजाए गए ये 'शोध-पत्र' बिल्कुल मौलिक जैसे लगते हैं। पीयर रिव्यू करने वाले ऐसे जाली शोध-पत्रों को पकड़ पाने में असफल हो रहे हैं।

फर्जी शोध-पत्रों की बात छोड़ भी दें तो कृत्रिम बुद्धिमत्ता की उन्नत प्रणालियां जीव विज्ञान, भौतिकी और रसायनशास्त्र में नित नई-नई अत्यंत उपयोगी खोजें कर रही हैं। महामारी के वर्षों के दौरान ही अल्फाफोल्ड नामक एक कृत्रिम बुद्धिमत्ता प्रणाली ने जीव विज्ञान के क्षेत्र में एक ऐसी सफलता हासिल की, जिसने चिकित्साशास्त्र को युगांतकारी छलांग दे दी है। इस खोज के कारण अब यह पता लगाना संभव हो गया है कि अमीनो एसिड की एक श्रृंखला कैसे थ्री-डी आकार में परिवर्तित होकर जीवन के कार्यों को अंजाम देती है। इससे अब पृथ्वी ग्रह पर पाए जाने वाले मनुष्य समेत 10 लाख जीवों और सभी वनस्पतियों में मौजूद 20 करोड़ से अधिक प्रोटीन संरचनाओं की भविष्यवाणी संभव हो गई है, जो नई दवाओं और टीका के निर्माण में सहयोगी हो रही है।

यह अनायास ही नहीं कहा जा रहा कि मशीनें जिस तेज गति से चिकित्सा विज्ञान में नई-नई खोजें करने में सफल हो रही हैं, उससे संभावना है कि, अगर नोबल देने का मौजूदा पैमाना बरकरार रहा तो वर्ष 2036 तक नोबेल पुरस्कार किसी मशीन को देना होगा।

यह सब सिर्फ विज्ञान के क्षेत्र तक सीमित नहीं है। लेखन, चित्रकला, संगीत के क्षेत्र में भी मशीनें तेजी से पैठ बना रही हैं। अब वे संगीत की नई धुनें स्वयं बना ले रही हैं, ऐसी पेंटिंग्स कर रही हैं, जिनमें अर्थवत्ता समेत प्रायः ऐसा बहुत कुछ है, जो किसी कथित मौलिक चित्रकार के चित्र में पाया जाता था। पत्रकारिता में भी उसके कदम पड़ चुके हैं। दुनिया के बड़े मीडिया संस्थान मशीनों से डेस्क-संवाददता का काम लेना शुरू कर चुके हैं। अनेक सर्वेक्षणों में पाया गया कि मशीनों द्वारा लिखे गए खेल व आर्थिक विषयों से संबंधित समाचार मनुष्य संवाददाताओं की तुलना में किंचित गहरे और प्रभावशाली हैं।

मानविकी से संबंधित अकादमिक अनुशासनों में भी इसका पदापर्ण हो चुका है। डिजिटल ह्यूमैनिटी नामक एक नया अनुशासन पिछले वर्षों में बना और विकसित हुआ है, जिसके सहारे अब हम साहित्य, इतिहास, समाजशास्त्र, भूगोल समेत सभी मानविकी अनुशासनों में ऐसी अनूठी चीजें पलक झपकते देखने में सक्षम हो रहे हैं, जिनके बारे में पहले कल्पना भी नहीं कर सकते थे।

मशीनें कविताएं और उपन्यास भी लिख रही हैं, और पाठक के लिए पकड़ पाना संभव नहीं रह गया है कि उसका कौन-सा हिस्सा मशीन द्वारा लिखा गया है और किस हिस्से को किसी मनुष्य की रचनात्मकता ने संवारा है। औद्योगिक क्रांति के समय मशीनें मनुष्य के शारीरिक श्रम में सहयोगी के रूप में सामने आईं थी, अब वे हमारी बौद्धिक और रचनाशील सहकर्मी की भूमिका में आने को आतुर हैं। स्वाभाविक तौर पर इन परिवर्तनों से, विचार और दर्शन की दुनिया भी बदल रही है। इसका दायरा मनुष्योन्मुखी संकीर्णता का त्याग कर समस्त जीव-जंतुओं और बनस्पितयों तक फैल रहा है। एंथ्रोपोसीन और उत्तर मानववाद जैसी विचार-सरणियों के तहत इनपर जोरशोर से विमर्श हो रहा है।

हमें इन परिवर्तनों को एक आसन्न संकट की तरह नहीं, बल्कि परिवर्तन की अवश्यंभावी प्रक्रिया के रूप लेना चाहिए और इसके उद्देश्यों की वैधता पर पैनी नजर रखनी चाहिए। लेकिन दुखद है कि हिंदी समेत भारतीय भाषाओं के साहित्य और वैचारिकी में इसकी गूंज सुनाई नहीं पड़ रही।

हालांकि हमारा पाठक बदल चुका है। भारत का युवा पाठक आज आधिकांश मायनों में अपने लेखकों से बहुत आगे है। नित तेज होते बैंडविड्थ पर वह सूचनाओं और ज्ञान की वैश्विक दुनिया की झलकियां देख रहा है। मशीनी अनुवाद की सफलता से भाषा के बंधन भी तेजी से टूट रहे हैं।

इस ऐतिहासिक संक्रमण-काल में, जब इतना कुछ, इतनी तेजी से बदल रहा है, 15 साल पहले जन विकल्प में प्रकाशित हुई सामग्री का यह प्रतिनिधि संकलन तैयार करते हुए हमारे सामने एक अनिवार्य सवाल था कि कौन-सी सामग्री कितनी प्रासंगिक है, और किसका मूल्य लंबे समय तक बना रहेगा। जैसा कि मैंने पहले बताया, जन विकल्प मुख्य रूप से समसामयिक मुद्दों की पत्रिका थी। उसकी अलग से पहचाने जाने वाली रंगत समसामयिक मुद्दों पर उसकी आवेगपूर्वक वैचारिकता में दिखती थी। लेकिन, इस संकलन में हमने समसामयिक मुद्दों पर केंद्रित सामग्री को छोड़ दिया है। पुस्तक में उसी सामग्री को लिया है जिनमें दूरगामी और चिरजीवी प्रश्नों पर विचार किया गया है।

– प्रमोद रंजन

नवंबर, 2022

भाग – 1

संपादकीय

अध्याय - 1

समय से संवाद

एक लेखक और उससे पहले एक आम आदमी के स्तर पर मैं बार-बार अपने समय से संवाद करना चाहता हूं। मैं समझता हूं, हर लेखक और हर व्यक्ति कमो-बेश ऐसा करता होगा। मैं उस पीढ़ी का हूं जो 1970 के दशक में तरुण थी। हमारी तरुणावस्था में हमारे चारों ओर अनेक तरह के जनआंदोलन, अनेक तरह की राजनीतिक सक्रियतायें और वैचारिक उथल-पुथल थे। हमारे साहित्यिक जीवन में भी अनेक राजनैतिक विचार चर्चा में थे। समाजवाद का स्वप्न तो था ही, जनतंत्र को भी व्यापक अर्थों में परिभाषित करने-समझने की कोशिशें हो रही थीं। जिस आजादी को हमारे 'राष्ट्रीय और बूर्ज्वा' नेताओं ने 1947 में हासिल किया था, उस पर राजनीति और साहित्य दोनों में चारों ओर से सवाल उठ रहे थे। हिन्दी कविता में इसी मिजाज को कवि धूमिल ने उतारने की कोशिश की थी। आज विचारों से विनोबायी और लिजपिज हुए कवि आलोकधन्वा तब क्रांतिकारी मिजाज के थे और उनकी कवितायें युवा कविता का प्रतिमान थीं। नौजवानों में महत्वाकांक्षा तो थी, लेकिन इतर किस्म की। फिल्मों और सत्ता के गलियारों में जाने अथवा धनकुबेर बनने जैसी आकांक्षायें आम नहीं हुई थीं। जो इन क्षेत्रों में चले गये थे, उनके प्रति कोई विशेष आकर्षण भी नहीं था। मध्यवर्ग के नायक लोहिया, चारू मजूमदार और जे.पी. जैसे लोग थे।

लेकिन समय में लगातार परिवर्तन हुए। राष्ट्र और समाज का भौतिक रूप तो बदला ही, हमारे दृष्टिकोण में भी परिवर्तन हुए। 1990 में जब सोवियत संघ से लाल सितारा हटा तो ऐसा लगा कि दुनिया एक दूसरे दौर में पहुंच चुकी है। उसके बाद का लगभग एक दशक वैचारिक उथल-पुथल वाला रहा। हमारे उत्तर भारत में यह समय राम-विमर्श और जाति-विमर्श का रहा। रस्साकशी इतनी तेज थी कि बिहार समेत पूरी हिन्दी पट्टी से कम्युनिस्ट पार्टियों का सफाया

हो गया। कांशीराम ने कम्युनिस्टों को हरी घास के हरे सांप कहा, और अनेक कम्युनिस्टों ने भाजपा या फिर लोहियावादी दलों में खुद को समाहित कर लिया। दशक के आखिर तक त्रासदी की तरह धुर दक्षिणपंथी नेता अटलबिहारी वाजपेयी मुल्क के प्रधानमंत्री बन चुके थे। आजादी के पचास साल बीत गये थे और बूर्ज्वा राजनीति का दूसरा पहलू हमारे सामने था। आजादी के वक्त जब नेहरू प्रधानमंत्री चुने गये थे तब वह अच्छों में ज्यादा अच्छे थे (यानी मुल्क में अनेक नेता अच्छे थे, नेहरू उनमें ज्यादा अच्छे थे) जब वाजपेयी चुने गये तब मुल्क का मिजाज था कि वह बुरों में कम बुरे थे। आजादी के पचास वर्षों की यात्रा हमने 'ज्यादा अच्छे' से चल कर 'कम बुरे' तक की थी।

तो हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि वैचारिक तौर से इतने उथल-पुथल वाले दौर से हम गुजर चुके हैं। आज जब हम अपने समय से संवाद करते हैं, तो हमारे पास इस पूरे दौर का अनुभव होता है। अपने समय का 'आंखों देखा' और उसके पूर्व का 'कागद लेखा' हमारे जहन में होता है। इसीलिए मेरा मानना है कि इक्कीसवीं सदी के इस दौर में हमारे पास अपेक्षाकृत व्यापक नजरिया और विश्लेषणात्मक क्षमता है, या होनी चाहिये। यह इसलिए कि हमने अनेक उतार-चढ़ावों को देखा है। राष्ट्रीय-अंतराष्ट्रीय घटनाक्रमों के बीच समाजवादी और लोकमंगलकारी नारों की विफलता देखी है। अपने साहित्य में नाना प्रकार के आंदोलनों और प्रयोगों को देखा है। इत्ती सारी घटनायें हमारे अनुभव और ज्ञान को परिपक्व करने के लिए पर्याप्त सामग्री देती हैं।

लेकिन मेरे मन को पिछले दिनों एक बड़ा झटका लगा जब मैं 'संगमन' की एक संगोष्ठी में शामिल हुआ। 'संगमन' कानपुर की साहित्यिक संस्था है जिसे तकरीबन पंद्रह वर्षों से हमारे प्रिय मित्र प्रियंवद अपने अजीज मित्रों के सहयोग से पाल-पोस रहे हैं। बहुत ही स्वायत्त और पुरआजाद किस्म की यह संस्था बिल्कुल अपने ही तरह की है और हर वर्ष देश के विभिन्न हिस्सों में घूम-घूम कर लेखक सम्मेलन आयोजित करती रही है। इसके अनेक आयोजनों में मुझे शामिल होने का सुअवसर मिला है। इस बार संगठन का आयोजन नैनीताल में था, जहां तीन दिनों तक विभिन्न विषयों पर विमर्श होते रहे और जिनमें पचास से अधिक रचनाकारों की सहभागिता रही।

मेरा मन टूटा कथा-विमर्श के दरम्यान। नैनीताल से कुछ दूर रामगढ़ स्थित दिवंगत महादेवी वर्मा के घर पर इस रोज संगोष्ठी हो रही थी। आरंभ में तीन युवा लेखकों (शशिभूषण, मनोजकुमार पांडेय, प्रेमरंजन अनिमेष) की कहानियों के पाठ हुए। मगर दुर्भाग्य से विमर्श के केन्द्र में केवल प्रेमरंजन की

कहानी रही। कहानी का शीर्षक भूल नहीं रहा हूं-तो – 'लड़की जिसे रोना नहीं आता था' था। कहानी निःसंदेह खूबसूरत भाषा में लिखी गयी थी और अंदाजे-बयां भी बुरा नहीं था। लेकिन जो कहानी थी उसे हम बकवास ही कह सकते हैं।

कहानी में अतिशयोक्तियां चलती हैं, लेकिन उनका भी एक विन्यास होता है। अतिशयोक्तियों की पिटारी को हम कहानी नहीं, बकवास कहेंगे। और यदि भाषा ही कहानी है, तो फिर गुलशन नंदा की भाषा ही कौन बुरी थी। अनेक सड़क छाप किताबों में कोई लरजते बादलों, सपनीली आंखों और झील के उस पार के अभिराम दृश्यों के खूबसूरत विवरण देख सकता है, लेकिन उसे साहित्य का दर्जा नहीं दिला सकता।

अनिमेश की कहानी ऐसी ही कहानी थी। मुझे आश्चर्य हुआ जब विमर्श के अधिकांश सहभागी इसके अभिनंदन में लग गये। मैत्रेयी पुष्पा और मैंने हस्तक्षेप किया तो कई सहभागियों को बुरा लगा। हमारा कहना था कि यह आज ही नहीं, भारतीय समाज में कभी की भी कहानी नहीं रही है। आज की और अट्ठाइस साल की एम.ए. लड़की की यह कहानी नहीं हो सकती। फिर क्या यह संभव है कि कोई परिवार बेटे की मृत्यु को दबा कर विवाह का उत्सव करे, जैसा कि कहानी में वर्णित है। और लेखक का तंग नजरिया ऐसा कि इतने जिल्लत के माहौल से दुल्हन कन्या की बहन का महाभिनिष्क्रमण भी महादुःखों की श्रेणी में ला खड़ा किया गया।

प्रियंवद गुस्से में थे। उनका आग्रह था कि कन्टेंट को नजरअंदाज कर कहानी के इतर पक्ष पर ध्यान दिया जाय। (जैसे दुल्हन की कुरूपता और विकलांगता पर नहीं, उसके परिधान पर ध्यान दिया जाये।) निश्चित ही वहां हम नितांत अल्पमत में थे। मैत्रेयीजी ने तो दुःखी हो यहां तक कहा कि जब हमें सुनना ही नहीं, तब हमें बुलाते ही क्यों हैं।

नैनीताल से लौटने के क्रम में मेरे मन में यह सवाल बार-बार गूंजता रहा कि आज का लेखक अपने समय और साहित्य से किस तरह संवाद करे। पाठ को कैसे देखे। उसका नजरिया कैसा हो। साठ के दशक में द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण' की एक कहानी अमिताभ बच्चन अभिनीत फिल्म 'बागवां' के तर्ज पर लिखी गयी थी कि कैसे एक बेटा अपने रिटायर्ड पिता को नहीं रख पा रहा है। उसी दौर में उषा प्रियंवदा की कहानी 'वापसी' भी छपी थी, जिसमें एक रिटायर्ड पिता अपने बेटे के पास आता है और पाता है कि यहां मैं पूरी तरह अप्रासंगिक हूं। यहां रहकर वह स्वयं को भी और अपने बेटे को भी कष्ट में डालेगा। वह

अपनी पुरानी जगह पर वापस होने का निर्णय लेता है, जहां उसके कुछ संगी-साथी हैं। तब आलोचक नामवर सिंह ने निर्गुण को खारिज करते हुए उषा जी की कहानी को रेखांकित किया था। दुर्भाग्य से आज कोई नामवर सिंह हमारे साहित्य में सक्रिय नहीं हैं और निर्गुणों की बन आई है।

कहानी और कविता का सवाल ही नहीं है, अन्य अनेक विषयों पर हमारा सामाजिक और साहित्यिक विमर्श तंग नजरिये से ग्रस्त हुआ है। पिछले दिनों 1857 और राष्ट्रीयता के सवाल पर भी ऐसी ही प्रतिक्रियायें हुई हैं। इन सवालों पर आंबेडकर, नेहरू, रजनीपाम दत्त आदि ने भी विमर्श किया है, लेकिन हिन्दी में बार-बार कोशिश होती है कि सावरकर-रामविलास शर्मा के पक्ष को मुख्य पक्ष माना जाय। अपने विमर्श में हिन्दी लेखक आज भी भारतेन्दु के जमाने में रहना चाहता है लेकिन परिवेश की आकांक्षा आधुनिकता और उत्तरआधुनिकता की करता है। समाजवाद, आजादी, वैश्वीकरण, इतिहास से लेकर सौन्दर्य तक के प्रति उसका नजरिया राष्ट्रीय आंदोलन और शीतयुद्ध के दौर का नजरिया है। वह राष्ट्रीय आंदोलन और शीतयुद्ध की कमजोरियों और अवगुंठनों पर विचार तक करना नहीं चाहता। पुरानी पीढ़ी ने जो देवता और नायक उस पर थोपे हैं उसकी वैचारिकी को अक्षुण्ण रखते हुए, उसे केवल नये परिधानों से वह परिमार्जित करना चाहता है। यह भाव हमारे अवचेतन का मुख्य भाव हो गया है और इसकी ही छाया हमारे लेखक पर पड़ रही है। हिन्दी लेखक दुनिया भर के विमर्शों पर, विचारधाराओं पर बात करता है, लेकिन अपने संस्कारों में कोई परिमार्जन करना नहीं चाहता। अपने साहित्य, इतिहास और संस्कारों की ज्यादा से ज्यादा परिक्रमा करना ही आदर्श बन गया है। नतीजा है हर स्तर पर हम गतिहीन होते जा रहे हैं। दलित तबकों से आये लेखकों-विचारकों ने अपनी ओर से असहमति जरूर दर्ज की है और आशा की किरण भी वहीं नजर आती है। लेकिन उन्हें भी भटकाने का भरसक प्रयास हो रहा है। मसलन राष्ट्रीय आंदोलन और 1857 में दलितों-पिछड़ों की भागीदारी का अध्ययन कुलीन इतिहास अध्ययन का प्रिय विषय हो गया है। मानो इन आंदोलनों में दलितों की भागीदारी से इसका अर्थ बदल जायेगा।

हिन्दी भाषी समाज को हिन्दी पट्टी कहकर इसे पिछड़ेपन का प्रतीक बताया जाता है तो हमें इसकी गहरायी में जाना चाहिए। हिन्दी साहित्य को भी अपनी जिम्मेवारी स्वीकारनी चाहिए। सामाजिक चिन्तन का मुख्य वाहक साहित्य होता है। हमारा समाज पिछड़ा है तो इसके मायने हैं कि पिछड़ेपन के तत्व हमारे साहित्य में मौजूद हैं। साहित्य में पिछड़ेपन के तत्व इसलिए मौजूद हैं कि

साहित्य में सक्रिय लोग मानसिक रूप से पिछड़े हैं या जानबूझ कर पिछड़ेपन को प्रसारित कर रहे हैं। बहुत बाद में नामवरजी ने रामविलास शर्मा के बारे में स्थिति साफ की और अब जाकर पंत साहित्य को कूड़ा कहा है। लेकिन कूड़े के ढेर और भी हैं। इनकी शिनाख्त के लिए अनेक नामवरों को आगे आना होगा। सच और साफ कहने की परंपरा हिन्दी में गौण है। इसे मुख्य रूप में होना चाहिए। इसके लिए लेखकों को अपने समय से संवाद करना होगा।

- दिसंबर, 2007 - मार्च, 2008

(साहित्य वार्षिकी)

अध्याय – 2

जनतंत्र की मुश्किलें
राजनीतिक दलों का आंतरिक जनतंत्र

राजनीतिक पार्टियां देश में जनतंत्र के खतरों को चाहे जितना समझती हों, अपनी ही पार्टी के आंतरिक जनतंत्र के प्रति पूरी तरह उदासीन हैं। वाम दलों को छोड़कर (और इसमें थोड़े से इफ-बट के साथ भाजपा को भी रख सकते हैं) बाकी तमाम राजनीतिक दल एक चौकड़ी अथवा लिमिटेड कंपनी बन कर रह गये हैं। कांग्रेस में यदि सोनिया गांधी की तानाशाही है, तो समाजवादी पार्टी में मुलायम सिंह और बसपा में मायावती की। ये तो उदाहरण भर हैं। आप उत्तर-दक्षिण, पूरब-पश्चिम की किसी भी पार्टी का नाम ले सकते हैं और बड़ी आसानी से उसके तानाशाह को पहचान सकते हैं। (वामदलों और भाजपा में थोड़े भिन्न किस्म की तानाशाही चलती है।)

यह बीमारी कैसे और कब शुरू हुई इसका अध्ययन होना अभी बाकी है, लेकिन मोटे तौर पर इसकी शुरुआत कांग्रेस में इंदिरा गांधी के जमाने से हुई लगती है। राजनीति में परिवारवाद की शुरुआत भी कांग्रेस से ही शुरू हुई। आज यह बीमारी भी सभी दलों में व्याप्त हो गयी है।

क्या राजनीतिक दलों के आंतरिक जनतंत्र पर गहराते इस संकट का देश के जनतंत्र से कोई लेना-देना नहीं है? मैं समझता हूं है। जो राजनीतिक दल अपने आंतरिक जनतंत्र को ठीक नहीं रख सकता, वह देश के जनतंत्र को भी ठीक नहीं रख सकता। कमजोर जनतंत्र पर टिके ये राजनीतिक दल देश के जनतंत्र को कमजोर करेंगे ही। यह एक ऐसा खतरा है जिस पर समय रहते विमर्श आवश्यक है।

पचास के दशक में ही कांग्रेस के सदस्यता अभियान में आपाधापी शुरू हो गयी थी। थैलीशाह पार्टी कोष में एकमुश्त भारी रकम जमा करा देते थे। छोटे कार्यकर्ता वोटर लिस्ट से फर्जी सदस्यता का फार्म भर कर पार्टी मुख्यालय में

जमा कराते थे। पार्टी चुनावों में ये कार्यकर्ता थैलीशाहों का समर्थन करते थे। इस तरह थैलीशाह तबके ने धीरे-धीरे राजनेताओं को अपने घेरे में लिया। पार्टी पर धीरे-धीरे साधनसंपन्न तबकों का वर्चस्व बढ़ने लगा। राजनीतिक कार्यकर्ता कमजोर होने लगे। कमजोर होते-होते इनकी स्थिति आज दासों जैसी हो गयी है। यह कहना गलत नहीं होगा कि आज राजनीतिक कार्यकर्ता पूरी राजनीतिक प्रक्रिया का सबसे उदासीन और असहाय पात्र बन कर रह गया है।

जब राजनीतिक दलों में जनतंत्र मजबूत था तब पार्टी की सक्रियता बनी रहती थी। राजनीतिक कार्यकर्ताओं की पूछ होती थी। वे पार्टी के आधार होते थे। वे पढ़ते थे, बहस करते थे और जनसमस्याओं को लेकर संघर्ष करते थे। दल की रीति-नीति बनाने में उनका योगदान होता था। बड़े नेताओं का अपना प्रभाव अवश्य था, लेकिन जब वे कोई बात रखते थे या निर्णय लेते थे तब उनकी चिन्ता यह अवश्य होती थी कि सामान्य कार्यकर्ता इसे किस रूप में लेगा। इसे स्वीकारेगा या नकारेगा।

आज राजनीति में इस लोकलाज की कोई जगह नहीं है। कहीं कोई विचार-बहस नहीं है, संघर्ष नहीं है। दलीय तानाशाह की जय करने में ही पूरी राजनीतिक सक्रियता सिमट गयी है। राजनीतिक कार्यकर्ताओं की जगह चापलूसों की चल बनी है और लगभग सभी पार्टियों के नेता इन चापलूसों से घिरे हैं।

आंतरिक जनतंत्र को कमजोर करने में राजीव गांधी के जमाने में पारित दल बदल कानूनों की भी महती भूमिका रही है। एनडीए शासन काल में इसे और जटिल बनाकर दल के नेता की स्थिति और मजबूत कर दी गयी। सीमित और एकल विरोध का अब कोई मतलब नहीं था। सांसद विधायक ही जब इतने विवश हो गये तब सामान्य कार्यकर्ता की क्या बिसात थी। उनकी स्थिति और बदतर हो गयी।

राजनीतिक कार्यकर्ताओं का हाशिये पर चला जाना एक गंभीर संकट है। बहुत पहले ख्यात् कथाकार फणीश्वरनाथ रेणु ने इसकी ओर ईशारा किया था। उनकी कहानी 'आत्मसाक्षी' का गनपत ऐसा ही एक राजनीतिक कार्यकर्ता है, जो लगभग पैंतीस वर्षों की राजनीतिक सक्रियता के बाद अपनी ही पार्टी के नेताओं द्वारा अपमानित होकर महसूस करता है 'हम गलत रास्ते पर थे।' जर्मन विद्वान लोठार लुट्से ने इस कहानी का जर्मन में अनुवाद किया है और उन्हें यह कहानी इतनी पसंद थी कि जब वे रेणु से मिले और उनका इन्टरव्यू किया तब देर तक केवल इस कहानी पर बात करते रहे। यह 1972 का समय था।

1975 के बदनाम आपात काल से केवल तीन वर्ष पूर्व का समय। (हालांकि कहानी जनवरी 1965 में लिखी गयी है।) रेणु की इस कहानी द्वारा लोठार लुट्से ने आने वाले संकट को पहचाना था। लुट्से का सवाल था– रेणु जी, मैंने आपको बताया कि आपकी इस (आत्मसाक्षी) कहानी का मैंने जर्मन में अनुवाद किया है, जो चार और कहानियों के साथ एक संग्रह में छपेगा। संग्रह का नाम मैंने रखा है 'आजादी की मुश्किलें'। आपकी कहानी का एक अंश मैंने सवाल का आधार इसलिए बनाया कि मुझे लगता है, आपका चरित नायक गनपत मानो एकाएक आजादी की मुश्किलें-बल्कि कह लीजिये आजादी की मुसीबतें पहचान लेता है –बिजली की कौंध की तरह।'

लुट्से ने आगे पूछा– 'क्या आप मेरी बात से सहमत होंगे?' और रेणु का जवाब था– 'हां, मैं आपसे सहमत हूं।'

रेणु और लुट्से आजादी (मैं कहूंगा जनतंत्र) की मुश्किलों से परिचित थे। लेकिन जिन मुश्किलों को उन दोनों ने 1965 और 1972 में देखा था, वे आज कहीं अधिक, कई गुना विकराल और भयावह हैं। कुछ अपवादों के साथ लगभग सभी राजनीतिक दल एक गिरोह के रूप में काम कर रहे हैं, जहां अनुशासन का अर्थ है दलीय तानाशाह की कारगुजारियों पर चुप्पी साधे रहना। सबसे अनुशासित कार्यकर्ता वह है जो सबसे अधिक चुप रहता है और सबसे सफल राजनेता वह जो राजनीति के अलावे बाकी सब काम करता है।

इस पूरे मामले में हस्तक्षेप तो जनता ही कर सकती है, लेकिन ऐसा कहना इसे अमूर्त रूप देना ही कहा जायेगा। वस्तुतः यह कार्य सभी राजनीतिक दलों के कार्यकर्ताओं को करना चाहिए। लेकिन यह भी कहा जायेगा कि क्या अपनी ही पार्टी में हस्तक्षेप करने की स्थिति में राजनीतिक कार्यकर्ता रह गये हैं?

- जनवरी, 2007

अध्याय - 3

बिहार में विकास की राजनीति

आज पूरी दुनिया में विकास की आंधी चल रही है। कभी राष्ट्रवाद और समाजवाद को लेकर भी ऐसी ही आंधी चली थी। विकास की इस आंधी ने राष्ट्रवाद को तो पूरी तरह और समाजवाद को बहुत हद तक अप्रासंगिक बना दिया है। जहां तक भारत की बात है जिस कांग्रेस ने कभी समाजवाद शब्द को भारतीय संविधान में भारतीय गणराज्य के साथ नत्थी कराने में अग्रणी भूमिका निभायी थी उसी ने उसे अप्रासंगिक बनाने में भी अग्रणी भूमिका निभायी है। अब बिहार में समाजवादी तबियत के नीतीश कुमार विकास की राजनीति की प्रस्तावना कर रहे हैं जिसकी एक झांकी पिछले 19-21 जनवरी को पटना में हुए एक ग्लोबल कांफ्रेंस में प्रस्तुत हुई; जिसे एक एनजीओ ने बिहार सरकार के सहयोग से आयोजित किया था और जिसका उद्घाटन भारत के राष्ट्रपति डॉ. कलाम ने किया। राष्ट्रपति डॉ. कलाम विकास की राजनीति के पुराने प्रस्तावक रहे हैं। इसलिए उनका भाषण रश्मी तौर पर दिया गया भाषण नहीं, बल्कि मनोयोग से तैयार किया गया एक दिलचस्प भाषण था। उद्घाटन सत्र, जो पटना कें एक बड़े सभागार में ताम-झाम के साथ आयोजित था, में मुझे भी शामिल होने का अवसर मिला। बिहार में कांग्रेस का जो पहला अधिवेशन हुआ था (1912, बांकीपुर कांग्रेस) उस में भाग लेकर जवाहरलाल नेहरू को जो अनुभूति हुई थी, कुछ-कुछ वैसी ही अनुभूति इस समारोह के बाद मेरी थी। नेहरू ने अपनी आत्मकथा में लिखा है- 'I visited as a delegate, the Bankipore congress during christmas 1912. It was very much an English knowing upper class affair, Where morning coats and well-pressed trousers were greatly in evidence. Essentially it was a social gathering with no

political excitment or tension.(Page-30)' इसमें यदि संशोधन की जरूरत है तो बस 'अपर क्लास' की तरह 'अपर कास्ट' भर की। कुलीन 'बुद्धिजीवियों' की इस खूबसूरत कांफ्रेंस में प्रतिभागियों की रूचि विकास में कम, अपनी धज प्रदर्शित करने में अधिक थी। इस समारोह को ग्लोबल नहीं गोलमाल समारोह कहने वाले लालू प्रसाद ने भी ठीक इसी समय को ब्राह्मणवादी ठीहे पर आत्मसमर्पण के लिए चुना था। इस दौरान वे अपने गांव में शंकराचार्य को बुलाकर उनके चरणों में लोट रहे थे। फुलवरिया में खुला ब्राह्मणवाद था तो पटना में प्रच्छन्न ब्राह्मणवाद। अब बिहार को इनके बीच से आगे या पीछे जाना है।

सवाल उठता है बिहार में विकास का मॉडल क्या हो? मुख्यमंत्री नीतीश कुमार खुद सोचते हैं तो उनके सोच में सामाजिक न्याय का एक पुट होता है। पंचायत चुनावों में अपनी सोच को साकार कर उन्होंने एक क्रांतिकारी कदम उठाया था। महिलाओं और बहुत पिछड़े तबकों को पंचायत चुनावों में आरक्षण सुनिश्चित कर ग्रामीण इलाकों में उन्होंने एक नया नेतृ वर्ग खड़ा किया है। इससे जो हलचल पैदा हुई है वह सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन का कारक बनेगा। लेकिन नीतीश कुमार यदि यह सोचते हैं कि बाहरी निरंकुश निवेश से बिहार में विकास होगा तो वे गलती पर हैं। वास्तविक विकास के लिए ग्रामीण स्तर पर कृषि क्षेत्र में पूंजीवादी रूझानों को बल देना होगा। आजादी के बाद से ही ब्राह्मणवादी-समाजवादी चेतना ने निचले स्तर पर पूंजीवादी रूझानों को हतोत्साहित किया और इसी का नतीजा है गांव और शहर की दूरी बढ़ती गयी। जिन लोगों ने यूरोप में औद्योगिक क्रांति के इतिहास का अध्ययन किया है वे यह भी जानते हैं कि किन लोगों ने वहां इसे विकसित किया था। पूंजीवाद एक अवस्था में प्रगतिशील कदम होता है क्योंकि यह सामंतवादी रूझानों को खत्म करता है। (फ्रांसीसी लेखक बॉल्जाक की रचनाओं को देखें। मार्क्स ने इसे रेखांकित किया है।) हमारे मुल्क में आयातित समाजवाद ने अपनी लड़ाई पूंजीवाद से शुरू की। (दरअसल समाजवाद पूंजीवाद से ही संघर्ष करता है।) इसका प्रतिफल हुआ कि एक तरफ तो समाज के सामंतवादी रूझान साबूत रह गये दूसरी तरफ ऊंची जातियों के प्रभुत्व वाले लोकतंत्र ने जिस समाजवाद को लाया वह ब्राह्मण-समाजवाद बन कर रह गया। उदाहरण के लिए भारतीय कॉरपोरेट सेक्टर में ऊंची जातियों, खासकर ब्राह्मणों के प्रभुत्व को देखें। यह सरकारी प्रयासों से हुआ है। (विस्तृत अध्ययन के लिए गेल ऑम्वेट का लेख 'रिजर्वेशन इन प्राइवेट सेक्टर' द हिन्दू 31 मई-1 जून 2001)

अब विकास के इस दौर में देखना होगा कि निचले तबकों को लेकर हम विकास का कैसा खाका बनायें जिससे वास्तविक विकास हो सके। शायद इसे ही नीतीश कुमार न्याय के साथ विकास कहते हैं। इसके लिए पूंजी से अधिक ज्ञान और समर्पण की जरूरत है। फ्रांसीसी लेखक-चिन्तक गाइ सोमां इसे बेयरफुट कैप्टिलिज्म (नंगे पांव पूंजीवाद) कहते हैं। यह बेयरफुट कैप्टिलिज्म विकास का आधार बनेगा तभी सामाजिक न्याय भी संभव होगा। (मार्च अंक में इस विषय पर गाई सोमां का लेख देखेंगे) 19-21 जनवरी को संपन्न ग्लोबल मीट पिछड़े बिहार को विकास की ओर नहीं, एक नयी राजनीतिक गुलामी की ओर ले जायेगा जो अंततः एक जटिल सामाजिक गुलामी को भी जन्म देगा और जिससे जूझने में समानता और आजादी के सिपाहियों को दशकों का समय लग जायेगा।

मुख्यमंत्री नीतीश कुमार शिक्षा, प्राथमिक स्वास्थ्य और आधारभूत ढांचे की मजबूती के लिए रात-दिन परिश्रम कर रहे हैं। हर सभा-समारोह में लाठी फेंकने और कलम-कागज पकड़ने की बात कहते हैं। बिहारियों की लगनशीलता और काबलियत पर वे इतराते भी हैं। इस मानव संसाधन को उन्होंने अपनी पूंजी माना है। जाति और संप्रदाय से बाहर आकर वे बिहारीपन की, इसके स्वाभिमान की बात करते हैं। दरअसल यही वह महत्वपूर्ण कार्य है जिससे निचले स्तर से पूंजीवादी रूझान विकसित होंगे। इसी आधार पर सम्यक विकास की रूप रेखा बन सकेगी। यही वास्तविक सामाजिक न्याय भी है। जैसा कि राष्ट्रपति कलाम ने भी 2015 तक पूर्ण साक्षरता और पूर्ण गरीबी उन्मूलन की बात की है। इसे हर हाल में हासिल करना होगा। लेकिन प्रवासी निवेशकों की रूचि साक्षरता और गरीबी उन्मूलन में नहीं है। उनकी रूचि औन-पौन दाम में जमीन हासिल करने और येन-केन अपनी झोली भरने में है। किसी भी विकास पुरुष के लिए ऐसे लोगों से सावधान रहना ही श्रेयस्कर होगा।

- फरवरी, 2007

अध्याय - 4

माओवाद, हिंसा की राजनीति और सामाजिक परिवर्तन के सवाल

बंगाल के नक्सलबाड़ी जिले में वसंत के वज्रनाद के चालीस साल होने जा रहे हैं। तब से इस धारा ने अनेक मोड़ लिये हैं और आज भी एक नये रूप में यह समग्र राजनीति को प्रभावित कर रहा है। बगल के देश नेपाल में माओवादियों का क्रूर दमन किया गया परंतु आखिर में वहां की राणाशाही ही पराजित हुई। अभी भी बिहार सहित देश के कई हिस्सों में नक्सलवादी राजनीति के आधार क्षेत्र बने हुए हैं। सरकार इसे विधि-व्यवस्था की बड़ी समस्या मानती है और इसे उग्रवाद बतला कर बलपूर्वक कुचलना चाहती है।

नक्सलवाद मार्क्सवाद की वह पाठशाला है जहां मार्क्स और लेनिन के अलावे माओ के विचारों का प्रभाव है। इससे जुड़े राजनैतिक कार्यकर्ता तो माओवाद को ही सब कुछ मानते हैं। विनोद मिश्र के नेतृत्व वाले लिबरेशन पर माओवाद का प्रभाव न के बराबर था, लेकिन यह गुट अब लगभग पूरी तरह प्रभावहीन हो गया है। माओवादी ताकतें ही ज्यादा प्रभावशाली हैं। माओ का प्रसिद्ध नारा था राजसत्ता बंदूक की नली से निकलती है।

माओ च तुंग (26 दिसंबर, 1893 - 9 सितंबर, 1976) के करिश्माई व्यक्तित्व से मैं आज भी प्रभावित हूं। जिन लोगों ने एडगर स्नो की किताब 'रेड स्टार ओवर चाइना' पढ़ी है, वे उसके व्यक्तित्व के प्रति उदासीन नहीं रह सकते। चुड. वनश्येन द्वारा लिखित माओ के जीवन चरित से मैं जब गुजर रहा था तब एक जगह आकर ठहर गया। चुड. वनश्येन ने समापन के पहले लिखा है-'माओ चतुंड. ने अपनी जीवनसंध्या में अनेक गलतियां कीं, लेकिन चीनी क्रांति के लिए उन्होंने जो अमिट महान योगदान किए, उनके लिए चीनी जनता माओ चतुंड. का अब भी हृदय से सम्मान करती है और उनको दिल से याद करती है।' वनश्येन का यह जीवन चरित किसी अमेरिकी प्रकाशन गृह ने नहीं,

चीन के सरकारी प्रकाशन गृह ने प्रकाशित किया है। इसलिए इसे पढ़कर मुझे आश्चर्य नहीं हुआ कि क्यों माओ को आज अपने ही देश में भुला दिया गया है। उनकी स्थिति चीन में लगभग वैसी ही है जैसी अपने देश में गांधी की। वे आदरणीय हैं, अनुकरणीय नहीं। यही कारण है कि चीन माओ के चित्र और सितारेदार लाल झंडे के नेतृत्व में अमेरिकी पूंजीवाद को टक्कर दे रहा है। चीन ने 'समाजवादी' छतरी के नीचे अपना ही पूंजीवाद विकसित किया है। लेकिन माओ और गांधी की इज्जत बनी रहेगी, रहनी चाहिए। माओ की मुश्किलें गांधी से कहीं ज्यादा इसलिए थीं कि उन्होंने आरंभ से ही मार्क्सवादी विज्ञान का सहारा लिया। गांधी की तरह रामनामी ओढ़ कर उनका काम आसान हो सकता था। माओ का राष्ट्रीय आंदोलन साम्राज्यवाद के उतना खिलाफ नहीं था, जितना गांधी का आंदोलन। इसलिए माओ ने गरीब-गुरबों, किसानों और मजदूरों को इकट्ठा किया। गांधी की तरह वह बुर्जुआ तबके के उदार नेता नहीं, बल्कि पिछड़े किसानों के क्रांतिकारी नेता थे। गांधी की तरह वह पंचमेल की राजनीति नहीं कर रहे थे, जहां परस्पर विरोधी विचार शक्तियों और व्यक्तियों का जमावड़ा हो शायद यही कारण था कि गांधी की अपेक्षा उनके अंतरविरोध कम थे।

माओ ने साठ के दशक में सांस्कृतिक क्रांति का नेतृत्व किया था। संस्कृति को शायद वह अविच्छिन्न प्रवाह नहीं समझते थे। चीन में बौद्ध मत प्रभावशाली है और लगभग अस्सी फीसदी चीनियों का संस्कार बौद्ध है। बुद्ध मत का मूल प्रतीत्यसमुत्पाद है जो जीवन और जगत के अविच्छिन्न प्रवाह को मानता है– यह परिवर्तनवाद है। माओ ने संस्कृति में क्रांति करनी चाही-आमूल परिवर्तन। पुराने का संपूर्ण निषेध और बिल्कुल नये की स्थापना। माओ इसमें विफल हुए, बदनाम भी। तब से वे लगातार अप्रासंगिक होते गये, अपने ही समाज और देश में।

लेकिन उनकी जो छवि बीसवीं सदी के तीस, चालीस और पचास के दशक में थी, वह हमारे देश के कुछ समर्पित और ईमानदार युवा मित्रों को प्रभावित कर रहा है। और इसका कारण शायद यह है कि हमारे देश के देहाती इलाकों में आज भी स्थिति वैसी ही है जैसी बीसवीं सदी के मध्य में चीन के देहाती इलाकों की थी।

हममें से हर कोई यह स्वीकारेगा कि देश की मुख्यधारा में गांव के लोग नहीं आये हैं। गांव और शहर की दूरी बढ़ रही है। भूमि सुधारों और हरित क्रांति के अभाव ने गांवों को गलीज बना दिया है। कृषि पर इतना जन भार उठाने की क्षमता नहीं है। चालीस प्रतिशत अतिरिक्त आबादी का बोझ यह सेक्टर उठाये

हुए है। सामंतवाद-ब्राह्मणवाद का खाज अलग से है।

ऐसे में यह समझाना मुश्किल है कि हिंसा समस्या का समाधान नहीं है। संसदीय राजनीति में जो लक्षण उभरे हैं वे इतने गैर जिम्मेदार हैं कि इससे गांवों में रह रहे निष्ठावान नौजवानों को बस कोफ्त होती है। शासक दल एक तरफ सवर्ण गुंडों व चापलूसों को राजनीतिक ओहदों का तगमा पहना कर लाल बत्ती वाली गाड़ियों पर घुमायेगा और दूसरी तरफ इज्जत व रोटी की लड़ाई लड़ने वाले नौजवानों को यातनायें देगा, तो आक्रोश फूटेगा ही।

पिछले दिनों मैं गया के पास एक गांव में था तो ग्रामीणों ने मिलकर बतलाया कि जब पुलिस को हम गरीबों को सताना होता है तब हम पर माओवादी हाने का आरोप लगाती है। जिन पुस्तकों, परचों और असलहों को हमलोगों ने कभी नहीं देखा, उन्हें हमारे घर से बरामद बता कर हमारे घर के नौजवानों को सीखचों के भीतर करती है। हमारी बहू-बेटियों के साथ अभद्र व्यवहार और कभी-कभी बलात्कार तक करती है। हम जब इसके खिलाफ आवाज उठाते हैं तब नक्सलवादी-माओवादी बतला कर हम पर गोली बरसाती है। सरकारी और सामंती हिंसा का मुकाबला हम कैसे करें, यह उनका आखिरी सवाल होता है। थोड़ी आत्मीयता दिखलाने पर वे और खुलते हैं। निर्गुण की जगह सगुण भाषा में बतियाने लगते हैं। उनका कहना होता है कि वे पिछड़ी व दलित जातियों से आते हैं, जबकि पुलिस और उसके अधिकारी ज्यादातर ऊंची जातियों से ताल्लुक रखते हैं।

अन्य राज्यों की पुलिस को मैं उतना नहीं जानता, लेकिन बिहार पुलिस पर सवर्ण वर्चस्व बहुत साफ दिखता है। विधि-व्यवस्था को ठीक करने के नाम पर हर बार कुछ पिछड़े-दलित नौजवानों की बलि दी जाती है। अपराधी कोई खास जाति समूह में ही नहीं होते, लगभग हर में होते हैं, लेकिन बिहार के जेलों का सर्वेक्षण करके कोई देख ले, वहां पिछड़ी दलित जातियों के कैदी नब्बे फीसदी मिलेंगे। इसका कारण यह नहीं है कि वे अपराध ही इस मात्रा में करते हैं। दरअसल वे जटिल और खर्चीली न्यायिक व्यवस्था के चक्रव्यूह से बाहर नहीं आते। ऊंची जातियों के लोग जिन मामलों में आसानी से अग्रिम जमानत पा जाते हैं, उन्हीं मामलों में पिछड़ी जातियों के लोग बरसों की 'सजा' भुगतते हैं।

पिछले महीने बिहार पुलिस की बांछें अचानक खिल गयीं। उसने माओवादी नेता अजय को गिरफ्तार कर लिया। अजय पर 13 नवंबर 2005 को जेल ब्रेक का भी आरोप है। इस प्रकरण में पुलिस का सवर्णवादी रूख इतना साफ आया, लेकिन मीडिया ने भी इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। पुलिस ने अजय का नाम

बतलाया अजय कानू। मीडिया ने भी इसे ही प्रकाशित किया। 'कानू' बिहारी समाज की एक अति पिछड़ी जाति है जिससे अजय आते होंगे। निश्चित रूप से उनका यह सरनेम नहीं होगा। उनके नाम के साथ जुड़ा होगा कुमार या प्रसाद। लेकिन पुलिस को दिखाना होता है उसकी जाति-कि देखो ये नीच-पतित लोग क्या-क्या करते रहते हैं। बिहार पुलिस तथाकथित निम्नजाति के अपराधियों के नाम के साथ उनका जातिनाम जोड़ना कभी नहीं भूलती, लेकिन ऐसा ही ऊंची जाति के अपराधियों के साथ नहीं करती। मीडिया भी उसका अनुसरण करता है।

अजय (कानू) मामले में मैंने एक बड़े अधिकारी से जब पूछा कि उस पर मामला क्या है कि उसे इतनी कठोर यातना दी जा रही है तब उसने बतलाया कि अन्य अपराधों के साथ उस पर जेल ब्रेक का अपराध है। मेरे यह कहने पर कि वही अपराध न जिसे जयप्रकाश नारायण ने 8 नवंबर 1942 को किया था, वह अधिकारी बगलें झांकने लगा। यह हमारे व्यक्तित्व का एक अजीब विरोधाभास है जिस पर हम गौर नहीं करना चाहते। हम नारों, आप्तवाक्यों और सुभाषितों में जिस तरह खुद को व्यक्त करते हैं, उस तरह बनना नहीं चाहते। वर्तमान बिहार के मुख्यमंत्री और उपमुख्यमंत्री दोनों जयप्रकाश आंदोलन की राजनीतिक कोख से निकले हैं। इस आंदोलन का एक प्रभावशाली नारा था- 'जेल का फाटक टूटेगा, भाई हमारा छूटेगा'। जैसा कि मैंने ऊपर बतलाया कि जे.पी के जीवन का भी सबसे बहादुर कारनामा जेल से भागना ही था। जे.पी या भगत सिंह की राजनीति थी, तो अजय की भी राजनीति है। एक सभ्य समाज के नागरिक के नाते हम इस विषय पर विवेक और संवेदना के साथ विचार क्यों नहीं करते?

तथाकथित माओवादी उग्रवाद का इलाज पुलिसिया दमन से होता है तो हम इसका विरोध करना चाहेंगे। माओवादियों की हिंसा का हम समर्थन नहीं करते, लेकिन वे दलित-पिछड़े तबकों के लिए संघर्ष कर रहे हैं, इसे हम जानते हैं। भगत सिंह का लाला लाजपत राय की राजनीति से मतलब नहीं था। लाजपत राय हिन्दू सभायी थे, लेकिन उन्होंने लाठियां देश की खातिर खायी थीं, इसलिए उनकी बर्बर पिटायी से भगत सिंह इतने मर्माहत हुए कि उन्होंने ब्रिटिश पुलिस अधिकारी सैण्डर्स की हत्या का फैसला किया। अजय सहित तमाम माओवादी मित्रों को हम इस आशा के साथ सलाम करते हैं कि वे सामाजिक परिवर्तन के लिए हिंसा की राजनीति का परित्याग करेंगे।

- मार्च, 2007

अध्याय - 5

सामाजिक न्याय का महायान

मैं समझता हूं, महायान से भारत के पढ़-लिखे लोग सुपरिचित हैं। बौद्धदर्शन के विकासक्रम में वहां हीनयान और महायान नाम से दो संप्रदाय विकसित हुए। 'यान' का मतलब गाड़ी या छकड़ा होता है—जैसे वायुयान। हीनयान मतलब छोटी गाड़ी और महायान मतलब बड़ी गाड़ी।

बौद्धों के बीच से महायान का विकास अंततः उनके विनाश का कारण बना। यह समाज के ऊंचे तबके का दर्शन-विलास था। वैचारिक रूप से ये महायानी वर्णाश्रम धर्म के विरोधी थे, किन्तु ये स्वयं समाज के अनुत्पादक तबके से आते थे। उनकी वैचारिकता धीरे-धीरे अनुत्पादक तबके के अनुकूल होती गयी, बुद्ध के प्रतीत्य समुत्पाद से अनत्यिवाद और अनात्मवाद के जो स्वर फूटते थे, उसे महायानी शून्यवाद तक ले आये। वह शून्यवाद तर्क के रूप में तो खूब कसा हुआ था, लेकिन बौद्ध दर्शन की परिवर्तनकारी चेतना को कुंद करने वाला भी था। इसी शून्यवाद को शंकर ने अद्वैत वेदान्त अथवा मायावाद में परिवर्तित कर मूल बौद्ध दर्शन पर हमला बोल दिया और वेदांत के रूप में फिर से ब्राह्मण धर्म का वर्चस्व स्थापित कर दिया। शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध इसीलिए कहा जाता है। बौद्ध दर्शन पर हमला और उस पर वर्चस्व कोई शाब्दिक या दार्शनिक संग्राम भर नहीं था। इसका नतीजा बौद्धों के कत्लेआम के रूप में सामने आया था।

महायान के उलट बौद्धों के बीच जो हीनयान था उसका संबंध समाज के उत्पादक तबके से ज्यादा था, शंकर ने नेतृत्व में बौद्ध विरोधी जो मुहिम चली उसके कारण इनका नेतृ वर्ग या तो देश छोड़कर बाहर चला गया या मारा गया। महायानियों ने खुद को वर्णाश्रम धर्म में शामिल कर लिया। बचे हीनयानी औघर पंथ में तब्दील हो गये। इनके अनुयायियों ने वर्णाश्रम धर्म में शामिल

होने से इनकार कर दिया और प्रतिक्रिया स्वरूप इस्लाम की शरण में चले गये।

लब्बोलुबाब यह कि महायान के विस्तार ने अंततः बौद्धों को विनाश के रास्ते पर धकेल दिया और वे विनष्ट हो गये। किसी भी पंथ या आंदोलन का महायान उसे विनष्ट करने के लिए ही विकसित होता है।

दुःखद यह है कि इन दिनों सामाजिक न्याय के आंदोलन के बीच से भी एक महायान विकसित होता नजर आ रहा है। कुछ नेता अपना सहजयान पहले ही विकसित कर चुके हैं। इन दोनों अतियों से सामाजिक न्याय के मुख्य संघर्ष को क्षति हुई है। यही कारण है कि सामाजिक न्याय को लेकर सामाजिक या राजनीतिक क्षेत्र में आज कोई गंभीर विमर्श नहीं चल रहा है।

हिन्दी क्षेत्र में सामाजिक न्याय का संघर्ष पहले से ही कमजोर था। इसके कारणों पर विमर्श होना अभी बाकी है। (बुद्ध और कबीर की कर्मभूमि पर आधुनिक जमाने में किसी फुले या आंबेडकर जैसे व्यक्तित्व का न उभरना भी हैरानी की बात है।) राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान छिटपुट संघर्ष की ही सूचनायें मिलती हैं—जैसे बिहार में त्रिवेणी संघ का मामूली-सा संघर्ष। अंगरेजी राज के बाद के दिनों में डॉ. राममनोहर लोहिया के नेतृत्व में भी एक संघर्ष की शुरुआत हुई, जिसमें बड़े पैमाने पर लोग जुड़े। लेकिन स्वयं लोहिया का व्यक्तित्व इतना विरोधाभासी था कि आज यह समझना कठिन है कि वह चाहते क्या थे। अपनी राजनीति को पुख्ता करने के लिए उन्होंने 'पिछड़ा पावे सौ में साठ' का नारा देकर पिछड़े तबकों से अपनी पार्टी के लिए पर्याप्त समर्थन तो जुटाया, लेकिन ब्राह्मणवादी चिंतन परंपरा पर कोई व्यवस्थित हमला नहीं किया। इसके उलट हिन्दू पौराणिकता के मुख्य पात्रों राम, कृष्ण, शिव आदि की 'आधुनिक' व्याख्यायें कर उस ब्राह्मणवादी हिन्दुत्व के लिए पिछड़े वर्गों में एक अनुकूलता बनायी जिसके आधार पर वे जनसंघ और कालांतर में भाजपा के साथ जुगलबंदी कर सकें।

लोहिया ने जो समझ विकसित की थी उसके बूते सरकार तो बनायी जा सकती थी कोई आंदोलन विकसित नहीं किया जा सकता था। उनकी मृत्यु के बाद रामस्वरूप वर्मा और जगदेव प्रसाद जैसे नेताओं ने लोहियावादी घेरे को तोड़ा और फुले-आंबेडकरवाद की ओर हाथ बढ़ाने की कोशिश की। यदि आखिरी दिनों में दिये गये कुछ भाषणों को आधार बनाया जाए तो कहा जा सकता है कि कर्पूरी ठाकुर का मोह भी पूरी तरह टूट चुका था। लेकिन इनके अनुयायियों का मोह नहीं टूटा। गांधीवाद लोहियावाद की जकड़न से वे मुक्त नहीं हो सके। एक सुसंगत विचारधारा के अभाव में उन्होंने आरक्षण को ही

सामाजिक न्याय का केन्द्रक मान लिया। बिहार और यू.पी. में इनकी सरकारें बनीं, लेकिन ये कुछ खास कर नहीं सके।

आज सुप्रीम कोर्ट के एक निर्णय से ओ.बी.सी. के लोग बौखलाये हैं। उनके विरोधी होली खेल रहे हैं, मिठाइयां बांट रहे हैं। ओ.बी.सी. के लोहियावादी नेताओं का स्वर भाजपा-कांग्रेस के सवर्ण नेताओं के स्वर से एकरस हो गया है। सभी एक स्वर में सर्वदलीय बैठक की मांग कर रहे हैं। यह बैठक होगी भी और आरक्षण भी बहाल हो जायेगा (बुद्ध को भी दसावतारों में अंततः शामिल कर ही लिया गया था।) लेकिन चेतना के स्तर पर ओ.बी.सी का स्वत्व हर लिया जायेगा।

हमारी चिंता यहां से शुरू होती है।

- अप्रैल, 2007

अध्याय - 6

बुद्ध, मार्क्स और आज की दुनिया

मई महीने के पूरे चांद का दिन गौतम बुद्ध का जन्म दिन है और 5 मई कार्ल मार्क्स का। इसलिए इस बार जब लिखने बैठा तब इन दोनों का स्मरण स्वाभाविक था। इन दोनों के विचारों ने हमारी पीढ़ी और समय को प्रभावित किया था। पूरी बीसवीं सदी मुख्य तौर से मार्क्सवादी और मार्क्सवाद विरोधी खेमों में बंटी रही। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद पूरी दुनिया को बुद्ध ने भी अपने अंदाज में प्रभावित किया।

कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र जब मैंने पहली दफा पढ़ा था तब हाई स्कूल में था। इस पुस्तिका की अधिकांश बातें हमारे सिर के ऊपर से निकल गयी थीं, फिर भी बहुत कुछ ऐसा था, जिसने सम्मोहित किया था। हमारी पीढ़ी घर में पिता और बाहर में परमपिता से डरने वाली पीढ़ी थी। तमाम नैतिकतायें हमें इनका पालतू होना सिखलाती थीं। इस घोषणा-पत्र के द्वारा हमने वर्ग-संघर्ष, पूंजी, सर्वहारा जैसे कुछ नये शब्द और परिवार, राष्ट्र व आजादी के नये अर्थ पाये थे। 'कम्युनिस्ट क्रांति के भय से शासक वर्ग कांपते हैं तो कांपे! सर्वहारा के पास खोने के लिए अपनी बेड़ियों के सिवा कुछ नहीं है और जीतने के लिए उनके पास सारी दुनिया है' जैसे ओजपूर्ण समापन ने हमारे संस्कारों की चूलें हिला दी थीं। वास्तविक आजादी संस्कारों की आजादी होती है। कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र ने हमें आजादी का नया अर्थ दिया था। गांव में बैठ कर हम दुनिया की आजादी का स्वप्न देखते थे। इस आजादी की तलाश में हम साहित्य, राजनीति, इतिहास और विज्ञान के पृष्ठ-दर-पृष्ठ पलटते थे। कभी गोर्की और चेखब मिलते थे, कभी माओ और फिदेल कास्त्रो। इसी क्रम में जब हमने इतिहास में प्रवेश किया तब गौतम बुद्ध से मुलाकात हुई। बुद्ध और मार्क्स में हमने अद्भुत साम्य पाया।

मार्क्स वाया शॉपेनहावर बुद्ध के नाम से तो परिचित थे, उनकी विचारधारा से नहीं। हालांकि मार्क्स ने जर्मन दर्शनशास्त्र में ही अपनी जड़ें तलाशी हैं, और हीगेल के दर्शन को ही पैर के बल खड़ा किया है, लेकिन दर्शनशास्त्र का कोई विद्यार्थी कह सकता है कि हीगेल कि अपेक्षा बुद्ध मार्क्स के ज्यादा करीब हैं।

बुद्ध के गुजरे ढ़ाई हजार साल हुए और मार्क्स के गुजरे कोई सवा सौ साल। आज बहुत सी स्थितियां बदली हैं। अनेक आविष्कारों और अर्थशास्त्र व राजनीति के क्षेत्र में नये प्रयोगों ने हमें नये तरीके से सोचने के लिए विवश किया है। आज न बुद्ध का जमाना है, न मार्क्स का। इसलिए आज हम यदि बुद्ध और मार्क्स को हू-ब-हू वैसे ही अंगीकार करना चाहें जैसे वे अपने जमाने में थे, तो हम अजायबघर की सामग्री बन जायेंगे। लेकिन उन दोनों के अध्ययन का अभाव हमारी विचार प्रणाली को कमजोर करेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है।

हमारे देश में बुद्ध और मार्क्स से लोग बीसवीं सदी के आरंभ में परिचित हुए। मार्क्स से बीसवीं सदी के आरंभ में परिचित होने की बात तो समझ में आती है क्योंकि उनका निधन 1883 में हुआ और वे जर्मन थे, किन्तु बुद्ध तो हमारे ही देश के थे और कोई हजार वर्ष तक उनके धर्म की धूम हमारे देश में रही थी। यह अजीब बात है कि वर्णाश्रम धर्म वालों ने बुद्ध का निर्वासन इस तरह किया था कि वे पुनः विदेशियों के द्वारा ही हमारे बीच आ सके। एडविन अर्नाल्ड के काव्य 'लाइट ऑफ एशिया' के द्वारा उन्नीसवीं सदी के आखिर में हमारे भद्रलोक को बुद्ध की जानकारी मिली। बीसवीं सदी के आरंभ में पुरातात्विक खुदाइयों से जब मोहनजोदड़ो, हड़प्पा की खुदाई हुई तो आर्य श्रेष्ठता का दंभ ढीला पड़ा, क्योंकि पता चला कि आर्य संस्कृति से पूर्व ही यहां उससे कहीं श्रेष्ठ सभ्यता-संस्कृति मौजूद थी। कुम्हरार, नालंदा, विक्रमशिला आदि की खुदाई के बाद लोगों को अशोक और बुद्ध के बारे में विस्तार से जानकारी मिली।

कभी-कभी सोचता हूं कि जोतिबा फुले को यदि बुद्ध की जानकारी मिल गयी होती तो क्या होता। फुले भारत के दलितों के लिए इतिहास ढूंढते पौराणिक कथाओं में पहुंचे और बलि राजा को अपना नायक बनाया। भारत के लिपिबद्ध इतिहास में उनके लिए कुछ नहीं था। उन्हें अपने लिए एक गॉड की जरूरत थी, निर्मिक नाम से उन्होंने अपना भगवान गढ़ा। फुले को यदि संपूर्णता के साथ बुद्ध और बौद्ध इतिहास की जानकारी होती तो अपनी वैचारिकी को वे अपेक्षाकृत ज्यादा विवेकपूर्ण बनाते और तब संभवतः आधुनिक भारत के इतिहास का चेहरा जरा भिन्न होता। फुले रेगिस्तान के प्यासे हिरण की तरह

बहुत भटकते रहे। वे समानता के आग्रही थे। ब्राह्मणवाद से वे मुक्ति चाहते थे। हिन्दू वर्णधर्म का खात्मा चाहते थे। किसानों और शूद्रों का राज चाहते थे। अपनी चेतना से जितना हो सका उन्होंने किया। आंबेडकर को बुद्ध और मार्क्स दोनों उपलब्ध थे, उन्होंने दोनों का उपयोग भी किया। इसलिए वैचारिक रूप से वे ज्यादा दुरुस्त और संतुलित हैं।

आज यह कहना मुश्किल है कि बुद्ध और मार्क्स हमारे समय को कितना प्रभावित कर रहे हैं। कुछ सामाजिक दार्शनिक विचारहीनता के दौर की बात करते हैं। लेकिन जिसे लोग विचारहीनता कहते हैं, वह भी अपने आप में एक विचार है। पुराने जमाने के चार्वाक की बातों को लें तो कमोबेश ऐसी ही विचारहीनता अथवा सभी मान्य विचारों के निषेध की बात वह भी करते थे। आज कहीं-न-कहीं चार्वाकवाद के प्रभाव में हमारा जमाना आ चुका है। कम से कम ऋण लेकर घी पीने की उनकी सलाह (ऋण संस्कृति) तो हमारे समय का सबसे बड़ा विचार बन गया है। लेकिन हमें याद रखना चाहिए कि चार्वाकवादियों ने वेद और ईश्वर का चाहे जितना निषेध किया हो सामाजिक परिर्वतन के लिए कुछ नहीं किया। वर्ण धर्म पर वे चुप थे। इसीलिए कुछ मुकम्मल मार्क्सवादी मित्र जब भारतीय दर्शन में लोकायत और चार्वाक से अपनी नजदीकी तलाशते हैं तो मुझे एतराज होता है।

मार्क्स ने बहुत सी बातें की हैं लेकिन उनकी बात जो आज भी हमें उत्साहित करती है वह यह कि अब तक के दार्शनिकों ने विभिन्न तरह से विश्व के स्वरूप की व्याख्या की है, लेकिन सवाल यह है कि इसे (विश्व समाज को) बदला कैसे जाय।

बुद्ध और मार्क्स यहां एक साथ नजर आते हैं।

- मई, 2007

अध्याय – 7

उत्तर प्रदेश के चुनावी नतीजे

उत्तर प्रदेश के विधान सभा चुनाव परिणामों ने चुनाव विश्लेषकों और घरघुस्से बुद्धिजीवियों को चौंकाया है, मायावती के नेतृत्व में दिवंगत कांशीराम के संकल्पों व सपनों की पार्टी, बहुजन समाज पार्टी ने सुस्पष्ट बहुमत लाकर छोटा-मोटा करिश्मा ही कर दिखाया है।

इस चुनाव में बसपा की एक विशेषता थी कि अपने धुर विरोधी ब्राह्मणों को 86 क्षेत्रों के टिकट दिये। इसके अलावे अन्य उच्चवर्णीय भी बड़ी संख्या में प्रत्याशी बनाये गये थे। अपनी इस 'उदारता' की शेखी मायावती अपने चुनाव भाषणों में बघार भी रही थीं। चुनाव विश्लेषकों और पारखी पत्रकारों ने इसके बावजूद किसी को स्पष्ट बहुमत नहीं दिया था। कुछ तो 2005 में बिहार की तरह दुबारा चुनाव की भविष्यवाणी भी कर रहे थे। लेकिन जैसे ही चुनावों के नतीजे आये, पूरे आर्यावर्तीय (उत्तर भारतीय) ब्राह्मण मीडिया ने एक स्वर से जयघोष मचाया कि उत्तर प्रदेश में मायावती की जीत ब्राह्मणों के कारण हुई है। कहने का तेवर यह था कि भला ब्राह्मण किसी के साथ हो जावें और वह चुनाव न जीते, यह कैसे हो सकता है! हिन्दी प्रदेशों के लोहियावादी ओबीसी नेतागण जो सबसे ज्यादा अनपढ़ और गाबदू हैं, ब्राह्मण मीडीया पर सबसे ज्यादा एतबार करते हैं। किसी ने आगे बढ़कर चुनाव नतीजों के विश्लेषण की जहमत नहीं उठायी। शायद विमर्श की कुव्वत इनके पास बची भी नहीं है।

मायावती की इस जीत का हमें विश्लेषण करना चाहिए। यह सूचना है कि मायावती ने जिन 86 ब्राह्मणों को टिकट दिये उसमें से कोई 51 जीते। इसके अलावे अपर कास्ट के लोग भी जीते। इसका मतलब है बसपा के कुल 208 विधायकों में ब्राह्मण और उच्च जातीय विधायकों की संख्या अच्छी-खासी है। लेकिन क्या इसी अनुपात में ब्राह्मण और अन्य अपरकास्ट वोट भी बसपा को

मिले हैं? जवाब होगा नहीं। सीएसडीएस की रिपोर्ट के मुताबिक ब्राह्मणों के सबसे ज्यादा वोट (48 प्रतिशत) भाजपा को मिले। इसके बाद दूसरे नंबर पर कांग्रेस है, जिसे 20 प्रतिशत ब्राह्मण वोट मिले। बसपा को केवल 12 प्रतिशत ब्राह्मण वोट मिले, और ये शायद वे वोट हैं जो उनके ब्राह्मण उम्मीदवारों को मिले। बसपा के दलित-ओबीसी उम्मीदवारों को ब्राह्मण वोट बिल्कुल नहीं मिले। ब्राह्मण बसपा उम्मीदवारों को मिले भी तो तीसरी पसंद के वोट। इसलिए यह कहना कि ब्राह्मण मतदाताओं की मानसिकता में कोई बड़ा परिवर्तन आया, बचपना है। हां, बसपा के ब्राह्मण उम्मीदवारों को बसपा समर्थक दलित-ओबीसी मतदाताओं ने मतदान करने में पूरी उदारता दिखलायी, उन्होंने दिल खोलकर मतदान किया। इसलिए यूपी चुनाव नतीजों की वास्तविकता यह है कि दलित-ओबीसी मतदाताओं ने बड़ी संख्या में ब्राह्मण-अपर कास्ट उम्मीदवारों को जिताया। हां, मायावती की होशियारी यह रही कि इन ब्राह्मण-अपर कास्ट बहुल क्षेत्रों में द्विज वोटों को दो-तीन हिस्सों में तोड़कर अपने लिए भी थोड़ा सा वोट (12 प्रतिशत) हासिल कर लिया और इस वोट को अपने दलित-ओबीसी वोट से बलवती कर विजयश्री तक पहुंचा दिया। इन स्थानों पर दलित-ओबीसी उम्मीदवार देने से भाजपा को फायदा हो जाता। क्योंकि द्विज वोटों का बंटवारा नहीं हो पाता। इतनी बड़ी संख्या में ब्राह्मण-अपर कास्ट उम्मीदवार घोषित कर उन्होंने बाकी क्षेत्रों के ब्राह्मण-अपर कास्ट मतदाताओं के विरोध धार को भी थोड़ा ही सही कमजोर किया। यानि बाकी क्षेत्रों में बसपा उम्मीदवार ब्राह्मणों के वोट से वंचित जरूर रहे, उनके कोपभाजन बनने से बचे। कोपभाजन बनने पर उनके वोट इकट्ठे ऐसे उम्मीदवार को मिलते जो बसपा को हरा सके। इसके बिना पर ब्राह्मण-अपरकास्ट वोटों का भाजपा-कांग्रेस व अन्य में बंटवारा हुआ और इसका फायदा बसपा को मिला। निष्कर्ष यह कि उत्तर प्रदेश में बसपा की जीत ब्राह्मणों की होशियारी या उनकी जीत नहीं, मायावती का चुनाव कौशल है। भले ही इसमें उनकी अवचेतन शक्ति काम कर रही हो।

मायावती ने ब्राह्मणों और अपरकास्ट को कोई पहली दफा दिल खोल कर टिकट नहीं दिया है। 2002 के विस चुनाव में भी उन्होंने ऐसा किया था और वे बड़ी संख्या में जीतकर आये भी थे। इनमें से अधिकांश बाद में पार्टी छोड़कर चले गये। क्योंकि उनकी रूचि बसपा के फलसफे में नहीं, सत्ता की भागीदारी में थी। इस बार उन्हें यह भागीदारी मायावती सरकार में ही मिल गयी। यदि मायावती सरकार बनाने में विफल रहतीं तो उनकी स्थिरता पर एक बार फिर

संदेह किया जा सकता था।

लेकिन मुख्य सवाल यह है कि मायावती अब क्या करती हैं। दलितों और ब्राह्मणों का इस तरह इकट्ठे होना सांप-नेवले जैसा युद्ध भी करा सकता है या फिर एक दूसरे को संस्कारित करने-कराने का लंबा शीत युद्ध भी। अभी तक तो मायावती की राजनीति 'दो कदम आगे बढ़ने के लिए एक कदम पीछे' जाने की रही है। सरकार गठन में उन्होंने बसपा की मूल नीति का पालन किया है। कहा जाता है यूपी में ब्राह्मण सहित अपर कास्ट की जनसंख्या 28 प्रतिशत है। यदि यह सही है तो 50 में 14 अपर कास्ट (ब्राह्मण समेत) मंत्री बनाकर ठीक 28 प्रतिशत कोटा उन्हें दिया गया है। न एक कम, न एक अधकि। शपथ ग्रहण समारोह में सभी ब्राह्मण मंत्रियों ने भी मायावती के वैसे ही चरण स्पर्श किये, जैसे औरों ने किये। लेकिन एक चीज जिस पर शायद बहुत कम लोगों का ध्यान गया वह था सभी 50 मंत्रियों का ईश्वर की जगह सत्य निष्ठा के साथ शपथ लेना। (भगवा पार्टियों के साथ रहते-रहते लोहियामार्का समाजवादी तो इतना रामनामी हो गये हैं कि इन चीजों पर गौर भी नहीं करते। गौर करने की मानसिक कुव्वत भी उनके पास नहीं बची है।) यदि इसी तरह अपने द्विज विधायकों को मायावती संस्कारित करती हैं तब यह बसपा की रीति-नीति का ही विस्तार होगा।

लेकिन डर दूसरा भी है। ब्राह्मण मीडिया ने जो कोहराम मचा रखा है उसके प्रभाव में यदि मायावती आ जाती हैं तब क्या होगा। अखबारों में उनके गणेश की मूर्ति उछालने और जय परशुराम के उद्घोष की खबरें भी आयी हैं। यह ठीक लक्षण नहीं है। हाथी को इस भ्रम में नहीं रहना चाहिए कि वह सवार को घुमा रहा है। सवार महावत बनते ही हाथी को घुमाने लगता है। बसपा के हाथी पर आज भले ही सब सवार हैं, महावती कौन कर रहा है यह महत्वपूर्ण बात है। कहीं ऐसा न हो कि द्विज ताकतें हौदा बनाकर उसमें मायावती को रानी की तरह बैठा दें और महावती अपने हाथ में ले लें। यदि मायावती ने यह होने दिया तो वह भी जायेंगी और उनका हाथी भी।

उत्तर प्रदेश के चुनावी नतीजों ने कुछ और राजनीतिक संकेत और सबक छोड़ा है। मुलायम सिंह ने सामाजिक न्याय की राजनीति का नया समीकरण विकसित करना चाहा। 1995 में बसपा से मतभेद के बाद धीरे-धीरे अपनी राजनीति से दलितों को पूरी तरह उपेक्षित कर उनकी जगह बदनाम ठाकुरों और द्विजों को बैठाने की कोशिश की। राजा (भैया) और अमरमणि त्रिपाठी जैसे लोगों को अपने साथ जोड़कर पता नहीं वे कौन सा राजनीतिक संदेश देना

चाहते थे। मायावती ने दलित राजनीति से ब्राह्मणों को जोड़ मियां की जूती मियां के सिर रख दिया। मुलायम सिंह की दूसरी बड़ी गलती विकास की गलत व्याख्या थी। पूंजी निवेश को उन्होंने विकास समझ लिया था। इसे जनता ने नकार दिया। इसके अलावे राजनीतिक स्तर पर अमर सिंह जैसे अराजनैतिक लोगों को अकूत महत्व देना उनको ले बैठा। अमिताभ बच्चन, अमर सिंह और अनिल अंबानी जैसे लोगों को लेकर न कोई विकास हो सकता है न कोई राजनीति चल सकती है।

पंत का कूड़ा

ख्यात् हिन्दी आलोचक नामवर सिंह अपने एक वक्तव्य के कारण इन दिनों विवाद में हैं। हालांकि वे विवादप्रिय नहीं, विमर्शप्रिय हैं। विवाद पैदा करने का शौक राजेन्द्र यादव को है। लेकिन इस बार नामवरजी के विवाद ने राजेन्द्र जी के द्वारा खड़ा किये गये विवादों को बौना बना दिया है।

बनारस की एक साहित्य-संगोष्ठी में नामवर जी ने कवि पंत के चौथाई काव्य को कूड़ा कह दिया। इस पर कुछ काव्य-व्याकुल लोग गुस्से में हैं। किसी एक सज्जन ने तो अदालत में मुकदमा भी दर्ज कराया है।

साहित्य में इन दिनों खासा सन्नाटा था। नामवर जी के वक्तव्य ने सन्नाटा तो भंग किया ही, एक कोहराम भी खड़ा कर दिया है। साहित्य को लेकर कोहराम और विवाद हो यह मुझे बुरा नहीं लगता है। राजनीतिक वक्तव्यों पर गाहे-बेगाहे विवाद होते रहते हैं। यदि साहित्यिक वक्तव्यों पर भी इस तरह विवाद हों तो क्या बुरा है। लेकिन इसे लेकर एक अदालत में जो मुकदमा दर्ज किया गया है वह बचकानी या शरारती हरकत है। साहित्यिक विवादों के मुकदमे साहित्यिक गोष्ठियों-सेमिनारों में होंगे, न कि जज-वकीलों की अदालत में। आखिर हम कितने विवादों को, कितनी असहमतियों को अदालत में ले जायेंगे। अदालत के जज-वकीलों के पास क्या वह काबिलीयत है कि इन असहमतियों की व्याख्या सुन-समझ सकें?

नामवर जी कोई सामान्य साहित्यकार या आलोचक नहीं हैं। वे लिजॅन्ड बन चुके हैं। वे हिन्दी के सांस्कृतिक शिखर हैं। उन्होंने जब कुछ कहा है तो उसके पीछे कुछ तथ्य होंगे, उनका चिंतन होगा। कायदे से उनके आलोचकों को उन्हीं से पूछना चाहिए था। बुद्ध और कबीर की कई उलटबासियां लोगों को समझ में नहीं आती थीं। ऐसे लोग उन्हीं से इसे सुस्पष्ट करने की जिज्ञासा करते थे। प्रश्न पूछते थे। लेकिन प्रश्न पूछने के लिए तो कुव्वत चाहिए। अदालत में

अर्जी फेंकने में तो केवल फीस देने के कुव्वत की जरूरत होती है।

हर भाषा में असहमतियों का अपना इतिहास है। जिस भाषा का पाठक वर्ग जितना प्रबुद्ध होता है वहां असहमतियां भी उतनी ही गझिन होती हैं। हमारी हिन्दी में भी इसका समृद्ध इतिहास है। प्रसिद्ध आलोचक रामचंद्र शुक्ल ने कबीर को गंवार कहा। 1946 में ही प्रख्यात लेखक अज्ञेय ने 'निराला इज डेड' की उद्‌घोषणा की। रामविलास शर्मा ने यशपाल को 'साड़ी-जंफरवादी' लेखक कहा। खुशवंत सिंह ने प्रेमचंद के गोदान को फालतू कहा। हम इन असहमतियों पर विमर्श करते हैं, मुकदमे नहीं। यही चाहिए भी।

कुछ लोगों ने नामवर जी से यह भी अपेक्षा की है कि उन्हें वक्तव्यों नहीं, सुविचारित लेखों द्वारा अपने मंतव्यों को रखना चाहिए। वाचिक परंपरा का आलोचक कह कर उनका उपहास करने की भी अनेक बार कोशिश की गई है।

लेकिन क्या साहित्य पर वक्तव्य देना या टिप्पणी लिखना कोई अपराध है? जिस समाज में साहित्य घनीभूत होगा, वहां वह पुस्तकों से बाहर आकर बहसों, वक्तव्यों-बयानों और अखबार के पन्नों पर फैल जायेगा। वह समाज कितना उन्नत होगा जिसके अखबार साहित्यिक वक्तव्यों से भरे होंगे। नामवरजी ने अपने वक्तव्यों द्वारा साहित्य को यदि चौराहे पर खड़ा किया है तो वे धन्यवाद के पात्र हैं।

और आखिर में उनकी वाचिक परंपरा! वाचिक परंपरा कोई ऐसी परंपरा नहीं जिसकी कड़ी होने में नामवरजी खुद को कमतर समझें। बुद्ध, क्राइस्ट, कबीर ने कुछ लिखा नहीं, केवल बोले। कबीर को मासिकागद न छूने और कलम न गहने का कोई अफसोस नहीं था। लगभग सारा भक्तिकाव्य वाचिक परंपरा में है। और प्राचीनतम साहित्य वेद सैकड़ों वर्षों तक वाचिक परंपरा में ही रहा। आज के जमाने में भी लोहिया से लेकर रजनीश तक बोलते ही ज्यादा रहे। लोहिया साहित्य का अधिकांश उनका भाषण ही है। निश्चय ही, सुंदर लिखना अच्छा होता है, लेकिन सुंदर बोलना सबके बूते की चीज नहीं होती।

सत्येन कुमार

उदास खबर है कि हिंदी के महत्वपूर्ण कथा लेखक सत्येन कुमार अब हमारे बीच नहीं रहे। भोपाल सत्येन का शहर था और निश्चित ही वह शहर उनके कारण सांस्कृतिक रूप से महत्वपूर्ण था। वह अपनी तरह के लेखक थे। वाम और दक्षिण के सांस्कृतिक बाड़ों से उन्होंने अपनी दूरी बनाकर रखी थी। कई

वर्षों तक अपने बूते कहानी केंद्रित एक पत्रिका निकाल कर उन्होंने हिंदी कथा-विधा को एक नयी दिशा देने की कोशिश की। सांस्कृतिक रूप से खूब सक्रिय किन्तु अन्तर्मुखी मिजाज के सत्येन विरले किस्म के मित्र और इंसान थे।

जन विकल्प परिवार की विनम्र श्रद्धांजलि।

- जून, 2007

अध्याय - 8

बिहार में माओवादी हिंसा

बिहार के विभिन्न हिस्सों से माओवादी हिंसा की खबरें लगातार आ रही हैं। हिंसा के अचानक उभार से बिहार में विकास की आस लगाये आम जन उदास और हतप्रभ हैं। इसके पहले उग्र राजनीति के कुछ खास इलाके थे जैसे गया, जहानाबाद और भोजपुर। इस बार कहीं ज्यादा फैले हुए क्षेत्र से हिंसा की सूचना है।

राजसत्ता में आने के बाद मुख्यमंत्री नीतीश कुमार ने माओवादियों के लिए एक संदेश दिया था कि उन्हें उनके विचार फैलाने की राजनीति से एतराज नहीं है, लेकिन हिंसा को वह कतई बर्दाश्त नहीं करेंगे। लगता है नीतीश कुमार को माओवादियों ने समझने की कोशिश नहीं की। जाहिर है कोई भी सरकार हिंसा को चुपचाप नहीं देख सकती। लेकिन जब बन्दूकें टकरायेंगी तो मानवाधिकारों का हनन अवश्यम्भावी होगा। हिंसा-प्रतिहिंसा के शोर में विकास का बन रहा वातावरण भी खत्म हो सकता है।

हम किसी तरह की हिंसा का समर्थन नहीं करते-चाहे वह सरकारी हिंसा हो अथवा किसी राजनीतिक संगठन की। हिंसा से कोई बड़ा मकसद हासिल हो सकता है, इसमें हमें संदेह है। तेलंगना से लेकर अब तक के इतिहास से हमने यही सबक लिया है। लेकिन जो सरकार बढ़-चढ़ कर 1857 के सशस्त्र विद्रोहों की 150 वीं जयन्ती पर जलसा आयोजित कर रही हो, उसे इस तरह की हिंसा के विरोध का नैतिक हक नहीं है। माओवादी कह सकते हैं, और कहते ही हैं कि यह उनका मुक्तियुद्ध है।

इसके पहले भी हमने अपने अग्रलेख में माओवादी हिंसा को समझने की कोशिश की थी। हम एक बार फिर सरकार से कहना चाहेंगे कि वह उग्रवाद उभरने के वास्तविक कारणों तक जाये और उनका निराकरण करे, बजाय

पुलिसिया दमन के। दमन पर खर्च होने वाला धन गरीबी उन्मूलन पर खर्च होना चाहिए। इसके साथ ही माओवादियों से भी हम कहेंगे कि वे हिंसा से बाज आयें। पुलिस थानों पर जिन सिपाहियों की वे जान ले रहे हैं वे भी आम जन हैं और अपने परिवार का पेट पालने के लिए चाकरी कर रहे हैं। उन्हें बन्दूक रखने का कोई शौक नहीं है। वे यदि सामंतों के औजार बनते हैं तो इसके लिए मौजूदा राजनीति जिम्मेदार है। वे तो स्वयं अपने संघ के माध्यम से इन आचरणों के विरुद्ध बगावत के स्वर उठाते रहे हैं। उन्हें राजसत्ता का प्रतीक मानकर उनपर हमला करना ज्यादती है।

बुरी तरह पिछड़ चुके बिहार में शांति और विकास का वातावरण बहाल करना बहुत जरूरी है। लेकिन इसके लिए आवश्यक है कि गरीबों को विश्वास में लिया जाय। पिछले पंद्रह वर्षों के लालू राज में बिहार का विकास तो ठप था, लेकिन पिछड़े दलितों में झूठा ही सही, अहसास था कि लालू उनके हैं और उनके माध्यम से उनका राज चल रहा है। इस कारण अतिवादी ताकतें गरीब जनता को हिंसा के लिए गोलबंद करने में विफल रहीं। नीतीश सरकार बनते ही एक अफवाह फैली कि सामन्तों का राज फिर बहाल हो गया है। दुर्भाग्य से यह बात निचले स्तरों (ग्रास रूट) तक चली गयी है। नीतीश सरकार ने पंचायती राज से लेकर राशन-किरासन और इंदिरा आवास योजना तक में पारदर्शिता लाकर इन योजनाओं को वास्तविक रूप में गरीबों से जोड़ने की कोशिश की है। लेकिन जनता इज्जत के साथ रोटी चाहती है। उसे लगता है लालू राज में उसकी रोटी पर भले ही आफत थी, उसकी इज्जत ठीक-ठाक थी। नीतीश सरकार को अपनी बहुप्रचारित सामंती छवि से मुक्ति पानी होगी। यदि इसमें वह विफल होती है तो हिंसा को रोक पाना मुश्किल होगा।

अलविदा कलाम

राष्ट्रपति कलाम बस इसी 25 जुलाई को भूतपूर्व हो जायेंगे। मैं नहीं जानता देश की जनता उन्हें किस रूप में याद रखेगी। मूलतः वे अटल बिहारी वाजपेयी और उनके संघ की पसंद थे। चूंकि वे मुसलमान भी थे और गुजरात के भयानक दंगों की पृष्ठभूमि में उनका चुनाव हुआ था, इसलिए सोनिया गांधी समेत कई अन्यों ने उनका समर्थन किया था। तब भी मार्क्सवादी उनके समर्थन में नहीं थे। उनलोगों ने अपना अलग उम्मीदवार दिया था। लेकिन तब मार्क्सवादी उन्हें रोकने में समर्थ नहीं थे। इस बार वे समर्थ थे और उन्होंने कलाम को दूसरी मर्तबा राष्ट्रपति बनने से रोका। इसके लिए मार्क्सवादी धन्यवाद के पात्र हैं।

कलाम के बारे में मेरी अपनी राय है। एनडीए ने जब उन्हें राष्ट्रपति पद का उम्मीदवार बनाया था तब मैंने उन्हें एक पत्र लिखा था। पांच वर्ष बाद भी मैं अपनी राय पर कायम हूं। एक जहीन दिमाग आदमी, जो मुल्क की गरीबी और अशिक्षा दूर करने के उपाय तलाश सकता था, युद्ध की प्रावैधिकी तलाशने में जुटा रहा। यह दुर्भाग्यपूर्ण था कि एक मिसाइलमैन को मुल्क का राष्ट्रपति बनाया गया। जो दूसरी दफा उन्हें बैठाने की वकालत कर रहे थे, मैं उन से सहमत नहीं था। जाते-जाते कलाम ने जो ड्रामा किया वह भी अभूतपूर्व था। राष्ट्रपति के पद पर आसीन एक व्यक्ति एकबार फिर राष्ट्रपति बनने के लिए शर्तें रख रहा है कि यदि वह निर्विरोध चुना जाता है तो वह तैयार है। राष्ट्रपति का यह मर्यादाहीन आचरण देश की जनता को शर्मसार करने वाला था।

कलाम को उनके समर्थक वैज्ञानिक कहते हैं। जैसे वाजपेयीजी को उनके प्रशंसक कवि मानते हैं। हर तुकबंदीकार कवि नहीं होता और न हर तकनीशीयन वैज्ञानिक। हां, आरएसएस की अपनी कसौटी होती है। उस कसौटी पर गोलवरकर महान चिन्तक हैं। ऐसे में वाजपेयी को महान कवि और कलाम को महान वैज्ञानिक मानने में किसे एतराज होगा। भाजपा और संघ को वह केवल इसलिए प्यारे हैं कि उनकी मिसाइलें पाकिस्तान को बर्बाद कर सकती हैं। स्वाभाविक ही था कि निर्दलीय चोगे में उतरे संघ के राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार भैरोसिंह शेखावत ने भी आखिरी समय तक कलाम की वकालत की। दरअसल इस बार भी कलाम ही संघ की पहली पसंद थे।

राष्ट्रपति के रूप में कलाम ने कोई आदर्श नहीं रखा। कबीर की बानी उधार लें तो कहा जा सकता है कि चादर मैली ही की। मई 2005 में बिहार विधान सभा भंग करने का प्रस्ताव जब हस्ताक्षर के लिए उनके पास भेजा गया तब वे मास्को में थे। रात के तीन बजे थे। सोये हुए से उठकर उन्होंने चुपचाप दस्तखत कर दिये। अब लगता है कि तब भी उनके मन में दुबारा राष्ट्रपति बनने की कामना रही होगी। उस वक्त उन्होंने खुद को शायद 'लायक' सिद्ध करने की कोशिश की थी। कलाम के पास पूर्व राष्ट्रपतियों के उदाहरण थे, जिन्होंने कई बार केन्द्रीय मंत्रीपरिषद की सिफारिशों को पुनर्विचार के लिए लौटाया है। तब बिहार विधान सभा का गठन भी नहीं हुआ था और उसे भंग किया गया था। पहली दफा एक ऐसी चीज का ध्वंस हुआ जिसका कोई अस्तित्व ही न हो। कलाम यदि सचमुच वैज्ञानिक होते तो इस छोटी चीज को समझते।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को राइफल-पिस्टल और बम-मिसाइल बनाने वाले लोग भले ही वैज्ञानिक लगें, एक प्रबुद्ध आदमी उन्हें एक तकनीशीयन ही

मानेगा। कलाम युद्ध के तकनीशीयन हैं–एक ऐसा तकनीशीयन जिनके बिना दुनिया का काम ज्यादा बढ़िया से चल सकता है। उन्होंने भारत के रक्षा मंत्रालय की चाहे जो सेवा की हो, उनकी मिसाइलें मानवता के विरुद्ध ही खड़ी हैं। जिस देश-समाज में बम पिस्टल मिसाइलें बनाने वाले लोग इस तरह रेखांकित होंगे, उसकी राजनीतिक-सामाजिक चेतना पर प्रश्न उठना स्वाभाविक है। अमेरिका के क्लॉड इथर्ली ने 6 और 9 अगस्त 1945 को जापान के हिरोशिमा और नागासाकी पर एटम बम गिराये थे। अमेरिकी सरकार ने उसे नेशनल हीरो का खिताब दिया। लेकिन अमेरिकी जनता ने इथर्ली से घृणा की। खुद इथर्ली अपने किये पर इतना शर्मसार था कि वह असामान्य आचरण करने लगा। बम की विभीषिका की जानकारी ने उसे हिलाकर रख दिया। अपनी जमा पूंजी उसने तबाह लोगों के लिए भेज दी। फिर तो चोरी कर-कर के वह धन जुटाने लगा, तबाह लोगों को भेजने के लिए। वह पागल हो गया और उसने खुदकुशी की कोशिशें कीं। शायद उसका आखिरी समय पागलखाने में ही बीता। (यदि वह भारत में होता तो शायद राष्ट्रपति भवन में बीतता।)

क्लॉड इथर्ली में इतनी चेतना तो थी कि वह अपने किये का प्रायश्चित कर सकता था। अग्नि की उड़ान की तरह अपनी सफलता की कहानी 'महाप्रलय' शीर्षक से वह भी लिख सकता था। लेकिन उसने पागलखाने में रहना बेहतर समझा। क्लॉड इथर्ली के पागल होने की घटना ने पूरी दुनिया को जो संदेश दिया, उसे भी कलाम यदि समझते तो मैं उन्हें तहे दिल से सलाम करता।

खैर, अलविदा कलाम। आज मैं खुश हूं कि आप राष्ट्रपति भवन खाली करने जा रहे हैं। राष्ट्र के अवचेतन में जो कायरपन और पाशविकता थी, उसने आपको इस महान ओहदे पर बैठाया था, उसमें अन्तर्निहित आध्यात्मिकता ने इस बार आपको खारिज किया है। आमीन।

चंद्रशेखर-स्मृति

अभी-अभी खबर मिली है कि कभी युवा तुर्क रहे चंद्रशेखर नहीं रहे। वे जीवन के इक्कासीवें (81) वर्ष में थे और अर्से से बीमार चल रहे थे। कुछ महीनों के लिए वे भारत के प्रधानमंत्री भी रह चुके थे।

युवा काल में कुछ समय के लिए मैं चंद्रशेखर से प्रभावित हुआ था। तब दिनमान साप्ताहिक में उनका एक इंटरव्यू छपा था। उसकी पहली पंक्ति अभी भी मुझे याद है। इंटरव्यूकर्ता ने लिखा था 'जब मैं चंद्रशेखर जी के यहां गया तो वे सत्तू खा रहे थे और उनके पास नेहरू की किताब 'डिस्कवरी ऑफ

इंडिया' रखी थी। 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' पर ही बात शुरू हुई।' गांव में रह रहे मुझ जैसे नौजवान को लगा था कि नेता ऐसा ही होना चाहिए। जब प्रधानमंत्री के रूप में वे भूतपूर्व हो गये, तब एकबार उनसे मिलना हुआ। मैंने उन्हें यह बात बतलाई। वे भावुक हो गये। मुझे तब आश्चर्य हुआ जब वे अपने सोफे से उठकर मेरे पास आये और बैठ गये। स्नेह से मेरा हाथ पकड़ा और कुछ देर तक उन दिनों की बातें करते रहें। वे हिन्दी कवि आलोक धन्वा से परिचित थे। उन्होंने उनका हाल पूछा।

तो चंद्रशेखर जी के व्यक्तित्व का एक पक्ष यह था।

लेकिन एक दूसरा पक्ष जो बाद में उनके व्यक्तित्व का मुख्य पक्ष हो गया, वह था चंद्रास्वामियों और सूरजदेव सिंह जैसे लोगों से उनकी अंतरंगता। भारतीय राजनीति में ऐसे लोगों के जुड़ाव का प्रचलन चंद्रशेखर ने आरंभ किया। पैसा और विचारहीनता चंद्रशेखर की राजनीति के मुख्य औजार बन गये। इतना ही नहीं 'मित्र लाभ' और 'शुभ लाभ' की राजनीति के वे अघोषित पुरोहित बन गये। आश्चर्य होता है कि जिस व्यक्ति ने कभी आचार्य नरेन्द्र देव के शिष्यत्व में राजनीति आरंभ की थी, जो बहुत दिनों तक सत्तू और किताबों से घिरा रहा, वह ऐसी वैचारिक अधोगति का शिकार बन गया। उनके चालू किस्म के चेले लगभग हर पार्टी में मिल जायेंगे। ये सब के सब विचारहीन भले हों, कुर्सीहीन नहीं हैं।

चंद्रशेखर जी के जीवन से हम यही सीख ले सकते हैं कि जीवन की भौतिक उपलब्धियां और ऊंचा पद व्यक्तित्व निर्माण में सहायक नहीं होता। आज सरकारी श्रद्धांजलि भले ही मिल रही हो, मुट्ठी भर लाभुकों के अलावे समाज की हार्दिक श्रद्धांजलि उन्हें नसीब नहीं हुई।

- जुलाई, 2007

अध्याय - 9

आजादी का संघर्ष आज भी चल रहा है

मेरे मन में बार-बार यह सवाल आता है कि 15 अगस्त 1947 को हम किस रूप में लें। क्या वह भारतीय राष्ट्रवाद के चरम उत्कर्ष का दिन था– क्योंकि एक गुलाम राष्ट्र उस रोज विदेशी वर्चस्व से मुक्त हुआ था, या कि उसके चरम पतन का दिन–क्योंकि राष्ट्र उस रोज विखंडित हो गया था। आजादी की लड़ाई में चाहे जितनी अहिंसा बरती गयी, आजादी का आगमन हिंसा की भयावहता के साथ हुआ था। अमानवीयता की हदें पार करते भीषण सांप्रदायिक दंगे, लूट, बलात्कार, विश्वासघात और क्रूरता को भूल जाना इतिहास के साथ धोखा-धड़ी होगी। ऐसे परिदृश्य के बीच स्वतंत्रता की व्याख्या हम किस रूप में करें, तय करना मुश्किल होता है।

लेकिन हमारे बूर्जुआ इतिहासकारों, शिक्षकों और नेताओं ने बार-बार 15 अगस्त की महानता के इतने पाठ पढ़ाये हैं और आज इन सबसे हमारा मन इतना प्रदूषित है कि इतिहास के दूसरे पहलू को हम बिल्कुल भूल चुके हैं। ताज्जुब होता है कि सूक्ष्म इतिहास बोध के राजनेता नेहरू ने खून से लथ-पथ आधी रात को जब 'नियति से भेंट' वाला प्रसिद्ध भाषण दिया तब भी उन पर इस वातावरण का कोई असर नहीं था। वे तो मानो कविता-पाठ कर रहे थेः 'आधी रात को ..जब दुनिया सो रही होगी, भारत जाग उठेगा..'

दुनिया सो नहीं रही थी। संसद भवन के बाहर दंगे-फसाद हो रहे थे, अस्मतें लूटी जा रही थीं और लाखों लोग अपना-अपना वतन छोड़ कर अपने-अपने देश की ओर भाग रहे थे।

हालांकि तब भी ऐसे लोग थे जिन्होंने 'यह आजादी झूठी है' का नारा दिया था। उनके हाथ में अखबार नहीं थे और उनके नारों को संजोकर रखने वाले इतिहासकार भी नहीं थे, इसलिए उनके बारे में नयी पीढ़ी को जानकारी बहुत

कम है। लेकिन सच्चाई है कि भारत के बड़े हिस्से में आजादी के प्रति एक उदासीनता का भाव था। 'देश की जनता भूखी है, यह आजादी झूठी है' जैसे नारे पूरे भारत के गांव-कस्बों में लगाये गये थे। राष्ट्रपिता कहे जाने वाले आजादी के सबसे बड़े सेनानी ने स्वयं को आजादी के उत्सव से अलग रखा था। वह उनके शोक का दिन था।

आज साठ साल बाद पूरे घटनाक्रम पर विचार करना एक अजीब किस्म की अनुभूति देता है। आजादी के संघर्ष के इतिहास की जिस तरह भारत-व्याकुल भाव से व्याख्या की गई है, वह हमें और अधिक उलझाव में डालता है। उसके अंतरविरोधों को सामने रखना सीधे देशद्रोह माना जा सकता है। किसी देश-समाज में इतिहास और 'नायकों' के प्रति ऐसी गलद्श्रुतापूर्ण भक्ति देखने को नहीं मिलती। इसलिए यह कहा जा सकता है कि पिछले साठ वर्षों में हमारे समाज में मानसिक गुलामी ज्यादा बढ़ी है।

जब आजादी की लड़ाई चल रही थी तब विभिन्न तबकों ने अपने-अपने ढंग से अपनी भावनाओं का इजहार किया था। गांधी निःसंदेह बड़े नेता थे और उनका प्रभाव भी था लेकिन उनकी कमजोरियां भी थीं। उस समय ही आंबेडकर और जिन्ना ने उनसे असहमति जाहिर की थी। आज का समय होता तो शायद दोनों देशद्रोही करार कर जेलों में ठूंस दिये जाते।

आंबेडकर ने तो आजादी की सैद्धांतिकी पर ही सवाल खड़ा किये थे। आजादी के संघर्ष और साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में उन्होंने अंतर किया। तथाकथित स्वतंत्रता आंदोलन में शामिल लोग स्वतंत्रता या आजादी को सीमित अर्थों में ले रहे थे। आंबेडकर ने उसे विस्तार से लेने का आग्रह किया। भारत का बूर्जुआ तबका, जो जाति के हिसाब से हिन्दू-मुसलामानों का सवर्ण-असराफ तबका भी था, अंग्रेजों से विमुक्तता को ही आजादी मान कर संतुष्ट था-क्योंकि भारत का राज-पाट अब उसके जिम्मे था। एक व्यक्ति, एक वोट के अधिकार वाले जनतंत्र के साथ राजनीतिक आजादी तो सब को मिल गयी थी लेकिन सामाजिक-आर्थिक आजादी देने में वह अड़ंगे डाल रहा था। आंबेडकर ने कहा–'राजनीति में समत्व रहेगा और सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में विषमता रहेगी। राजनीति में हम एक व्यक्ति एक वोट और एक वोट एक मूल्य के सिद्धांत को मान्यता देंगे, पर सामाजिक और आर्थिक संरचना में हम एक व्यक्ति एक मूल्य का सिद्धांत स्वीकार नहीं करेंगे। अन्तरविरोधों का यह जीवन हम कब तक जीते रहेंगे? हम अपने सामाजिक और आर्थिक जीवन में समत्व से कब तक इनकार करते रहेंगे? यदि हम अधिक दिनों तक इसे इनकार करते

रहे तो हमारा लोकतंत्र खतरे में पड़ जाएगा। हमें अंतरविरोधों को यथासंभव शीघ्र खत्म कर देना चाहिए। अन्यथा जिस राजनीतिक लोकतंत्र को इस सभा ने इतने परिश्रम से तैयार किया है, उसकी संरचना को विषमता के शिकार लोग उड़ा देंगे।'

भारत के शासक तबके ने स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहास पर अंग्रेज विरोधी भाव को इतना घनीभूत कर दिया कि हम सामंतवादी-ब्राह्मणवादी गुलामी को पूरी तरह नजरअंदाज कर गये। इससे समाज के शासक तबके का स्वार्थ सधा और गुलामी का एक बड़ा फलक विकसित हुआ। इसलिए भारत के आधुनिक इतिहास पर नये सिरे से विमर्श की जरूरत है। यहां तक कि अंग्रेजों की भूमिका पर भी हमें नये ढंग से चिन्तन करना चाहिए। पलासी का युद्ध अंग्रेज क्यों जीत सके? पेशवा और मराठों का हारना क्यों जरूरी हुआ? 1857 के विद्रोहों की सामाजिकता और सैद्धांतिकी क्या थी? कांग्रेस के पूना जलसे पर तिलक के नेतृत्व में ब्राह्मणवादियों का कब्जा कैसे हुआ? कांग्रेस के रैडिकल और मॉडरेट ईकाइयों में कौन प्रगतिशील और कौन प्रतिगामी था? गांधी आखिर समय तक वर्णाश्रम व्यवस्था के पक्षधर कैसे और क्यों बने रहे? जैसे सवालों पर नयी पीढ़ी को विस्तार से जानने का हक बनता है। आजादी के इतिहास का चालू पाठ इतना इकतरफा और एकरस है कि उसके सहारे हम नयी पीढ़ी की स्वतंत्र मानसिकता का विस्तार देने में अक्षम हैं। फ्रांस में राज्यक्रांति के रूप में स्वतंत्रता का जो संघर्ष हुआ था उसके पार्श्व में रख कर हमें अपने स्वतंत्रता आंदोलन को खंगालना चाहिए। हमारे संघर्ष में रूसो और वाल्तेयर नहीं हैं। हमने तो रवीन्द्रनाथ ठाकुर की भी केवल इसलिए पूजा की कि उन्हें नोबेल पुरस्कार मिल गया था। उनके 'गोरा' से हमने कुछ नहीं सीखा।

क्या हमने इस बात पर विचार किया है कि आजादी का संघर्ष आज भी अनेक रूपों में चल रहा है? दलित-पिछड़े-आदिवासी और मिहनतकश-गरीब आज भी आजादी की लड़ाई लड़ रहे हैं। उनका संघर्ष बुद्ध, कबीर, फुले, मार्क्स, आंबेडकर, पेरियार, भगत सिंह जैसे विचारकों के मार्गदर्शन में हो रहा है। गांधीवादी जमात के लोग या तो तटस्थ हैं या फिर इनके खिलाफ बंदूक और गीता लेकर खड़े हैं। फिर भी लड़ाई चल रही है।

आप इस लड़ाई में किस ओर हैं?

- अगस्त 2007

अध्याय – 10

सवाल दुनिया की व्याख्या का नहीं, उसे बदलने का है

इस बार लेख का आरंभ अपने एक पुराने, आत्मीय और आदरणीय मित्र के पत्र से करना चाहता हूं। डॉ. धीरेन्द्र शर्मा से 1974 में परिचय हुआ। तब दिनमान साप्ताहिक में संस्कृत भाषा पर मेरी एक टिप्पणी छपी थी–जिससे भारत-व्याकुल लोग मर्माहत थे। मेरे लेख के पक्ष और विपक्ष में महीनों टिप्पणियां प्रकाशित हुईं। मुझे याद आता है जिन दो लोगों ने जम कर मेरा पक्ष लिया था उनमें डॉ. धीरेन्द्र शर्मा और बिहार के दिवंगत जननेता जगदेव प्रसाद थे। जगदेव प्रसाद मेरे छात्रावास पर बधाई देने आये और अपने शोषित अखबार में मेरी टिप्पणी को पुनर्प्रकाशित किया। डॉ. धीरेन्द्र शर्मा ने दिनमान में मेरे पक्ष में जोरदार टिप्पणी लिखी। वे संस्कृत के काव्यतीर्थ भी थे इसलिए उनकी टिप्पणी का विशेष महत्व था। तब पत्र द्वारा हम परिचित हुए और आपात काल के दिनों में हमारा मिलना भी हुआ। वे ऑक्सफोर्ड की प्राध्यापकी छोड़ कर कुछ करने के ख्याल से भारत आये थे और उन दिनों दिल्ली के जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में फिलॉसफी के प्रोफेसर थे। वहीं से 'फिलॉसफी एण्ड सोशल एक्शन' अंग्रेजी त्रैमासिक भी निकालते थे। इसके उद्घाटन अंक में जयप्रकाश आंदोलन पर मैंने एक लेख लिखा था। विचारों से क्रांतिकारी और जुझारू व्यक्तित्व वाले डॉ. शर्मा से मुझे बहुत कुछ सीखने को मिला। उनके माध्यम से देश-विदेश के अनेक विद्वानों से परिचय हुआ। लेकिन पिछले 12 वर्षों से उनसे मिलना नहीं हो सका था। 'जन विकल्प' को इंटरनेट पर देखकर उन्होंने प्रतिक्रिया दी और जब डाक से उन्हें पत्रिका भेजी गयी, तो उनका यह पत्र मिला। बिना किसी संपादन के उनका पत्र–

प्रिय मणि,

'जन विकल्प' की अगस्त 2007 प्रति हमारे पुराने नई दिल्ली के पते से लौटकर-आज ही देहरादून के पते पर मिली। पढ़ गया हूं। तुम्हारे प्रयासों के लिए सराहना के शब्द पर्याप्त नहीं होंगे। पिछली बार जब मिले थे—कुछ ख्याल आता है कि फिर मिलने की बात तय हुई थी।

1. पहली बात-हमारा देहरादून का पता नोट कर लो।

2. मौलिक प्रश्न है? 21वीं सदी में जब वैश्वीकरण की ओर हम बढ़ रहे हैं—तब दुनिया को जाति, धर्म, वर्ग और राष्ट्रवाद आदि के आधार पर बांटना विकास-विरोधी होगा।

कोई जाति, धर्म, राष्ट्र-ऐसा नहीं है—जिसने दुर्बल और अपने ही असहाय लोगों पर अत्याचार और अन्याय न किया हो। गोरी जातियों ने लाखों-करोड़ों गोरी जातियों का नरसंहार किया—वो श्वेत, यूरोपियन और ईसाई थे जो जर्मन, फ्रांसिसी, अंग्रेज, स्कॉट, इतालवी और आयरिश-लाखों की तादाद में एक दूसरे से लड़े थे। और फिर सैकड़ों सालों से अरब-मुसलमान-ईराकी-ईरानी-शिया और सुन्नी-मजहब के नाम पर-मरते-मारते-आ रहे हैं। लेकिन आज 85 प्रतिशत हिन्दू वोटों से एक तामील मुसलमान डॉ. कलाम को भारत का सर्वलोकप्रिय आम आदमी का राष्ट्रपति माना गया है।

लेकिन एक बंगाली मुसलमान को पाकिस्तानी इस्लामी रिपब्लिकन का राष्ट्रपति नहीं बनने दिया और इस्लामिक सेना ने डॉ. मुज़ीबुर्रहमान और उसके परिवार का और हजारों बंगाली मुस्लिम बुद्धिजीवियों का कत्लेआम किया और आज तस्लीमा पर मौत का फतवा है।

बौद्धकालीन प्राचीन स्मारकों को अफगानिस्तान, पाकिस्तान और काश्मीर में बमों से उड़ाया गया है क्यों?

और एक लोकतंत्री संसद पर आत्मघाती हमला क्यों?

मैं कई बार कश्मीर गया और उनकी जनमत की मांग का समर्थन किया। लेकिन मेरे भाषण के बीच में नारे लग रहे थे—

'हंस के लिया है पाकिस्तान।

लड़ के लेंगे हिन्दुस्तान।।

मैं ये सब कुछ लिख रहा हूं तुम्हें—क्योंकि तुम संघर्षशील और चिन्तक-विचारप्रधान व्यक्तित्व हो। खून-खराबा बहुत हो चुका-जाति, धर्म और देशभक्ति के नाम पर। हमें वैज्ञानिक दृष्टि से सोचना और नये ढंग से वैज्ञानिक समाज की रचना करनी होगी। हम इधर पिछड़े पहाड़ी क्षेत्र में सक्रिय हैं, जहां

दलित कम 10 प्रतिशत और ऊंची जातियां-ब्राह्मण-राजपूत 80 प्रतिशत हैं। इन 80 प्रतिशत 'ऊंची' जात वालों में 60 प्रतिशत गरीब, अशिक्षित-बेरोजगार-शिवलिंग पर दूध-पानी-पशुबलि चढ़ाते हैं।

पाकिस्तानी रोगियों का भारत में इलाज होता है। उन्हें हिन्दुओं का खून दिया जाता है। तो आज के वैज्ञानिक युग में जीवन रक्षा के लिये Blood group मिलना चाहिये। जाति, धर्म और देश जरूरी नहीं। आज एक बार दुर्घटना में घायल होकर एमरजेन्सी-अस्पताल में ले जाया गया तो डाक्टर मेरे Blood group जानना चाहेंगे। धर्म, जाति और राष्ट्रियता की identity का कोई मतलब नहीं होगा। Blood group में दलित-मुस्लिम-ब्राह्मण-गोरा-काला-काश्मीरी-सिंहली सब एक हैं।

कुछ हाल की लिखी भेज रहा हूं। यथावसर पढ़कर अपनी प्रतिक्रिया लिखना।

शुभकामनाएं-
धीरेन्द्र शर्मा
21.8.2007

पत्र पढ़कर मैं देर तक सोचता रहा कि डॉ. शर्मा आखिर कहना क्या चाहते हैं? जाति, धर्म और देश को कौन जरूरी मान रहा है? खून के वैज्ञानिक ग्रुप के अलावे असली और कम-असली या फिर नस्लवादी उच्चताबोध की अहमन्यता कौन पाल रहे हैं? कौन हैं जो हमारे सामाजिक जीवन में बराबरी, भाईचारे और न्याय की जगह वर्चस्व की संस्कृति थोपना चाहते हैं?

मुझे यह भी लगा कि उत्तराखंड की 'देवभूमि' में निवास करते हुए हमारे आदरणीय मित्र को कोई दैवी ज्ञान तो प्राप्त नहीं हो गया!

लेकिन डॉ. शर्मा अकेले नहीं हैं। उनका पत्र जिन विचारों को उद्घाटित कर रहा है वह एक व्यक्ति नहीं, एक तबके की मानसिकता को हमारे सामने रखता है। सर्वोदय की यह भावना कोई नयी भी नहीं है। लेकिन इसके अपने खतरे हैं और उन पर विमर्श आवश्यक है। इसके अभाव में हम वर्चस्ववादियों के पक्ष में मैदान खाली कर देंगे और वर्चस्ववादी सबसे पहले निशाना डॉ. शर्मा जैसे लोगों का ही बनायेंगे। आर.एस.एस. की गोली से कम्युनिस्ट बाद में मारे गये, पहला निशाना तो सर्वोदयी गांधी ही बने।

मैं, डॉ. शर्मा को चालू अर्थों में सर्वोदयी नहीं बना रहा। यह उनका अनादर होगा। वे मार्क्सवादी समझ के कायल रहे हैं। उनकी पत्रिका पर मार्क्स की

उक्ति कवर पृष्ठ पर ही प्रकाशित होती थी।

'दार्शनिकों ने अब तक विभिन्न तरीकों से विश्व की व्याख्या की है, लेकिन सवाल है कि इसे बदला कैसे जाय।'

दुनिया को बदलने का-सामाजिक परिवर्तन का-सवाल अहम सवाल है। कुछ लोग इसी परिवर्तन को क्रांति कहते हैं। लेकिन क्रांति और परिवर्तन में एक अंतर है। क्रांति एक परिघटना की तरह आती है और तब आती है जब छोटे-मोटे परिवर्तनों से काम चलना संभव नहीं होता। यह स्वतः भी हो सकती है और प्रयास पूर्वक भी। लेकिन परिवर्तन तो जीवन के मेटाबोलिज्म की तरह सतत् चलता रहता है। कुछ व्यवस्थायें निहित स्वार्थों से निर्देशित होकर परिवर्तन की प्रक्रिया को बाधित करना चाहती हैं। इन व्यवस्थाओं को जब सफलता मिलती है, तब समाज में जड़ता आती है। फलस्वरूप संत्रास, अन्याय और वर्चस्व फैलता है। फिर इसके प्रतिरोध की शक्तियां उत्पन्न होती हैं। वर्चस्व और प्रतिरोध का यह सिलसिला इस तरह चलता रहता है।

वर्चस्व और प्रतिरोध के द्वंद्व से समाज को मुक्त किया जा सकता है, बशर्ते सामाजिक परिवर्तन की नैसर्गिक प्रक्रिया को बाधित नहीं किया जाय। मैं समझता हूं डॉ. शर्मा यही चाहते हैं। और यहां मैं उनके साथ हूं। लेकिन यह उस समाज में संभव है जहां संभव समानता और न्याय स्थापित हो चुका है। आप ऐसे समाज में जहां विषमता काफी हो और एक तबका या कुछ तबके दूसरे तबके या ज्यादा तबकों पर वर्चस्व रखना चाहते हैं, वहां प्रतिरोध को स्थगित करना प्रतिगामी प्रयास होगा।

डॉ. शर्मा कहते हैं 'खून-खराबा बहुत हो चुका-जाति धर्म और देश भक्ति के नाम पर। हमें वैज्ञानिक दृष्टि से सोचना और नये ढंग से वैज्ञानिक समाज की रचना करनी होगी।'

आखिर कौन नहीं सोचता वैज्ञानिक ढंग से? आधुनिक भारत के इतिहास में जोतिबा फुले ने ब्राह्मणवादी वर्चस्व के प्रतिरोध को संगठित करने की कोशिश की। उन्हें यह अवसर अंग्रेजी राज द्वारा उत्पन्न सामाजिक स्थितियों के कारण मिल सका। वे जातिवाद के विरुद्ध थे। वर्चस्व के प्रतिरोध की यह ताकत शायद उन्होंने भक्ति आंदोलन से ली थी। उनके मानस शिष्य डॉ. आंबेडकर ने राष्ट्रीय आंदोलन में ब्रेक डालकर अपने जातिवाद विरोधी एजेन्डे को शामिल करना चाहा। (लाहौर के एक सम्मेलन के लिए 1936 में लिखा गया उनका आलेख 'जातिवाद का उच्छेद' देखें।) उनका मजाक उड़ाया गया। ऐसा ही पेरियार आदि के साथ हुआ। राष्ट्रीय नेताओं ने तर्क दिया कि ये जातिवाद विरोध

की बात कर रहे लोग साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन को डायलूट कर रहे हैं। जातिवाद का विरोध कर रहे नेताओं का कहना था कि हम आजादी को ज्यादा व्यापक अर्थों में लेते हैं। साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन ऊंची जाति के हिन्दू-मुसलमानों के हाथ में था और वे नहीं चाहते थे कि इससे ज्यादा लोग जुड़ें। वे साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन के साथ सामंतवाद विरोधी आंदोलन को नत्थी करने के पक्ष में नहीं थे। जातिवाद का विरोध करने वाले नेता ज्यादा वैज्ञानिक सोच वाले थे, वे आधुनिकता के समर्थक थे, समानता के अग्रही थे। लेकिन वे हार गये।

अगली पीढ़ी में इन्हीं हारे हुए लोगों ने जाति को आधार बनाकर सवर्ण वर्चस्व के विरुद्ध जिहाद छेड़ दिया। अब ऊंची जातियों के हारे हुए लोग जातिवाद विरोध और समानता के पाठ पढ़ रहे हैं। दलित-ओबीसी उन पर हंस रहे हैं। यही काम जब उनके नेता पचास साल पहले कर रहे थे, तो वो इसे उनकी मूर्खता मान कर हंस रहे थे।

इसलिए ऐसा होता है कि जाति, धर्म और राष्ट्र को आधार बनाकर वर्चस्व प्राप्त जाति, धर्म और राष्ट्र का प्रतिरोध किया जाय। भक्ति आंदोलन में ईश्वर के नाम पर वर्णवादी वर्चस्व को चुनौती दी गयी—जात-पात पूछे नहीं कोय, हरि को भजै सो हरि का होय। हमारे राष्ट्रीय आंदोलन में एक उत्पीड़ित राष्ट्र साम्राज्यवादी राष्ट्र के विरुद्ध खड़ा हुआ। उत्पीड़ित जातियां वर्चस्व प्राप्त जातियों के विरुद्ध जाति के नाम पर इकट्ठा हुईं और सार्थक प्रतिरोध प्रस्तुत किया। लेकिन ये सब रणनीति है, आदर्श नहीं। हमारा आदर्श तो वर्ग-वर्ण विहीन, शोषण विहीन एक विकासोन्मुख समाज ही है। ऐसा समाज जो निरंतर परिवर्तनशील हो। आप चाहे जितने पवित्र जल और कीमती साबुन से नहा लें, अगले ही दिन आपको फिर स्नान की जरूरत होगी। इसी तरह चाहे जितनी महान पद्धति से आप समाज को संवार दें, उसे बार-बार नयी पद्धति से संवारने की जरूरत पड़ेगी। यही प्रकृति का नियम है और यही वैज्ञानिक चिन्तन है। सब कुछ अनित्य है—लेकिन अनित्यता की भी निरंतरता है—इस निरंतरता के अपने लय हैं—इसे ही जीवन और प्रकृति कहते हैं।

कुर्रतुल ऐन हैदर (1928-2007)

ख्यात उर्दू कथा-लेखिका कुर्रतुल ऐन हैदर अब हमारे बीच नहीं हैं। अलीगढ़ में जन्मी ऐनी आपा (उन्हें आदर और प्यार से लोग इसी नाम से पुकारते थे) ने कुल उन्नीस साल की उम्र में अंग्रेजी में एम.ए. किया था। इसी

उम्र में पहला उपन्यास 'मेरे सनमखाने' भी लिखा। देश के बंटवारे के बाद वे पाकिस्तान चली गयी और फिर 1961 में भारत लौटीं। वो अपनी ही तरह की लेखक थीं। भारतीय संस्कृति को उन्होंने जिस विराटता से समझा था वह हमें आज भी हैरान करता है। अपने मशहूर उपन्यास 'आग का दरिया' में उनके इस चिन्तन और समझ को हम देख सकते हैं। गौतम नीलांबर और कमाल रजा जैसे उनके पात्रों के सुख-दुःख एक आधुनिक भारतीय के सुख-दुःख हैं। भारतीय पाठक ऐनी आपा को कभी भूल नहीं पायेंगे। 'जन विकल्प' की ओर से विनम्र श्रद्धांजलि।

- *सितंबर 2007*

अध्याय - 11

आस्था नहीं, वैज्ञानिक चेतना

पिछले कुछ दिनों से मेरे मन में बार-बार यह बात आ रही है कि हम कहां जा रहे हैं। एक तरफ मुल्क में वैज्ञानिक तकनीकी संस्थानों का जाल बिछ रहा है जिसमें लाखों युवा विज्ञान और तकनीक की उम्दा पढ़ाई कर रहे हैं, दूसरी ओर हमारी सामाजिक प्रवृत्तियों में धर्मान्धता, कट्टरता और अवैज्ञानिकता का जोर बढ़ता जा रहा है। जब हमारी पीढ़ी तरूणाई में थी तब इक्कीसवीं सदी का सुनहला स्वप्न देखती थी। हम समझते थे इस स्वप्निल सदी में वर्ग तो शायद कुछ रह जाए, वर्ण और जाति का कोई अस्तित्व नहीं रहेगा। समाज में ज्यादा समानता होगी, न्याय होगा। पंडे और मुल्ले अजायब घरों की चीज हो जायेंगे। इनकी जगह प्रखर बौद्धिक आध्यात्मिक गुरू ले लेंगे। आदि..आदि..

लेकिन जो हुआ सो आपके सामने है। सुनहला स्वप्न, दुःस्वप्न की तरह हमें डरा रहा है। वर्ग, वर्ण, जाति सब की खाई बढ़ी है। असमानता बढ़ी है। पंडे और मुल्ले तो अब राजनीति से लेकर साहित्य तक की पहरेदारी कर रहे हैं। वे बड़ी संख्या में विधान सभाओं और संसद में पहुंच चुके हैं। 1950 के दशक में एक धर्म भीरू राष्ट्रपति ने जब बनारस में पंडों के पैर धोये थे, तब समाजवादी चिंतक डॉ. राममनोहर लोहिया ने इसके खिलाफ आंदोलन छेड़ दिया था। आज मंत्री और मुख्यमंत्री खुलेआम ऐसी बेशर्मी कर रहे हैं और कोई इनके खिलाफ एक बयान तक नहीं देता।

मुझे बड़ा झटका तब लगा, जब पिछले दिनों सेतुसमुद्रम् मामले में राष्ट्र की संचित मूर्खता बलबला कर सामने आयी। जिस रोज विश्व हिंदू परिषद ने इसके खिलाफ राष्ट्रव्यापी बंद का आयोजन किया था, मैं दिल्ली में था। मुझे आवश्यक कार्यवश एक जगह जाना था, लेकिन नहीं जा सका, क्योंकि जगह-जगह विहिप का बैनर लगाये भाजपायी रंगरूट राह रोके हुए थे। अपने कमरे

में टी.वी पर मैं समाचार देख रहा था। राष्ट्र की 'विराट' मूर्खता के 'भव्य' दर्शन से मैं अचंभित था। यह एक नया भारत था, या कहें इक्कीसवीं सदी के भारत की यह नयी अंगड़ाई थी।

फिर तो मूर्खता की प्रतियोगिता शुरू हो गयी। भारतीय पुरातात्विक सर्वेक्षण के अधिकारियों ने सर्वोच्च न्यायालय में हलफनामा दायर किया कि राम के सम्बंध में हमारे पास कोई पुरातात्विक साक्ष्य नहीं हैं। उन अधिकारियों ने वही कहा था जो सच था। लेकिन इसे लेकर मारा-मारी शुरू हो गयी। जिन्ना के बारे में एक टिप्पणी देकर अपने घराने में अपना राजनीतिक स्वत्व खो चुके आडवानी को लगा कि यही मौका है कि पुनः धर्मान्धता की दीक्षा ले ली जाय। वे आगे आये और भारतीय पुरातात्विक सर्वेक्षण और केंद्र सरकार पर हमला किया। केंद्र सरकार की दादी अम्मा को लगा कि यही मौका है अपनी विदेशी मूल को देशी चासनी में डुबोने का। उन्होंने कट्टरता और दिमागी दिवालियेपन के सामने खुद को वैसे ही बिछा दिया जैसे उनके दिवंगत पति ने शाहबानों मामले में मुस्लिम कट्टरपंथियों के सामने खुद को बिछा दिया था। समाजवादी घरानों से आये राजनेताओं को लगा कि लोहिया जी भी तो रामायण मेला लगाते थे। जो हो रहा है, सो होने दो। ऐसी चीजों पर ज्यादा मगज लगाना ठीक नहीं। देश के कवियों, लेखकों, संपादकों में से भी मेरे जानते कोई सामने नहीं आया कि पूरे मामले को तर्क और बुद्धि के चश्मे से देखा जाय। मूर्खता के इस जलजले से सब सहमे हुए थे। राम हमारी आस्था के चीज हैं। उनकी रक्षा तो होनी चाहिए। कुल मिलाकर यही भाव सामने आया।

मैं भी रामायण का बहुत बड़ा प्रशंसक हूं। दुनिया भर में मेरे जानते किसी भी भाषा में वैसी कृति नहीं है, जैसी कि रामायण है। हमारे देश का दुर्भाग्य है कि उसे केवल राम की कथा के रूप में स्वीकार किया गया है। रामायण में जो शाश्वत सत्य है, वह यह कि राजपद व्यक्ति को भ्रष्ट बनाता है। किसी भी महापुरुष को वह राजत्व से बचने की सलाह भी देती है। रामायण के नायक पुरुष राम को लें। वह जब तक राजपद से दूर रहते हैं, बहुत ही प्रगतिशील हैं। आयोनिजा सीता, जो जनक को खेत में लावारिश मिली थीं, उनसे विवाह करते हैं राम। संभवतः संस्कारों का यह शिव धनुष था, जिसे तोड़ने से तमाम राजा सकुचा रहे थे और जनक को लगने लगा था कि सीता अब कुआंरी रह जायेगी। आज के इस प्रगतिशील जमाने में भी ऐसी लड़की से विवाह करने के लिए कितने युवा तैयार होंगे, इसे आप समझ सकते हैं। शायद इस विवाह के कारण भी राम को अयोध्या का अभिजात् तबका स्वीकार नहीं कर सका और उन्हें

वनवास की सजा मिली। अब वनवास को लीजिए। राम शबरी (जो वनवासिनी थी, आज की आदिवासी स्त्री) का जूठा बेर खाते हैं। वनवासियों के साथ ही रहते हैं। गरीब जनता के इस हद तक घुल-मिल जाते हैं कि एक साधारण गरीब-गुरबे की ही भांति उनकी स्त्री का भी अपहरण हो जाता है और तब राम आदिवासियों-वनवासियों की ही सेना तैयार करते हैं। (वह अयोध्या के भरत से सहायता नहीं मांगते) और लंका के रावण को पराजित कर सीता को मुक्त कराते हैं। यह राम के जीवन का एक अध्याय है जो बहुत ही प्रगतिशील तत्वों से जुड़ा हुआ है। एक बात ध्यान देने की यह भी है कि राम के इस जीवन का संस्कार विश्वामित्र ने किया है जो गैर-ब्राह्मण हैं।

लंका विजय के बाद राम अयोध्या के राजा ही नहीं बल्कि ब्राह्मण वशिष्ठ के पौरोहित्य से भी जुड़ जाते हैं और अब देखिए कि राम का पतन शुरू हो जाता है। सीता के लिए आठ-आठ आंसू रोने वाले और संग्राम करने वाले राम उसकी अग्नि परीक्षा लेते हैं और अंततः घर निकाला दे देते हैं। जो राम शबरी के झूठे बेर खाता था, अब शंबूक का सिर तराश लेता है और जिस राम की तुलसीदास ने 'रावण रथी, विरथ रघुबीरा' कहकर प्रतिष्ठा की है, वही राम अपने ही विरथ पुत्रों से रथी होकर संग्राम करता है। कोई आश्चर्य नहीं कि अपने ही पुत्रों के हाथ पराजित होने वाले राम ने सरयू में जल समाधि ले ली।

यह है राम का पतन। राजा बनकर राम, रावण से भी ज्यादा पतित हो जाता है। रामायण का यह अमर संदेश है कि यह राजपद व्यक्ति को भ्रष्ट बनाता है। मैंने तो इस रूप में रामायण को देखा है और उसे विश्व की अद्भुत साहित्यिक कृति मानता हूं।

आस्था विचित्र चीज है। जिन चीजों को हम विस्तार से नहीं जानते, उन्हीं चीजों के बारे में हम एक कल्पना कर लेते हैं और फिर यह कल्पना आस्था का रूप ले लेती है। गैलेलियो के जमाने में पादरियों का मानना था कि पृथ्वी ही केंद्र में है और सूर्य उसका चक्कर लगाता है। वे पृथ्वी को स्थिर और सूर्य को चलते हुए देखते रहे थे। विज्ञान की गहराई में गये बिना यह उनकी आस्था हो गयी थी। गैलेलियो ने दूरबीन (तकनीक) और विज्ञान से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर बतलाया कि पृथ्वी ही सूर्य का चक्कर लगाती है तब पादरी समूह समेत पूरे यूरोप के लोगों को लगा कि गैलेलियो यह क्या कह रहा है। गैलेलियो उसी इटली के थे जहां की सोनिया रही हैं। गैलेलियो को सच कहने के लिए एकांतवास की सजा मिली थी। बाद में गैलेलियो ने दबाव में आकर यह भी कहा कि मैंने जो कहा वह गलत है। लेकिन यूरोप ने गैलेलियो को एक प्रतीक

के रूप में लिया। गैलेलियो ने विश्व में तकनीकी क्रांति का सूत्रपात किया और आज की दुनिया गैलेलियो की दुनिया है, पादरियों की नहीं।

मैं भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के उन ईमानदार अधिकारियों की प्रशस्ति करना चाहता हूं जिन्होंने सर्वोच्च न्यायालय में ठीक-ठीक बात रखी। दूसरा हलफनामा तो गैलेलियो का दूसरा हलफनामा बनकर रह गया। आखिर उन्होंने क्या कहा? कुल मिलाकर उनकी बात यही थी कि राम के बारे में उनके पास पुरातात्विक साक्ष्य नहीं हैं। पुरातत्व इतिहास से जुड़ा विषय है। भारतीय इतिहास के विद्यार्थी यह जानते हैं कि न तो आदि, न प्राक् इतिहास में राम आते हैं, न ज्ञात इतिहास में। भारतीय इतिहास की ठोस शुरूआत हड़प्पा काल से होती है। फिर प्राक् वैदिक, वैदिक और उत्तर वैदिक काल आते हैं। अब वैदिक काल का पुरातात्विक प्रमाण मांगेंगे तो इतिहासकार ज्यादा से ज्यादा वेद-ग्रंथ दे सकेंगे। इंद्र या पुरंदर के वज्रास्त्र मेरे जानते नहीं मिले हैं। कभी मिल जायेंगे, तो इससे इतिहास में एक नया मोड़ आयेगा। पुरातात्विक सर्वेक्षण से जुड़े लोग उसे दिखला सकेंगे। सौ साल पहले हमारे पास हड़प्पा, बुद्ध, अशोक आदि के पुरातात्विक साक्ष्य नहीं थे। उस समय सर्वेक्षण से यदि इनके प्रमाण मांगे जाते तो वे यही कहते कि हमारे पास ठोस प्रमाण नहीं हैं। नालंदा, विक्रमशिला, कुम्हरार जैसी खुदाइयां सौ साल के भीतर की हैं। इन खुदाइयों से इतिहास के अध्ययन और सोच में मोड़ आये हैं। यदि भविष्य में राम, हनुमान और सीता के पुरातात्विक साक्ष्य मिले तो उससे भी इतिहास में मोड़ आयेंगे और तब भारतीय पुरातात्विक सर्वेक्षण दिखला सकेगा कि यह राम की अस्थि है और यह जनक का शिव धनुष। लेकिन अभी आप भारतीय पुरातात्विक सर्वेक्षण से यह आशा क्यों करते हैं कि वह कहीं-न-कहीं से कोई प्रमाण दे ही। गलती तो सर्वोच्च न्यायालय की है जो उसने राम को लौकिक दायरे में लाने की कोशिश की। लोग जिस आस्था की बात करते हैं उसे पहले सर्वोच्च न्यायालय ने ही तोड़ा है। लोग इतने कायर हैं कि डर से सच कहना नहीं चाहते। उन्हें संविधान द्वारा दिये गये अभिव्यक्ति के अधिकार का वाजिब इस्तेमाल करना भी नहीं आता।

इसी अंक में राम और रामायण पर दो लेख दिये जा रहे हैं। श्री सुरेश पंडित का लेख रामायण पर द्रविड़ आंदोलन के नेता पेरियार ई.वी. रामास्वामी के नजरिये को सामने रखता है, तो कवि दिनकर का लेख राम कथा के विविध पक्षों को दर्शाता है। राम को लेकर हमारे यहां अनेक काव्य लिखे गये। वे हमारे मिथक हैं। जो लोग मिथकों को इतिहास में शामिल करना चाहते हैं, वे नहीं

जानते कितनी मूर्खता कर रहे हैं। मिथक हमें परिकल्पनात्मकता प्रदान करते हैं। बुद्ध या मार्क्स या गांधी मिथक नहीं हो सकते। उन्हें जब हम मिथक बनाना चाहेंगे तो यह भी मूर्खता होगी।

राम का सबसे खूबसूरत प्रयोग भक्तिकाल के शूद्र कवियों ने किया। राम का नाम लेकर वे जातिवाद और ब्राह्मणवाद पर हमला कर रहे थे। पर उनके राम दशरथनंदन राम नहीं थे। आडवानी और सोनिया ने, सर्वोच्च न्यायालय और विहिप-भाजपा की मंडली ने कभी एक बार कबीर के राम पर भी विचार किया है? हम बार-बार किसी असभ्य घटना को मध्ययुगीन घटना बता कर उपहास करते हैं। लेकिन अपने सोच में हम मध्ययुग से पीछे जा रहे हैं। बुद्ध और महावीर के युग से भी पीछे। राम को लेकर, रामायण को लेकर कोई सांस्कृतिक बहस होगी तो उससे हमारे समाज को सांस्कृतिक उर्जा मिलेगी। लेकिन विमर्श और बहस की संस्कृति तो विकसित हो। पूजा और आस्था से केवल अंधविश्वास फैलेगा और यह अंधविश्वास समाज को अन्याय और असमानता के गह्वर में धकेल देगा।

- *अक्टूबर-नवंबर 2007*

भाग – 2

अध्ययन कक्ष

अध्याय - 12

बौद्ध दर्शन के विकास व विनाश के षड्यंत्रों की साक्षी रही पहली सहस्राब्दी

तुलसी राम

'मैंने तुझे नौका दी थी नदी पार करने के लिए न कि पार होने के बाद सिर पर ढोने के लिए।' बुद्ध की इस उक्ति से उनके तर्क-संगत दर्शन की साफ झलक मिल जाती है। उनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण शिक्षा यह थी कि सत्य को पहले तर्क की कसौटी पर परखो, फिर उसमें विश्वास करो। इसे उन्होंने अपनी शिक्षाओं पर भी लागू किया। उन्होंने साफ कहा कि मेरी बात इसलिए नहीं मानो कि मैं स्वयं (बुद्ध) कह रहा हूं, बल्कि 'सत्य हो' तभी मानो। अब तक इस धरती पर किसी दार्शनिक या ईश्वर ने अपने बारे में ऐसा नहीं कहा।

ढाई हजार वर्ष पूर्व जब बुद्ध के विचार विकसित हुए उस समय भारत में कुल 62 विचारधाराओं के मत केन्द्र प्रचलित थे, जिनमें ऊंच-नीच पर आधारित वैदिक विचारधारा सर्वोपरि थी। इस तथ्य की ज्वलंत पुष्टि संघ परिवार द्वारा शासित गुजरात के नवीं कक्षा के 'सामाजिक अध्ययन' नामक पाठ्यक्रम से होती है, जिसमें कहा गया है : 'वर्ण-व्यवस्था आर्यों द्वारा मानव जाति को दिया गया एक अमूल्य उपहार है।' यदि सही मायनों में देखा जाए तो इसी ऊंची-नीच पर आधारित वर्ण व्यवस्था के विरोध में तथागत बुद्ध का दर्शन विकसित हुआ। यही कारण था कि आर्य संस्कृति की रक्षा करने का नारा देने वाले तत्वों ने हर सदी में बौद्ध धर्म को नष्ट करने का षड्यंत्र जारी रखा। इसी षड्यंत्र के तहत आज का 'संघ परिवार' स्कूली पाठ्यक्रमों में आर्य संस्कृति का गुणगान करते हुए एक तरफ वर्ण व्यवस्था को न्यायोचित ठहरा रहा है, तो दूसरी ओर बौद्ध धर्म को रोकने का प्रयास कर रहा है।

यदि विश्व स्तर पर देखा जाय तो बुद्ध के समय में चीन में कनफ्यूसियस विचार तथा ईरान में जोरोस्टर या जर्तुस्ती विचारधारा का बोलबाला था। बाकी

दुनिया ग्रीस को छोड़कर लगभग विचार शून्य ही थी। उस समय भारत सैकड़ों रियासतों में बंटा हुआ था तथा हर एक दूसरे के खून के प्यासे थे। स्वयं बुद्ध के पिता शक्यवंशीय शुद्दोधन की राजधानी कपिलवस्तु हमेशा से पासवर्ती राज्य कोसल के निशाने पर थी। अंततोगत्वा कोसल के राजा विदुदाभ ने शाक्यों को बर्बाद कर दिया तथा बुद्ध की प्रिय स्थली श्रावस्ती के राजा प्रसेनजित को अपने ही बेटे ने पदच्युत कर दिया। प्रसेनजित बुद्ध के प्रशंसक मगध सम्राट अजातशत्रु से सहायता के लिए भागा, किन्तु रास्ते में ही मर गया। एक तरफ ऐसा अशांत वातावरण तो दूसरी ओर जिसे आर्य संस्कृति कहा जाता है, उसके तहत वर्ण व्यवस्था-जन्य ऊंच-नीच का भेदभाव, वैदिक कर्मकाण्डों के चलते हजारों पशुओं, जिनमें गाय भी शामिल थी, की बलि, नरबलि, घातक हथियारधारी भगवानों का भय, पुनर्जन्म का मिथकीय आविष्कार, आत्मा का अमरत्व, अंधविश्वास तथा युद्धोन्माद आदि का बोलबाला था। तथागत बुद्ध के दर्शन ने इन्हीं मान्यताओं के विरूद्ध शीघ्र ही एक विश्वव्यापी आंदोलन का रूप ले लिया। हैरत सिर्फ इस बात पर होती है कि बुद्ध का यह महान दर्शन चीन, जापान, श्रीलंका, वर्मा, थाईलैंड, वियतनाम, कम्बोडिया, लाओस, मध्य एशिया, साइबेरिया समेत लगभग समस्त एशिया, तथा दुनिया के अन्य लाखों लोगों के बीच आज भी विकासमान है, किन्तु सदियों पहले अपनी जन्मभूमि भारत में क्यों विलुप्त हो गया? हकीकत यह है कि आर्य संस्कृति के पालकों ने भारत में बौद्ध धर्म की हत्या कर दी। आज बौद्ध धर्म के बढ़ते प्रभाव से पीड़ित होकर आर्य-पूजक लोग उसे हिन्दू धर्म का अभिन्न अंग सिद्ध करने का विश्वव्यापी अभियान चला रहे हैं। यहां प्रश्न यह उठता है कि यदि हिन्दू धर्म तथा बौद्ध धर्म एक हैं, तो फिर विश्व भर के लोगों ने बौद्ध धर्म के बदले हिन्दू धर्म को क्यों नहीं अपनाया? जाहिर है, वर्ण व्यवस्था तथा ऊंच-नीच के कारण हिन्दू धर्म कहीं और नहीं फैला। विदेशों में यह सिर्फ प्रवासी भारतीयों तक सीमित है। एक समय था जब दुनिया की एक-तिहाई आबादी बौद्ध थी। अनेक हिन्दू इतिहासकार यह दावा पेश करते हैं कि अफ्रीकी देश मारीशस हिन्दू देश है किन्तु वहां वर्ण व्यवस्था नहीं है। इस संदर्भ में सर्वाधिक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि करीब 170 वर्ष पहले अंग्रेजों ने भारत से हजारों दलितों तथा अति पिछड़ी जातियों के लोगों को मारीशस में मजदूरी कराने के लिए जबरन भेजा था, जो वहीं बस गये तथा बाद में वे स्वयं वहां के शासक बन बैठे। असलियत यह है कि वहां आर्य संस्कृति के पोषक, विशेष रूप से ब्राह्मण तथा क्षत्रिय नहीं पहुंच सके, इसलिए मारीशस में वर्ण व्यवस्था उस रूप में नहीं जा सकी,

जिस रूप में वह अभी भी भारत में है।

जहां तक बौद्ध धर्म का सवाल है, यह अन्य धर्मों की तरह नहीं है। बुद्ध ने इसे हमेशा 'धम्म' कहा। पाली में 'धम्म' का अर्थ सिद्धांत होता है, किन्तु संस्कृत में गलत अनुवाद करके इसे 'धर्म' बना दिया गया। बुद्ध के दार्शनिक विचार मूल रूप से आर्य-सांस्कृतिक मान्यताओं के विरूद्ध ईश्वर को न मानने, आत्मा के अमरत्व को इनकार करने, किसी ग्रंथ को स्वतः प्रमाण न मानने तथा जीवन को सिर्फ इसी शरीर तक सीमित मानने से संबद्ध थे। एक बार आत्मा तथा पुनर्जन्म पर दो भिक्षुओं के बीच चल रही गहन बहस में हस्तक्षेप करते हुए बुद्ध ने कहा कि जिस किसी भी वस्तु का जन्म होता है, उसका विनाश अवश्यंभावी है, किन्तु उस रूप में नहीं, उसका रूप बदल जाता है, जिसे बुद्ध ने 'प्रतीत्य-समुत्पाद' कहा तथा जिसमें आत्मा के लिए कोई स्थान नहीं है। इसे और भी साफ करते हुए बुद्ध ने कहा कि किसी भी जीवधारी की मृत्यु के साथ ही उसका हमेशा के लिए व्यक्तिगत विलोप हो जाता है, जिसे निर्वाण कहते हैं, अर्थात् पुनर्जन्म से संपूर्ण मुक्ति। यही प्रतीत्य-समुत्पाद बुद्ध के दर्शन की एकमात्र कुंजी है, जिसके कारण दुनिया के अनेक वैज्ञानिक दार्शनिकों ने उन्हें विश्व का पहला वैज्ञानिक बताया।

बुद्ध इस दुनिया को ईश्वर की कृति नहीं मानते थे। उनका तर्क यह था कि घड़ा मिट्टी का रूपान्तर है अर्थात मिट्टी का गुण घड़े में चला गया। इसी तरह यदि शिशु पैदा होता है, तो वह अपने मां-बाप का रूपान्तर हो जाता है, न कि किसी ईश्वर की कृति का। मनुष्य अत्याचारी तथा दुःखदायी होता है, इसलिए मानव समाज का प्रचण्ड बहुमत दुःखी रहता है। यदि मनुष्य ईश्वर का रूपान्तर है तो ईश्वर स्वयं अत्याचारी एवं दुःखदायी है। यदि ईश्वर वैसा नहीं है तो मनुष्य उसका रूपान्तर या कृति भी नहीं है। इसी दार्शनिक पृष्ठभूमि में बुद्ध ने बौद्धगया में महाज्ञान प्राप्त करके दुःख है, दुःख का कारण है, दुःख का निवारण है तथा दुःख से मुक्ति है, का रहस्य ढूंढ निकाला। उनके दार्शनिक विचार शीघ्र ही अन्य विचारों पर हावी होकर उनके जीवनकाल में ही सारी दुनिया में फैल गये। बुद्ध के समकालीन राजा बिम्बसार, अजातशत्रु तथा प्रसेनजित ने बौद्ध धर्म के विकास में बहुत महत्वपूर्ण योगदान दिया, किन्तु ईसा पूर्व तीसरी सदी में सम्राट अशोक ने इसे विश्वव्यापी बनाने का चमत्कारिक काम किया। अशोक के प्रयासों से श्रीलंका से लेकर यूनान तक बौद्ध धर्म की गूंज सुनायी देने लगी।

इस तरह हम देखते हैं कि ईसा पूर्व की अर्द्ध सहस्राब्दी बौद्ध धर्म के उत्तरोत्तर विकास की अवधि थी। इस बीच पुष्यमित्र तथा मिहिरकुल दो ऐसे

शासक हुए, जिन्होंने बौद्ध धर्म को समूल नष्ट करने की कोशिश की। पुष्यमित्र ने अंतिम मोर्य बौद्ध सम्राट बृहद्रथ को ई.पू. 187 में मार कर शुंगवंश की स्थापना की थी। पुष्यमित्र बृहद्रथ का सेनापति था। सोलवहीं सदी के महान तिब्बती बौद्ध भिक्षु तथा इतिहासकार तारानाथ के अनुसार पुष्यमित्र बौद्ध धर्म का घनघोर दुश्मन था तथा उसने मध्य प्रदेश से लेकर पंजाब के जालंधर तक सैकड़ों बौद्ध मठों को ध्वस्त करने के साथ-साथ अनेक विद्वान भिक्षुओं की हत्या कर दी थी। पुष्यमित्र ने पाटलीपुत्र के विख्यात मठ कुक्कुटराम को भी ध्वस्त करने की कोशिश की थी, किन्तु अंदर से सिंह के दहाड़ने जैसी आवाज सुनकर वह भाग गया। पुष्यमित्र ने वैदिक कर्मकाण्डों तथा ब्राह्मणों के वर्चस्व को पुनर्जीवित करने का अथक प्रयास किया था। इसी तरह हूण शासक मिहिरकुल ने छठी ईसवी में कश्मीर से लेकर गान्धार तक बौद्ध मठों की भयंकर तोड़फोड़ की। प्रख्यात चीनी बौद्ध यात्री, ह्नवेन सांग के अनुसार मिहिरकुल ने 1600 मठों को ध्वस्त कर दिया था। वह भारत आकर शिवपूजक बन गया था।

ईसा मसीह के जन्म के पूर्व बौद्ध धर्म की गूंज येरुशलम तक पहुंच चुकी थी। यही कारण है कि बुद्ध की करुणा तथा शांति की झलक बाइबिल में साफ दिखायी देती है। अनेक यूरोपी विद्वानों ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि बुद्ध का ईसा मसीह पर गहरा प्रभाव पड़ा था, विशेष रूप से उनका चर्च-सिस्टम बौद्ध मठों का प्रतिरूप है। ईसा की प्रथम सहस्राब्दी में बौद्ध धर्म का दार्शनिक विकास बड़ी तेजी से हुआ। इसे बौद्ध दार्शनिकों की सहस्राब्दी कहा जाए, तो अनुचित न होगा। पहली सदी से लेकर हजारहवीं सदी के बीच अश्वघोष, नागार्जुन, आर्यदेव, मैत्रेय, असंग, वसुबन्धु, दिग्नाग, धर्मपाल, शीलभद्र, धर्मकीर्ति, देवेन्द्रबोधि, शाक्यबोधि, शान्त रक्षित, कमलशील, कल्याणरक्षित, धर्मोत्तराचार्य, मुक्तकुंभ, रत्नकीर्ति, शंकरानंद, शुभकार गुप्त तथा मोक्षकार गुप्त आदि अनेक बौद्ध दार्शनिक पैदा हुए। अश्वघोष ने प्रथम सदी में वर्ण व्यवस्था के विरूद्ध 'वज्रसूची' (हीरे की सुई) नामक संस्कृत काव्य लिख कर ब्राह्मणवाद की नींव हिला दी थी। उक्त बौद्ध दार्शनिकों में नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु, दिग्नाग तथा धर्मकीर्ति ने बौद्ध तर्कशास्त्र (लॉजिक) को वैज्ञानिक ऊंचाईयों तक पहुंचाते हुए हिन्दू तर्कशास्त्रियों को मूक बना दिया था। 'माध्यमक' लिख कर नागार्जुन 'शून्यवाद' के प्रवर्तक बने। वे बुद्ध के अनात्मवाद को शून्यवाद कहते थे। वे पूंजीवाद के भी प्रबल विरोधी थे। उन्होंने अपने समकालीन सत्वाहन राजा यज्ञश्री को एक पत्र

लिखकर सारे धन को भिक्षुओं, गरीबों तथा मित्रों को दान में बांट देने का आग्रह किया था। नागार्जुन दूसरी सदी के दार्शनिक थे। चौथी सदी के पेशावर निवासी असंग अद्वैत विज्ञानवाद के प्रवर्तक थे। उनके छोटे भाई वसुबन्धु थे, जिन्होंने अयोध्या में रहकर बौद्ध त्रिपिटक के सार के रूप में 'अभिधम्म कोश' की रचना की थी। दिग्नाग पांचवीं सदी के दार्शनिक थे। वे बौद्ध तर्कशास्त्र तथा ज्ञान मीमांसा के सबसे महान प्रवर्तक थे। रूस तथा विश्व के अति विशिष्ट बौद्ध दार्शनिक श्चेर्वात्सकी ने इस तथ्य का रहस्योद्‌घाटन किया है कि यदि दिग्नाग जैसे दार्शनिकों ने बौद्ध लॉजिक को विकसति नहीं किया होता, तो तथाकथित 'हिन्दू लॉजिक' कभी पैदा ही नहीं होता, क्योंकि हिन्दू दार्शनिकों ने बौद्धों की तर्कसंगत तर्कणा के विरोध में अपनी लॉजिक विकसित की थी। इसका सबसे बड़ा उदाहरण यह है कि सातवीं-आठवीं सदी के दो अति महत्वपूर्ण हिन्दू दार्शनिक कुमारिल भट्ट तथा आदि शंकराचार्य का सारा दर्शन बौद्धों के खण्डन-मण्डन पर आधारित है। बौद्धों की दार्शनिक परंपरा में सातवीं सदी के सबसे महान दार्शनिक धर्मकीर्ति थे, जिन्होंने दिग्नाग के प्रमाण शास्त्र को आगे विकसित करते हुए अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्रमाणवार्तिकम्' की रचना की। श्चेर्वात्स्की ने धर्मकीर्ति की तुलना जर्मन दार्शनिक कान्ट से की है। धर्मकीर्ति को तत्कालीन नालन्दा बौद्ध विश्वविद्यालय के कुलपति तथा उद्भट विद्वान भिक्षु धर्मपाल ने भिक्षु बनाया था। धर्मकीर्ति ने 'न्याय बिन्दु' लिखकर न्याय दर्शन को सर्वाधिक संपन्न बताया तथा उन्होंने अपने समय के तमाम ब्राह्मणों को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा था और जिसने भी उनके साथ शास्त्रार्थ किया, हार गया। इन हारे हुए वैदिक विद्वानों में कुमारिल भट्ट भी शामिल थे, जो शर्त के अनुसार नालंदा में बौद्ध भिक्षु बन कर धर्मपाल के शिष्य बन गये थे। किन्तु बाद में कुमारिल भट्ट की विजय को वैदिक कर्मकांडों की विजय समझा गया। अतः उन्होंने बौद्ध धर्म को नष्ट करने का हिंसक अभियान चलाया। कुमारिल भट्ट ने बौद्ध धर्म को 'फटा दूध' कहकर उस पर यह आरोप लगाया कि उसके चक्कर में आकर विभिन्न राजाओं ने वैदिक कर्मकांडों को नष्ट कर दिया था। हकीकत यह है कि बौद्ध धर्म ने हिंसा के बल पर कभी कोई परिवर्तन नहीं किया, बल्कि तर्कसंगत मस्तिष्क परिवर्तन के माध्यम से वैदिक कुरीतियों को बदला था, जबकि कुमारिल भट्ट ने स्वयं विभिन्न राजाओं को उकसा कर बौद्ध धर्म को समूल नष्ट करने का अभियान चलाया था, जिसमें आदि शंकराचार्य भी शामिल हो गये थे। शंकराचार्य दर्शन के प्रचारक स्वामी अपूर्नानन्द जी द्वारा मूलरूप से बांग्ला भाषा में लिखित तथा रामकृष्ण मठ द्वारा अधिकारिक रूप

से प्रकाशित शंकराचार्य की आत्मकथा 'अचार्य शंकर' में प्रस्तुत यह तथ्य विचारणीय है, जिसमें कहा गया है – 'कुमारिल की इस विजय ने समस्त भारत के लोगों में वैदिक धर्म के नवजागरण की सृष्टि की। उस समय के मगध राज आदित्य सेन ने उस विजय को गौरवान्वित करने के लिए विशेष ठाट-बाट से कुमारिल भट्ट को प्रधान पुरोहित रख कर एक विराट अश्वमेघ यज्ञ का अनुष्ठान किया। गौड़ देश (बंगाल) के हिन्दू राजा शशांक नरेन्द्र वर्धन वैदिक धर्म के अनुरागी थे। उन्होंने मौका पाकर हिन्दू धर्म के विजय अभियान के यज्ञ में बोध गया के जिस बोधि वृक्ष के नीचे बैठकर तथागत ने सिद्धि प्राप्त की थी, उस बोधिद्रुम को काट डाला और बौद्ध मंदिर पर अधिकार स्थापित कर बुद्धदेव की मूर्ति को दिवाल उठा कर बंद कर दिया। केवल इतना ही नहीं, उन्होंने तीन बार उस वृक्ष के मूल को खोद कर उसे समूल नष्ट कर दिया। कुमारिल भट्ट ने उत्तर भारत में सर्वत्र विजयी होकर बुद्ध और जैन धर्मों के प्राधान्य को नष्ट किया..।'

कुमारिल भट्ट ने 'श्लोक वार्तिका', 'तंत्र वार्तिका' तथा 'तुप्तिका' नामक ग्रंथों को लिखकर वैदिक कर्मकाण्डों को चमत्कारित किया। उनके बौद्ध विनाश के अधूरे कार्य को शंकराचार्य ने पूरा किया। शंकराचार्य ने बौद्ध दर्शन को खण्डित करने के लिए अपनी प्रसिद्ध रचना 'ब्रह्मसूत्र भाष्य' को दिग्नाग के विज्ञानवाद, धर्मकीर्ति के बौद्ध न्याय तथा नागार्जुन के माध्ययक (शून्यवाद) के विरुद्ध खड़ा किया। शंकराचार्य ने बड़ी चालाकी से बौद्ध धर्म के विरूद्ध अभियान चलाया था, यहां तक कि जनता में भ्रम पैदा करने के लिए उन्होंने अपनी पुस्तक 'दसावतान स्न्नानेत' में बुद्ध वन्दना में एक श्लोक भी लिखा, जिसमें बुद्ध को सबसे बड़े योगी के रूप में प्रस्तुत करते हुए ध्यानमग्न अवस्था में उनके नेत्रों के नासिका पर उतरने का उन्होंने जिक्र किया है। शंकराचार्य ने बुद्ध को अपने मस्तिष्क का परिचालक भी बताया है, किन्तु दूसरी तरफ उन्होंनें बौद्ध स्थलियों को नेस्तोनाबूद करने का अभियान भी चलाया। प्रख्यात स्वतंत्रता सेनानी तथा इतिहासकार विश्वंभर नाथ पाण्डे ने लिखा है कि बौद्ध विरोधी राजा 'सुधन्वा की सेना के आगे-आगे शंरकाचार्य चलते थे। स्मरण रहे कि उज्जैन के राजा सुधन्वा ने अनगिनत मठों को धवस्त कराया था। जिन चार पीठों की स्थापना शंकराचार्य ने की, वहां पुराने बौद्ध मठ हुआ करते थे, आचार्य शंकर का तथाकथित 'विश्व विजय' अभियान कुछ और न होकर वास्तव में बौद्धों के ऊपर हिंसक विजय का अभियान था। शंकर ने इसे 'विश्व विजय' इस लिए कहा था, क्योंकि उनके समय (आठवीं सदी) तक बौद्ध धर्म विश्व

के दर्जनों देशों में फैल चुका था। इस तरह हम देखते हैं कि पहली सहस्राब्दी जहां एक ओर बौद्ध दर्शन के विकास के रूप में उमड़ कर सामने आयी, वहीं दूसरी ओर कुमारिल भट्ट तथा शंकराचार्य ने उसके विनाश की ठोस नींव भी डाली। इस तरह पांचवीं सदी से दसवीं सदी के बीच वर्ण व्यवस्था पर आधारित ब्राह्मणवाद या आधुनिक हिन्दुत्व की नींव पड़ी। यह वही समय था जब वर्ण व्यवस्था को ईश्वरीय ठहराने वाले अनेक हिन्दू ग्रंथों की रचना की गयी, जिनमें याज्ञवल्क्य स्मृति, मनुस्मृति, गीता, महाभारत, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, वाल्मीकि रामायण तथा सारे पुराण आदि शामिल थे। इन सारे ग्रंथों में वर्ण व्यवस्था को ईश्वरीय ठहराते हुए बौद्ध दर्शन पर हमला किया गया है, किन्तु अक्सर बुद्ध का जिक्र किए बिना। एक भी हिन्दू ग्रंथ ऐसा नहीं है, जिसमें वर्ण व्यवस्था को ईश्वरीय न कहा गया हो। हिन्दू लोग इन ग्रंथों को ईश्वर के मुख से निकला अनन्तकालीन कहकर रहस्यमयी सिद्ध करने का सतत प्रयत्न करते रहते हैं, किन्तु एक अकाट्य सत्य यह है कि चूंकि बौद्ध दर्शनिकों ने हमेशा वर्ण व्यवस्था का विरोध किया, इसलिए उसे पुनर्जीवित करने के उद्देश्य से ब्राह्मणों ने नये ग्रंथों की रचना करके उन्हें 'इश्वरीय' बना दिया, जबकि ये सारे ग्रंथ बुद्ध के बाद के हैं। वर्ण व्यवस्था को दैवी ठहराने वाले इन तमाम हिन्दू ग्रंथों के रचनाकाल को निर्धारित करने की यह सबसे बड़ी कुंजी है। अन्यथा, इन ग्रंथों में बौद्धों का जिक्र कैसे आता? गीता का अठारहवां अध्याय सिर्फ वर्ण व्यवस्था को ईश्वरीय बताने के लिए लिखा गया। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में शूद्र विरोधी कानून हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति में बौद्धों के दर्शन को अपशकुन बताया गया है। वाल्मीकि रामायण में बौद्धों को चोरों की तरह दण्ड देने की बात है। मनुस्मृति की तो बात ही कुछ और है।

इस काल की एक खास बात यह है कि जहां एक तरफ ब्राह्मणों ने लाखों बौद्ध भिक्षुओं का कत्लेआम कराया तथा बौद्ध मठों को ध्वस्त करने के बाद बचे-खुचे को मंदिरों में बदल दिया था, वहीं इस कुत्सित उद्देश्य के साथ बड़ी चालाकी से बुद्ध के प्रति तथाकथित 'आत्म सात्करण' के सिद्धान्त को अपनाते हुए 'अग्निपुराण' में उन्हें विष्णु का अवतार घोषित कर दिया था। साथ ही, बुद्ध की नैतिक शिक्षाओं को अपना बनाकर ब्राह्मणों ने लोगों के समक्ष पेश करना शुरू कर दिया। उन्होंने पाली भाषा को प्रतिबंधित कर दिया, क्योंकि बौद्ध धर्म के वर्चस्व के स्थापित होते ही वर्ण व्यवस्था का मिथकीय रूप बड़ी तेजी से लागू होने लगा। कालिदास जैसे संस्कृत कवियों ने बौद्धों के खिलाफ टिप्पणी की। उन्होंने 'मेघदूत' में 'दिग्नागिनाम् पथि परिहरन्' अर्थात दिग्नागों

के बताये गये रास्ते पर चलने से लोगों को मना कर दिया। स्मरण रहे कि महान बौद्ध दार्शनिक दिग्नाग का आम जनता में बहुत असर था, इसलिए कालिदास को उक्त टिप्पणी करनी पड़ी। संस्कृत साहित्य में बौद्धों के खिलाफ अनगिनत टिप्पणियां मिलती हैं। आत्मसात्करण के संदर्भ में एक ऐतिहासिक तथ्य यह है कि आज हिन्दू लोग गाय को 'गोमाता' कहकर गोहत्या पर प्रतिबंध लगाने की मांग करते हुए धार्मिक दंगा फैलाने का सतत प्रयत्न करते रहते हैं, किन्तु सदियों पहले ये हिन्दू वैदिक यज्ञों में हजारों गायों की न सिर्फ बलि चढ़ाते थे, बल्कि उसका मांस भी खाया करते थे। सर्वप्रथम तथागत बुद्ध ने ही इन बलियों के विरूद्ध संघर्ष चलाकर गोहत्या बंद करायी थी तथा उन्होंने स्वयं गाय को माता कहकर पुकारा था। 'दीर्घ निकाय' समेत अनेक बौद्ध ग्रंथों में इसके उदाहरण मिलते हैं। गोमाता तथा गोहत्या से संबंधित बुद्ध की शिक्षा को अपहृत करके ब्राह्मणों ने उल्टा आरोप बौद्धों पर लगा दिया कि वे गोमांस भक्षण करते हैं। बौद्धों के खिलाफ इस आरोप को ब्राह्मणों ने इतने बड़े पैमाने पर प्रचारित किया कि देश भर में बौद्ध बदनाम हो गये। वास्तविकता यह थी कि बुद्ध की शिक्षा के अनुसार भिक्षा में मिली किसी भी वस्तु को खाने का प्रावधान था, भले ही वह गोमांस क्यों न हो, किन्तु बुद्ध ने किसी जीव को मार कर खाने को कड़ाई से प्रतिबंधित किया था। इसके अनुसार बौद्ध भिक्षु भिक्षा में मिले किसी भी पशु मांस को खा लेते थे। स्वयं तथागत बुद्ध ने कुशीनारा में चुन्दक नामक लोहार द्वारा भोजदान में दिये गये सूअर के मांस को खाकर निर्वाण प्राप्त किया था। इस तरह बुद्ध की नैतिक शिक्षाओं को ब्राह्मणों ने उल्टा करके बौद्धों को हमेशा बदनाम किया।

ईसा की दूसरी सहस्राब्दी भारत में बौद्ध धर्म के लिए समापन की अवधि थी। इसके पहले ही भारत में इस्लाम पहुंच चुका था तथा सल्तनत स्थापित हो चुकी थी। मध्य एशिया से आने वाले मुस्लिम हमलावरों ने बौद्ध स्थलियों को तोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की, जिसके पीछे स्वार्थी ब्राह्मणों की भूमिका पथ प्रदर्शक की थी। बारहवीं-तेरहवीं सदी में बख्तियार खिलजी नाम एक हमलावर उत्तर भारत की उन समस्त बौद्ध स्थलियों पर गया, जिनका सीधा संबंध बुद्ध से था। उसने कुशी नगर की विश्व प्रसिद्ध सात मीटर लंबी सुनहरी मूर्ति को तीन टुकड़ों में तोड़कर फेंक दिया था। उसने ही नालंदा विश्वविद्यालय को जलाकर हमेशा के लिए राख कर दिया था। इसके पहले हिन्दू राजा शशांक ने नालंदा विश्वविद्यालय को जलाया था। बख्तियार ने उदान्तपुरी (बिहार शरीफ) के प्रख्यात बौद्ध मठ के विशाल टावर को किला समझ कर ध्वस्त

कर दिया, जिसमें सैकड़ों बौद्ध भिक्षु मारे गये तथा हजारों बौद्ध ग्रंथ खून से लथ-पथ होकर नष्ट हो गये। बचे-खुचे बहुमूल्य बौद्ध ग्रंथों को जीवित बचे कुछ भिक्षु अपने रक्त रंजित चीवरों में छिपाकर बर्मा, नेपाल तथा तिब्बत ले गये। स्मरण रहे कि हजरत मोहम्मद के समय बौद्ध पश्चिम एशिया में फैल चुका था, इसलिए वहां के अरबी भाषी लोगों ने 'बुद्ध पूजा' को गलत उच्चारण के कारण 'बुत पूजा' कहकर विरोध किया, जिसके चलते मुस्लिम हमलावार जहां भी गये, उन्होंने बुद्ध मूर्तियों को तोड़ डाला। मुस्लिम विजेताओं ने अफगानिस्तान से लेकर मध्य एशिया तक फैले बौद्ध धर्म को समूल नष्ट कर दिया।

बौद्धों की कीमत पर भारत में ईसाई तथा इस्लाम धर्म जरूर पनपा, जिसके कारण ए.एल. बाशम जैसे नामी इतिहासकारों ने हिन्दू धर्म को उदार कहकर अपनी श्रद्धांजली पेश की, जो सही नहीं है। हकीकत यह है कि इन दोनों धर्मों का विकास हिन्दू धर्म की उदारता के कारण नहीं, बल्कि उसके वर्ण व्यवस्थावादी कट्टरता के कारण हुआ। यदि हिन्दू धर्म उदार होता, तो इस धरती से उत्पन्न विश्व के सर्वश्रेष्ठ दर्शन बौद्ध धर्म को क्रूरता के साथ नष्ट नहीं करता। प्रसिद्ध भारतीय दार्शनिक देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय ने बौद्ध धर्म को भारतीय इतिहास का करिश्मा कहा है। अतः यह करिश्मा आज भी जारी है। हाल ही में एक अमरीकी मीडिया सर्वेक्षण में बौद्ध धर्म को सर्वाधिक तीव्र गति से पनपने वाला धर्म बताया गया। विगत कुछ वर्षों में यूरोप तथा अमरीका के हजारों रोमन कैथोलिकों ने बौद्ध धर्म को अपनाया है, जिनमें इटली के विश्व प्रसिद्ध फुटबाल खिलाड़ी राबर्टो बज्जियो तथा हालीबुड के सुपर स्टार रिचार्ड गेरे भी शामिल हैं। विगत दिनों रोम के एक अखबार को दिये गये एक साक्षात्कार में सोवियत संघ के पूर्व राष्ट्रपति गोर्वाचोव ने ठीक ही कहा – 'इक्कीसवीं सदी बुद्ध की सदी होगी।'

- अप्रैल, 2007

अध्याय – 13

प्राचीन भारत में वर्णव्यवस्था और भाषा

राजू रंजन प्रसाद

भाषा के बारे में मार्क्सवादी चिंतन यह है कि 'इसका निर्माण पूरे समाज के हितसाधन के लिए लोगों के पारस्परिक सम्पर्क-सूत्र के रूप में समाज के सभी सदस्यों के लिए हुआ है। पूरे समाज की एक भाषा होती है जो समाज के हर सदस्य का हितसाधन बिना उसकी वर्गीय स्थिति को ध्यान में रखे हुए करती है'।[1] किंतु प्राचीन भारतीय समाज में वर्णों के आधार पर भाषा-विधान प्रसिद्ध है।[2] प्राचीन भारतीय साहित्य के अध्ययन से निश्चित पता लगता है कि जातियों के अनुसार भाषा-विधान तथा व्यवहार प्रचलित था।[3] शायद इसलिए शताब्दियों तक साहित्य में प्राकृत को मान्यता नहीं मिल सकी और उसका तिरस्कार होता रहा।

प्राचीन भारतीय समाज में ब्राह्मण अथवा श्रेष्ठ लोग संस्कृत बोलते थे जबकि अन्य लोग प्राकृत। मार्कण्डेय के ग्रंथ में कोहल[4] का मत है कि यह प्राकृत राक्षसों, भिक्षुओं, क्षपणकों, दासों आदि द्वारा बोली जाती है। 'भरत' और 'साहित्य-दर्पण' में बताया गया है कि राजाओं के अंतःपुर में रहनेवाले आदमियों द्वारा मागधी व्यवहार में लाई जाती है। 'दशरूप' का भी यही मत है। 'साहित्य-दर्पण' के अनुसार मागधी नपुंसकों, किरातों, बौनों, म्लेच्छों, आभीरों, शकारों, कुबड़ों आदि द्वारा बोली जाती है। 'भरत' तक में बताया गया है कि मागधी नपुंसकों, स्नातकों और प्रतिहारियों[5] द्वारा बोली जाती है। 'दशरूप' में लिखा गया है कि पिशाच और नीच जातियां मागधी बोलती हैं और 'सरस्वतीकण्ठाभरण' का मत है कि नीच स्थिति के लोग मागधी प्राकृत काम में लाते हैं। 'मृच्छकटिक' में शकार, उसका सेवक स्थावरक, मालिश करनेवाला जो बाद में भिक्षु बन जाता है; वसन्तसेना का नौकर कुंभीलक वर्द्धमानक जो चारुदत्त का सेवक है, दोनों चाण्डाल, रोहसेन और चारुदत्त[6]

का छोटा लड़का मागधी में बात करते हैं। शकुन्तला नाटक में पृष्ठ 113 और उसके बाद, दोनों प्रहरी और धीवर, पृष्ठ 154 और उसके बाद शकुन्तला का छोटा बेटा 'सर्वदमन' इस प्राकृत में वार्तालाप करते हैं। 'प्रबोधचन्द्रोदय' के पेज 28 से 32 के भीतर चार्वाक का चेला और उड़ीसा से आया हुआ दूत, पृष्ठ 46 से 64 के भीतर दिगम्बर जैन मागधी बोलते हैं। 'मृच्छकटिक' के पृष्ठ 29 से 39 तक में जुआ-घर का मालिक और उसके साथ जुआरी जिस बोली में बातचीत करते हैं वह ढक्की[7] है।

कहना होगा कि प्राकृत केवल जैन या बौद्ध सम्प्रदाय (पालि के रूप में) की भाषा नहीं थी वरन् भील, कोल, शबर, दस्यु, चाण्डाल आदि तक में यह भाषा बोली जाती थी। आचार्य अभिनवगुप्त ने इसे अव्युत्पन्न (अनगढ़, ग्राम्य) जनभाषा कहा है।[8] संस्कृत चूंकि शिष्ट लोगों की भाषा थी, इसलिए इसे श्रेष्ठ आसन प्रदान किया गया। अकारण नहीं है कि कई विद्वान प्राकृतों को कृत्रिम कहते हैं और संस्कृत को इसका मूल बताते हैं। इसके प्रमाण में मार्कण्डेय, चण्ड तथा हेमचन्द्र आदि की 'प्रकृतिः संस्कृतम्' वाली उक्ति उद्धृत की जाती है[9] किंतु आज प्राकृत का मूल संस्कृत को बताना संभव नहीं है और भ्रमपूर्ण है।[10]

संस्कृत के वैयाकरणों ने शब्दकोशों की भी रचना की है इसलिए व्याकरण ग्रंथों की भांति शब्दकोश भी लीक पीटते नजर आते हैं। उदाहरण के लिए अपभ्रंश शब्द के लिए व्याकरण का सबसे पहला प्रयोग है–'अपशब्द'। अमरकोश, विश्वप्रकाश, मेदिनि, अनेकार्थसंग्रह, विश्वलोचन, शब्दरत्नसमन्वय तथा शब्दकल्पद्रुम आदि कोशों में अपभ्रंश का अर्थ 'अपशब्द' एवं 'भाषा विशेष' भी मिलता है। मेदिनि तथा अन्य कोशों में भी दोनों अर्थ मिलते हैं, पर अमरकोश में केवल अपशब्द अर्थ है।[11] संस्कृत व्याकरणशास्त्र के प्राचीन आचार्य व्याडि का मत उद्धृत करते हुए भर्तृहरि ने कहा है कि 'शब्द संस्कार से हीन शब्दों का नाम अपभ्रंश है।'[12] वैयाकरण इस तथ्य से अपरिचित न थे कि भाषा का स्वभाव ही अपभ्रंश है।[13] पर वे 'साधु भाषा' के पक्षपाती थे। जो शब्द शिष्टजनों के द्वारा व्यवहृत नहीं होता वह अवाचक है तथा ऐसे ही अवाचक शब्द जब प्रसिद्ध हो जाते हैं तब वे अपभ्रंश बन जाते हैं।[14] स्पष्ट है कि शिष्टाजनों के द्वारा प्रयुक्त न होने से तथा संस्कारहीन होने से अव्यवहारणीय शब्दावली को अपभ्रंश कहते हैं।[14] महाभाष्य में अपभ्रंश का उल्लेख तीन स्थलों पर तथा अपशब्द का प्रयोग कई बार हुआ है। महर्षि पतंजलि का अपशब्द से अभिप्राय व्याकरण के नियमों से पतित शब्द से है।

प्रायः 'म्लेच्छ' लोग अपशब्दों का व्यवहार करते हैं इसलिए ब्राह्मणों को अपशब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।[15] महाभाष्य के अध्ययन से पता लगता है कि उस समय म्लेच्छ आदि आर्येतर जातियां तथा निम्न श्रेणी की जातियां शब्दों को 'बिगाड़कर' सहज प्रवृत्ति के अनुसार उनका उच्चारण करती थीं। शिष्ट भाषा के आग्रही वैयाकरणों ने जब देखा होगा कि नीची जातियां भी एक शब्द के लिए कई अप्रसिद्ध तथा शब्दानुशासन से हीन शब्दों का व्यवहार करती हैं तो उसे आर्य जाति और भाषा से गिरा हुआ, अपभ्रष्ट तथा अपभ्रंश कहा होगा। वैयाकरण यह भलीभांति जानते थे कि समाज में अपशब्दों का चलन अधिक है और शब्दों का व्यवहार कम है। पतंजलि हमें स्पष्ट बताते हैं कि प्रत्येक शब्द के कई अशुद्ध रूप होते हैं। इन्हें उसने अपभ्रंश कहा है। उदाहरणार्थ–उसने गौ शब्द दिया है जिसके अपभ्रंश रूप गावी, गोणी, गोता और गोपातालिका दिये हैं।[16] जहां वैयाकरण शिष्टों के प्रयोग से हीन भाषा को अपभ्रंश कहते हैं वहीं साहित्यशास्त्री अश्लील तथा ग्राम्यपदों को सदोष मानते हैं और काव्य में उनका निषेध करते हैं। स्पष्ट ही निम्न वर्ग के लोगों के शब्द प्रयोग सुनने में बुरे लगते हैं और संभवतः इसीलिए वे काव्य में अनुचित माने जाते हैं। भोज ने भी कहा है कि लोक को छोड़कर और कहीं ग्राम्य प्रयोग नहीं चलते। अश्लील, अमंगल और घृणासूचक शब्द को ग्राम्य कहते हैं।[17]

ग्राम्य भाषा के प्रति शिष्टजनों की जो घृणा है उसे शूद्र शब्द के व्युत्पत्यर्थ निकालने के जो प्रयास हुए हैं, उससे समझा जा सकता है। सबसे पहले वेदांत सूत्र में बादरायण ने इस दिशा में प्रयास किया था। इसमें शूद्र शब्द को दो भागों में विभक्त कर दिया गया है–'शुक्' (शोक) और 'द्र' जो 'द्रु' धातु से बना है और जिसका अर्थ है दौड़ना।[18] इसकी टीका करते हुए शंकर ने इस बात की तीन वैकल्पिक व्याख्याएं की हैं। पाणिनि के व्याकरण में उणादिसूत्र के लेखक ने भी इस शब्द की कुछ ऐसी ही व्युत्पत्ति की है। ब्राह्मणों द्वारा प्रस्तुत व्युत्पत्ति में शूद्रों की दयनीय अवस्था का चित्रण किया गया है और उसे 'पतित' बताया गया है। मनुष्यों में शूद्र एवं भाषाओं में अपभ्रंश समान रूप से घृणित हैं। प्राचीन भारतीय समाज में शूद्रों के प्रति घृणा की चरम अभिव्यक्ति मनुस्मृति में मिली। हालांकि शूद्रों की सामाजिक स्थिति के बारे में मनु के नियम बहुत हद तक पुराने निर्माताओं के विचारों की पुररुक्ति लगते हैं।[19] कुछ नये नियम भी बनाये हैं। उन्होंने सृष्टि रचना की पुरानी कथा दुहराई है, जिसमें शूद्र का स्थान सबसे नीचे है।[20] मनु ने चारों वर्णों के प्रति किये जानेवाले अभिवादन की रीति की निर्धारक विधियों को भी दुहराया है।[21] किंतु उन्होंने यह भी बताया है कि जो

ब्राह्मण सही ढंग से अभिवादन का उत्तर नहीं दे उसे विद्वतजन कभी अभिवादन नहीं करें, क्योंकि वह शूद्र के समान है।[22] पतंजलि बताते हैं कि अभिवादन का उत्तर देने में शूद्रों के संबोधन का ढंग गैर शूद्रों से भिन्न था। शूद्रों को संबोधित करने का स्वर तेज नहीं होना चाहिए। यदि कोई शूद्र (और अक्सर वैश्यों के लिए भी) अपने मालिक की तरफ आंख उठाकर देख लेता था या उसके सामने अपमानजनक तरीके से कुछ कह देता था, तो इस अपराध के लिए भारी दंड का प्रावधान था। अधीनता से इनकार करना, उस समय सबसे ज्यादा असह्य था। कुछ स्मृतियों में तो शूद्रों द्वारा अपने मालिकों के प्रति उपयोग में लाये जानेवाले आदरसूचक शब्दों तक का प्रावधान कर दिया गया था ताकि भाषा के माध्यम से उनके भीतर नीचता की आत्मस्वीकृति का संस्कार पैदा किया जा सके।[23] यदि शूद्र अपने मालिक के प्रति अभद्र भाषा का प्रयोग करे तो उसकी जीभ काट लेने तक की सजा दी जा सकती थी। शूद्रों को द्वेषी, हिंसक, आत्मप्रशंसक, तुनकमिजाज, असत्यभाषी, अतिलालची, कृतघ्न, विपथगामी, आलसी, प्रमादी और अशुद्ध बतलाया गया है।[24] अछूतों और चांडालों को विशेष तौर पर अशुद्ध, अविश्वासी, असत्यभाषी, चोर, दया के पात्र, क्रोधी और लालची बताया गया है। उन्हें निरर्थक झगड़े-फसादों में लगे रहने वाला बताया गया है।[25] मनु के अनुसार, यदि शूद्र जान बूझकर वेदपाठ सुनता है तो उसके कानों को पिघले हुए सीसे अथवा लाख से भर दिया जायेगा। यदि वह वैदिक मंत्रों का पाठ करता है तो उसकी जीभ काट डाली जायेगी। यदि वह इन मंत्रों को कंठस्थ करता है तो उसके शरीर को बीच से चीर दिया जायेगा। यदि वह बैठने, सोने, बातचीत करने अथवा सड़क पर टहलने में द्विजों की बराबरी करता है तो उसे शारीरिक दंड दिया जायेगा।[26]

धर्मसूत्रों में वर्ण के अनुसार वंदना और अभिवादन के जो स्वरूप निर्धारित किये गये हैं, उनसे प्रकट होता है कि समाज में शूद्र कितने पराधीन थे। आपस्तंब में बताया गया है कि ब्राह्मण अपनी दाहिनी बांह को अपने कान के समानांतर, क्षत्रिय उसे अपनी छाती के स्तर तक, वैश्य अपनी कमर तक, और शूद्र उसे अपने पांव की सीध में रखकर अभिवादन करे।[27] विभिन्न वर्णों के लोगों के कुशल-क्षेम और स्वास्थ्य के संबंध में जिज्ञासा करने के लिए भिन्न-भिन्न शब्द विहित किये गये हैं।[28] क्षत्रिय के स्वास्थ्य की जिज्ञासा के लिए 'अमानय' और शूद्र के लिए 'आरोग्य।'[29] यह भी बताया गया है कि किसी क्षत्रिय अथवा वैश्य का अभिवादन करने में लोगों को केवल सर्वनाम का प्रयोग करना चाहिए, न कि उसके नाम का।[30] इसका अर्थ हुआ कि मात्र शूद्र को

उसके नाम से संबोधित किया जा सकता था। इस संबोधन की दृष्टि से द्विज वर्गों की स्थिति बहुत अच्छी थी। प्राचीन पालि ग्रंथों में निम्न वर्गों के लोगों ने किसी क्षत्रिय को उसके नाम से या उत्तम पुरूष में संबोधित नहीं किया है।[31] राजा उदय को गंगमाल हजाम पारिवारिक नाम से संबोधित करता है, इसपर उसकी मां बड़े रोष के साथ कहती है, इस नीच नापितपुत्र को इतना भी ज्ञान नहीं है कि वह मेरे बेटे को, जो पृथ्वी का मालिक है और क्षत्रिय जाति का है, ब्रह्मदत्त कहकर पुकारता है।[32]

मनु ने बच्चों के नामकरण संस्कार में भी वर्ण विभेद किया है[33] जिससे स्वभावतया शूद्रों की हीनता झलकती है। उनका मत है कि ब्राह्मण का नाम मंगलसूचक, क्षत्रिय का नाम बलसूचक, वैश्य का नाम धनसूचक और शूद्रों का नाम निंदासूचक होना चहिए। इसी के अनुपूरक के तौर पर उन्होंने बताया है कि चारों वर्णों की उपाधि क्रमशः सुखवाचक (शर्मा) सुरक्षावाचक (वर्मा) समुन्नतिवाचक (भूति) और सेवावाचक (दास) होनी चाहिए।[34] कुल्लूक ने टीका की है कि ये उपाधियां क्रमशः शर्मन, वर्मन, भूति और दास होनी चाहिए। इसके प्रमाण नहीं मिलते कि यह परिपाटी व्यापक रूप से प्रचलित थी, किंतु नामों के संबंध में मनु के नियमों से जान पड़ता है कि नीच वर्ण के लोग ब्राह्मणकालीन समाज में घृणा के पात्र थे। इस प्रकार शूद्र के लिए प्रयुक्त 'वृषल' शब्द अपमानजनक माना जाता था। पाणिनि के समास संबंधी नियम का उदाहरण देते हुए पतंजलि ने बतया है कि 'दासी के सदृश (दास्याः सदृशः)' और 'वृषली के सदृश (वृषल्याः सदृश)' पद गाली हैं।[40] वृषल को चोर की कोटि में रखा गया था और ब्राह्मण प्रधान समाज वैरभाव रखता था।[36] यह भी जानकारी मिलती है कि वृषल, दस्यु और चोर घृणा के पात्र समझे जाते थे।[37]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में वैयाकरणों, कोशकारों एवं साहित्यालोचकों का भाषा चिंतन वर्णभेद के नियमों का शिकार है। प्राकृतों के प्रति घृणा शूद्रों के प्रति ब्राह्मणों की घृणा से समझ में आ सकती है। इस दृष्टि से प्राचीन भारतीय भाषा चिंतन देखा जा सकता है; एक सही तस्वीर के लिए।

संदर्भ :

1. जोसेफ स्तालिन, मार्क्सवाद और भाषाविज्ञान की समस्याएं, परिकल्पना प्रकाशन, द्वितीय (संशोधति) हिंदी संस्करण, लखनऊ, 2002, पृ.-13
2. डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री, भूविसयत्तकहा तथा अपभ्रंश कथाकाव्य, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1970, पृ.-18
3. वही

4. 'राक्षसभिक्षुक्षपणकचेटादया मागधी प्राहुः' इति कोहलः।
5. औपस्थायिक (भरत नाट्यशास्त्र) निमुण्डाः का क्या अर्थ है, यह अस्पष्ट है।
6. यह बात स्टेंक्सलर की भूमिका के पृ.-5 और गौडबोले के ग्रंथ पृ. 493 में पृथ्वीधर ने बताई है। इन संस्करणों में वह शौरसेनी बोलता है; किंतु हस्तलिखित प्रतियों में इन स्थानों में सर्वत्र मगधी का प्रयोग किया गया है। देखें, आर. पिशल, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, हिंदी अनुवाद, पृ.-46.
7. 'पृथ्वीधर' का मत है कि शाकारी, चाण्डाली और शाबरी के साथ-साथ ढक्की भी अपभ्रंश की बोलियों में से एक है।
8. अव्युत्पादितप्रकृतेस्तज्जनप्रयोज्यत्वात् प्राकृतमिति केचित्। नाट्यशास्त्र की विवृति, अभिनवगुप्त।
9. प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं प्राकृतम् उच्यते।-मार्कण्डेयः प्राकृतसर्वस्व, प्रकृतेः1,1 संस्कृताद् आगतं प्राकृतम्। -वाग्भटालंकार की सिंहदेवगणिन् कृत टीका, 2,2,. प्रकृतेरागतं प्राकृतम्। प्रकृतिः संस्कृतम्।- धनिकः दशरूपक की टीका, 2,90, प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम्। प्राकृतचन्द्रिका, पीटर्सन की तीसरी रिपोर्ट से। प्रकृत्तेः संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता। -नरसिंहः प्राकृतशब्दप्रदीपिका। प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्। -हेमेचन्द्रः सिद्धहेमशब्दानुशासन, 1,1. प्राकृतस्य तु सर्वम् एव संस्कृतम् योनिः। -कर्पूरमंजरी, वासुदेव कृत संजीविनी टीका। सिद्धां प्राकृतं त्रेघा। सिद्धां प्रसिद्धां प्राकृतं त्रेधा भवति। संस्कृतं योनिः। तच्चेदं-मात्रा, मत्ता। नित्यं, णिच्यं इत्यादि। -चण्ड; प्राकृतप्रकाश, सटिप्पण हस्तलिखित ग्रंथ से।
10. इस विषय पर विस्तृत अध्ययन के लिए देखें प्राकृत भाषाओं का व्याकारण।
11. एम.एस. कत्रे, प्राकृत लैंग्वेज एंड देयर कंट्रिव्यूशन टु इंडियन कल्चर पृ-22
12. शब्दः संस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते। तमपभ्रशंमिच्छन्ति विशिष्टार्थ निवेशिनम्।- वाक्यपदीय, ब्रह्मकांड, 148.
13. डा. देवेन्द्रकुमार शास्त्री, पूर्वोद्धत, पृ.-16.
14. पारम्पर्यादपभ्रंशा विगुणेष्वमिधातृषु। प्रसिद्धिमागता येषु तेषां साधुरवाचकः।।- वही, 154.
15. तेऽसुए हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः। तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छित वै नापभाषित वै, म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः। -महाभाष्य। अपशब्दत्वं व्याकरणानुगतशब्दस्येषद्धरंशन एव प्रसिद्धिमिति भावः।वही.
16. भूयांसोऽपशब्दाः, अल्पीयांसः शब्दा इति। एकैकस्य ही शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गौणी गोता गोपोतलिकेत्यादयो बहवोऽपभ्रंशाः।
17. अश्लीलामङ्गलघृणावदर्थ ग्राम्यमुच्यते।- सरस्वतीकण्ठाभरण,1, 144
18. वेदांत सूत्र, 1.3.34 'शुगस्य तदनादर श्रवणात तदाद्रवणत् सूच्यते।'
19. रामशरण शर्मा, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1995, पृष्ठ.48, पाद टिप्पणी संख्या-208
20. मनुस्मृति, 1.31.
21. वही, 11.127.
22. वही, 11.126.
23. भगवतशरण उपाध्याय, खून के छींटे इतिहास के पन्नों पर, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ.-116.
24. एस. जी. सरदेसाई, प्राचीन भारत में प्रगति एवं रूढ़ि, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 1988, पृ.-72
25. वही.
26. मनुस्मृति, 12.4-7; देखें प्राचीन भारत में प्रगति एवं रूढ़ि, पृ.-213
27. आपस्तंब धर्मसूत्र, 1.4.14. 26-29; गौतम धर्मसूत्र, अ 41-42,
28. यह परंपरा आधुनिक काल में भी देखी गई। स्वामी सहजानंद सरस्वती ने जैसा कि लिखा है, 'ब्राह्मण ही परस्पर एक दूसरे को नमस्कार करते हैं और दूसरे लोग प्रणाम ही करते हैं, परंतु यदि अन्य जाति नमस्कार शब्द का प्रयोग कर देवे तो दंगा मच जावे। हालांकि दोनों के अर्थ में कुछ भी भेद नहीं है। परंतु सांकेतिक भेद मान लिया गया है।' ब्रह्मर्षि वंश विस्तर, भूमिका से, पृ.-19; 'भो' शब्द का प्रयोग राजन्यम या वैश्य के संबोधन में किया जाता था, शूद्र के संबोधन में नहीं। (भो राजन्यविशां वा) पतंजलि ऑन पाणिनीज ग्रामर अपपप.2.82-83
29. आपस्तंब धर्मसूत्र, 1.4.14. 26-29; गौतम धर्मसूत्र, अ 41-42.

30. आपस्तंब धर्मसूत्र, 1.4.14.23, 'सर्वनाम्ना स्त्रियो राजन्यवैश्यो च न नाम्ना।'

31. फिक, दि सोशल ऑर्गेनारइजेशन ऑफ नार्थ इस्टर्न इंडिया, पृ.-83

32. जातक, पपप पृ.-452

33. मनुस्मृति, पप 31. 'शूद्रस्य तु जुगुण्सितम्।' देखें लेव तॉलस्तॉय, पुनरूत्थान, हिंदी अनुवाद, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1977, पृ.-14-15 'दोनों बहिनें उसे कात्यूशा कहकर बुलातीं। यह नाम इतना परिष्कृत नहीं था जितना कि कातेन्का, पर साथ ही इतना भद्दा भी नहीं था जितना कात्का'। और देखें, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, बिल्लेसुर बकरिहा, पृ.-1 'बिल्लेमुर'- नाम का शुद्ध रूप बड़े पते से मालूम हुआ- 'बिल्वेश्वर' है। और देखें पंकज कुमार चौधरी की कविता 'श्राद्ध का भोज' जिसमें गांव के सवर्णों एवं अवर्णों के लिए अलग-अलग संबोधनों का प्रयोग है। गांव के सर्वण अरविंद के लिए 'अरविंद बाबू' और 'राजा भाई जी' जैसे संबोधनों का प्रयोग है। जबकि अवर्ण पात्रों के नाम 'अकलूआ', 'चटूआ', 'बिसेसरा' आदि हैं। भोज में सामग्री परोसने वाला एक ही व्यक्ति अरविंद बाबू से पूछता है तो 'सब्जी' का उच्चारण करता है जबकि अकलुआ, चटूआ और बिसेसरा से पूछते हुए 'तरकारी' शब्द का प्रयोग करता है।

34. मनुस्मृति, 11.32. मध्यकाल में भक्ति मार्ग के अधिकतर कवि, जो समाज के निचले तबके का प्रतिनिधित्व करते थे, अपने नाम के अन्त में दास लगाते थे। (मनुस्मृति, 11.32 का संदर्भ देखें।) 'शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम वैश्यस्यपुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुक्तम्।

35. पतंजलि ऑन पाणिनीज ग्रामर, अप 2.11

36. वही, ii-2-11 और iii.2.127.

37. वही, v. 3.36.

- फरवरी, 2007

अध्याय – 14

ऋग्वैदिक भारत और संस्कृत : मिथक एवं यथार्थ

राजेन्द्र प्रसाद सिंह

एसी. दास ने 'ऋग्वैदिक इंडिया' में लिखा है कि आर्यों का मूल निवास 'सप्रसिंधु' या 'पंजाब' में था। कुछ लोग जो आर्यों को बाहर से आया मानते हैं, वे भी बताते हैं ये लोग प्रथमतः सप्तसिंधु प्रदेश में बसे थे। एक संगत अनुमान यह है कि ऋग्वेद के अधिकांश भाग की रचना लगभग 1500-1200 ई. पू. के बीच पंजाब में हुई, अथवा कम-से-कम इसमें उल्लिखित घटनाएं इस काल की हैं।[1] पर पुरातात्त्विक साक्ष्य इसके समर्थन में नहीं हैं। गैरिक मृद्भांड की संस्कृति (ओ.सी.पी.) ऋग्वेद के तिथिक्रम से मेल खाती है। इसका सबसे मोटा जमाव हरियाणा और राजस्थान की सीमा पर अवस्थित जोधपुरा में देखा गया है। बावजूद इसके, इसे ऋग्वेदकालीन लोगों की कृति मानने में कई कठिनाईयां हैं। यह भी कि इस संस्कृति के आज तक ज्ञात लगभग एक सौ से अधिक स्थानों में से बहुत कम ही सप्तसैंधव क्षेत्र में हैं जो कि ऋग्वैदिक सभ्यता का केंद्र था। अधिकांशतः ये स्थल गंगा-यमुना दोआब में केंद्रित हैं।[2] प्रत्येक नयी पुरातात्त्विक संस्कृति की खोज के साथ उसे 'ऋग्वैदिक इंडिया' से जोड़ने की होड़ लग जाती है, पर कोई भी पुरावशेष ऐसा कर नहीं पाता है। कुछ ऐसा ही असमीकरण 'ऋग्वैदिक इंडिया' से काले एवं लाल मृद्भांड की संस्कृति का भी है। ऋग्वेद के तिथिक्रम से मेल खानेवाली तीसरी संस्कृति ताम्र निधियों (copper hoards) की है जिसमें से लगभग आधी गंगा-यमुना दोआब में केंद्रित हैं। सप्तसिंधु से इनका भी वास्ता नगण्य है। इनका वास्ता पूरब में बंगाल और उड़ीसा से है, दक्षिण में आंध्र प्रदेश से है तथा पश्चिम में गुजरात और हरियाणा से है जबकि ऋग्वैदिक लोग पूरब में बंगाल और उड़ीसा तक पहुंचे भी नहीं थे। कुल मिलाकर ऋग्वैदिक जनों की पुरातात्त्विक पहचान की समस्या को सुलझाना कठिन है।[3] अब जबकि पुरातात्त्विक साक्ष्य के मूल्य

पर महाभारत और रामायण में प्रतिबिंबित 'महाकाव्य युग' (एपिक एज) की कपोलकल्पित धारणा त्यागी जा रही है, तब क्यों और किस आधार पर आज भी इस कालखंड को भारतीय इतिहास में 'ऋग्वैदिक इंडिया' कहा जाता है जबकि 'ताम्र-पाषाण युग' की अवधारणा सर्वाधिक निरापद है।

(2)

ऐसी कल्पना कुछ लोगों की है कि 'ऋग्वैदिक इंडिया' में वस्तु-विनियम मुख्य था, पर सोने-चांदी के सिक्के भी थे। सोने के सिक्के 'निष्क' कहे जाते थे। सातवलेकर ने 'निष्क' का अनुवाद, सोने के सिक्के किया है जो सही मालूम होता है।[4] चांदी के सिक्के 'रजत' हो सकते हैं।[5] यदि यह कल्पना ठीक है तो सवाल है कि ऋग्वेद में वर्णित सोने और चांदी के ये सिक्के किस कालखंड के हैं? भारत में प्राप्त सिक्के तो ईसापूर्व छठी सदी से पहले के नहीं हैं। धातु के सिक्के सबसे पहले गौतम बुद्ध के युग में मिले हैं। आरंभ में सिक्के प्रायः चांदी के होते थे, हालांकि कुछ तांबे के भी मिले हैं। ये सिक्के आहत मुद्राएं (Punch Marked) कहलाते हैं। सोने के सिक्के भारत में सबसे पहले हिंद-यूनानियों ने जारी किए।[6] यदि ऊपर के वर्णन से सिक्के का इतिहास ग्रहण किया जाय तो साफ होगा कि 'ऋग्वैदिक इंडिया' की कुछ चीजें बुद्ध और मौर्योत्तर काल में दिखाई पड़ती हैं फिर 'ऋग्वैदिक इंडिया' इसके पहले कब और कहां था? दावा तो यह भी है कि 'ऋग्वैदिक इंडिया' में लौह-प्रौद्योगिकी का ज्ञान था। ऐसा कि ऋग्वैदिक जनों ने एक महिला के कटे हुए पैरों की जगह लोहे की जांघ लगा दी थी[7] जबकि इतिहास गवाह है कि लोहे का ज्ञान पाकिस्तान के गंधार क्षेत्र में 1000 ई. पू. के आसपास हुआ था।[8] बताया यह भी जाता है कि ऋग्वेद में अकेले कुंए के तेरह पर्याय आये हैं। यह भी कि अश्मचक्र (10.101.7) पत्थर के घेरेवाले पक्के कुंए थे।[9] पर यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि घेरेदार कुंए सबसे पहले मौर्यकाल में गंगा घाटी में प्रकट हुए थे।[10] तब क्या यह माना जाय कि ऋग्वेद में जिस 'अश्मचक्र' की चर्चा है, वह मौर्यकालीन है? यदि नहीं तो आखिर वे कौन-से इंद्रवादी थे जिन्होंने बाद में कुंए को 'मृग-हस्तिन' (हाथवाले पशु) की तरह जिज्ञासा से 'इंद्रागार' (वर्षा के देवता इंद्र का घर) कहा था और जिनके देवता 'इंद्रासन' कुंए में वास करते थे? यह भी कि यदि ऋग्वेद के सभी कूपवाची शब्द तरल हैं तो फिर ऐसे लचीले और बहुरूपिए शब्दों से इतिहास का निर्माण नहीं हो सकता है। कारण कि इतिहास ठोस तथ्यों और प्रमाणिक आंकड़ों के आधार पर लिखा जाता है।

(3)

ऋग्वेद की सर्वाधिक चर्चा पुराणों में है।[11] ये सभी के सभी अति प्राचीन होने का दावा करते हैं, परन्तु इनकी रचना या पुनर्रचना छठी से बारहवीं सदी के बीच हुई है।[12] प्राचीन काल के ये सभी पुराण मिथकों, आख्यानों और प्रवचनों से भरे हैं। ऐतिहासिक ग्रंथ 'अर्थशास्त्र' है जिसमें वेदों का जिक्र है, पुराणों का भी है जबकि पुराण मौर्यकालीन नहीं हैं, बाद के हैं। 'अर्थशास्त्र' में 'चीनपट्ट' का उल्लेख, जिसका वर्णन प्रायः प्राचीन संस्कृत साहित्य में है, बाद की तिथि सूचित करता है, क्योंकि चीन स्पष्ट ही प्रारंभिक मौर्यों के क्षितिज के बाहर था और नागार्जुनीकोंडा के अभिलेखों के पहले किसी भी भारतीय अभिलेख में उसका उल्लेख नहीं पाया जाता है।[13] अशोक के अभिलेख, सबसे पुराने अभिलेख जो पढ़े जा चुके हैं, में ब्राह्मणों की चर्चा है, स्वर्ग की चर्चा है; पर ऋग्वेद-वेद का कोई उल्लेख नहीं है। चंद्रगुप्त मौर्य के दरबार में दूत बनकर आये मेगास्थनीज की 'इंडिका' भी वेदों का कोई हवाला नहीं देती है। सर्वाधिक चैंकानेवाला तथ्य तो यह कहा जाना है कि बौद्ध धर्म का उदय वैदिक धर्म के खिलाफ हुआ था। यदि बौद्ध धर्म का उदय वैदिक धर्म के खिलाफ हुआ था, तो इसे पश्चिमोत्तर भारत में होना चाहिए था जहां वैदिक संस्कृति का प्रभाव था और आगे भी कई सदियों तक रहा। वास्तविकता तो यह है कि बुद्ध की लड़ाई भारत में पहले से चले आ रहे विश्वासों और मान्यताओं के विरूद्ध थी। ऐसी ही लड़ाई ईरान में जरथुस्त्र ने लड़ी थी जबकि वहां 'ऋग्वैदिक इंडिया' की कपोल-कल्पित अवधारणा नहीं है। तब यह शंका निर्मूल नहीं है कि बौद्धधारा वेदपूर्व थी।[14] निश्चय ही 'तेविज्जसुत्त' (दीर्घनिकाय) का संवाद जिसमें वेदों का जिक्र है, क्षेपक है क्योंकि आरंभिक पालि बौद्धग्रंथों में इंद्र तथा ब्रह्मा को बुद्ध के उपदेशों को श्रद्धापूर्वक सुननेवालों के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[15] अभिलेख भी पीछे नहीं हैं। मद्रास में गुंटूर जिले से प्राप्त वीर पुरुषदत्त के नागार्जुनीकोंडा अभिलेखों में (ईसा की तीसरी सदी) बुद्ध को इंद्र द्वारा पूजित अंकित है।[16]

(4)

इतिहास का यह तथ्य गलत है कि पुष्यमित्र के स्मरणीय अश्वमेघ यज्ञ से उस ब्राह्मण प्रतिक्रिया का आरंभ होता है जिसकी पूर्णाहुति पांच शताब्दियों के बाद समुद्रगुप्त और उसके उत्तराधिकारियों के काल में होती है। सच यह है कि पुष्यमित्र ब्राह्मण-धर्म का पुनरूद्धारक नहीं था अपितु वह बौद्ध धर्म की प्रतिक्रिया में वैदिक धर्म का संस्थापक था। इतिहास गवाह है कि मौर्य राजाओं

ने ईरानी सामन्तों को अपनी सेवा में रखा था। इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि चंद्रगुप्त मौर्य के राज्य में एक ईरानी सामंत तुषस्प काठियावाड़ का शासक था।[17] ऐसा ही ईरानी सामंत पुष्यमित्र शुंग था जो अंतिम मौर्य सम्राट बृहद्रथ का सेनापति था। डा. राजमल बोरा ने श्रीधर व्यंकटेश केतकर के हवाले से बताया है कि मगों का भारतीय इतिहास वेदकाल से पहले का है।[18] पुष्यमित्र शुंग ईरानी मग ब्राह्मण था। हरप्रसाद शास्त्री भी शुंगों को ईरानी मानने के पक्ष में थे। पता नहीं क्यों, बाद में उन्होंने यह फैसला वापस ले लिया था। इन्हीं मग ब्राह्मणों ने भारत में आकर सूर्य की एक विशेष पूजा चलायी थी। शुंग राजा इसलिए अपने नाम के साथ 'मित्र' (सूर्य) लगाया करते थे। गुप्तकाल का ज्योतिषज्ञ वराहमिहिर भी मग ब्राह्मण था जो अपने नाम के आगे 'मिहिर' (सूर्य) लगाया करता था। मौर्यों के खिलाफ शुंगों का विद्रोह बौद्धधारा के बदले वैदिक धर्म स्थापित करने का उपक्रम था। वैदिक धर्म के इन इंद्रवादियों को ईरान में जरथुस्त्र ने खारिज कर दिया था, जिसकी चर्चा ऋग्वेद के दसवें मंडल में है। बावजूद इसके यह माना जाता है कि ऋग्वेद का भारत में समय अवेस्था से पहले है। शायद जी.ह्मूसिंग (G.Husing) का यह निष्कर्ष सही है कि दूसरी शती ई.पू. में भी ऋग्वैदिक स्तोत्रों का संकलन पूर्ण नहीं हुआ था।[19] जाहिर सी बात है कि पश्चिम एशिया के 'इन्दर' पुराने हैं, पर भारत के संदर्भ में वर्ण-संकोचित 'इंद्र' नये हैं।

(5)

ईरान और भारतवर्ष को छोड़कर प्राचीनकाल में 'आर्य' शब्द अनातोलिया की हित्ती भाषा में पाया जाता है। अनातोलिया के निकट बोगाजकोइ से, जो हित्ती राजाओं की राजधानी थी, कीलाक्षर इष्टिकाओं में सुरक्षित कुछ अभिलेख मिले हैं। हिंद-यूरोपीय भाषा में यह प्राचीनतम लिखित सामग्री है।[20] इनका समय 1400 ई.पू. माना गया है। ऐसा माना जाता है कि आर्य संस्कृति की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता हिंद-यूरोपीय भाषा है।[21] बोगाजकोइ के इन अभिलेखों में तथाकथित ऋग्वैदिक देवताओं को हित्ती-मितन्नी राजाओं के संधि-साक्षी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कभी यह नहीं बताया गया है कि ऋग्वेद में बोगाजकोई से आये देवताओं की उपस्थिति है जबकि संभावना इसी की है। बोगाजकोई में 'अग्नि' साक्षी नहीं हैं। अग्नि तो अवेस्तावादियों के देवता थे जिनकी धाक चंद्रगुप्त मौर्य के राजदरबार में थी। बाद के मौर्य सम्राटों ने ईरानी केंचुल को उतार फेंकने की कोशिश की थी, जिसका नतीजा बृहद्रथ-हत्याकांड के रूप में सामने आया। भारत में अग्नि शुंगों के काल में वेदों के

माध्यम से स्थापित हुए। बोगाजकोइ के साक्षी-देवता इन्-द-र (इंद्र), उ-रु-वन (वरूण), मि-इत्-र (मित्र) और न-स-अत्-ति-इअ (नासत्यौ) हैं, जिसका कोष्ठक में दिये गये रूप वेदों का है। स्पष्ट है कि ऋग्वेद की भाषा में शब्दों के वर्ण-विलंबित रूपों का स्खलन हुआ है। वैदिक भाषा की प्रवृत्ति वर्ण-संकोच की ओर है। संस्कृत में यह वर्ण संकोच अपनी पराकाष्ठा पर है जिसमें पाणिनि ने अपना व्याकरण लिखा था। अवेस्ता ऐसे मामले में निश्चत रूप से वेदों के सापेक्ष पुराना ग्रंथ है। आवेस्तीक गाथाओं की भाषा ऋग्वेद की भाषा की अपेक्षा किसी भी दशा में कम आर्ष (archaic) नहीं है अपितु कुछ दृष्टि से अधिक ही आर्ष है।[22] यदि जरथुस्त्र बुद्ध के समकालीन थे तो यह तय है कि वेदों की रचना बुद्ध के बाद हुई है। शायद इसीलिए 'ऋग्वेद इंडिया' मौर्यकालीन चित्र प्रस्तुत करता है। इसीलिए यह भी कि बोगाजकोइ के 'इन्-द-र' से भारत के 'इंद्र' नये हैं।

(6)

'ऋग्वैदिक इंडिया' में हजार खंभों के ऊपर हजार दरवाजे वाले घर हैं, सौ दीवारों वाले पत्थर के किले हैं, इंद्र की मूर्तियां हैं[23] जबकि पुरावशेष इनमें से किसी को स्वीकार नहीं करता है। उत्खननों से पता चलता है कि बहुत-सारे बड़े-बड़े नगर मौर्यकाल के हैं। मेगास्थनीज ने कहा है कि पाटलिपुत्र स्थित मौर्य राजप्रसाद उतना ही भव्य था जितना ईरान की राजधानी में बना राजप्रसाद। पत्थर के स्तंभों और भूलमुंडों के टुकड़े आधुनिक पटना नगर के किनारे कुम्हरार में पाये गये हैं जो 80 स्तंभोंवाले विशाल भवन के अस्तित्व का संकेत देते हैं।[24] इसके पहले इतने विशाल भवनों का कोई भी पुरातात्त्विक साक्ष्य भारत के किसी कोने से कहीं नहीं मिलता है। तब क्या 'ऋग्वेद इंडिया' का मिथक मौर्यकाल से नहीं जुड़ता है? समय का तकाजा है कि अब वेदों के रचनाकाल के संदर्भ में मीमांसकों को उद्धृत करना बंद कर दिया जाय; जो बताते हैं कि सृष्टि की आयु के साथ वेदों की आयु भी दो अरब वर्ष के लगभग पुराना है। ऋग्वेद के तिथि-निर्धारण में खगोलविज्ञान का प्रयोग भी अविश्वसनीय है।[25] याकोबी और तिलक के अनुयायी अब वैदिक साहित्य में वर्णित नक्षत्रों के आधार पर ज्योतिष और वैदिक रचनाकाल में मनगढ़ंत रिश्ते कायम करना बंद करें। आज जबकि आधुनिक विज्ञान ने पुरावशेषों के काल-निर्धारण के काफी अच्छे तरीके खोज निकाले हैं तब अंतहीन युगचक्रों (मन्वंतरों) की काल-मापक पौराणिक दृष्टि से भारतीय इतिहास को मुक्त हो जाना चाहिए। आज का अध्ययन पुरावशेषों में फ्लोरीन की मात्रा के मापन,

काठ कोयले की हड्डी में रेडियो-धर्मिता की मात्रा, भूचुंबकीय अवलोकन और वृक्ष-तैथिकी पर आधारित है तब सत्ययुग या कृतयृग की किसी विलुप्त स्वर्णयुग की कल्पना निरर्थक है।[26]

(7)

ऐसे तथाकथित गौरवपूर्ण तथा अतिरंजित 'ऋग्वेद इंडिया' के मनगंढ़त किस्सों के साथ भारत की भाषा का एक प्रकार से जाली वैज्ञानिक इतिहास जुड़ा हुआ है। वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत की सीढ़ी से उतरकर पालि की जमीन पर पैर रखना सर्वथा भ्रामक है। सही इसका उल्टा है। पालि भारत की प्राचीनतम ऐतिहासिक भाषा है इसके साक्षी पुरावशेष हैं। भारत के पुराने अभिलेख पालि भाषा में हैं। पालि भारत की प्राचीनतम प्राकृत भाषाओं में से एक है और यह भी कि पालि भाषा वैदिक भाषा के अधिक निकट है और प्राकृत भाषाएं संस्कृत भाषा के।[27] ई.पू. तीसरी सदी के अशोक के शिलालेख पालि भाषा में हैं। ये सबसे पुराने अभिलेख हैं जो पढ़े जा चुके हैं। अभिलेखों में संस्कृत भाषा ईसा की दूसरी सदी से मिलने लगती है जिसका व्यापक प्रयोग ईसा की चैथी-पांचवीं सदी में होता है। शक राजा रुद्रदामन ने सबसे पहले विशुद्ध संस्कृत भाषा में लंबा अभिलेख 150 ई. में जारी किया था। शकों को संस्कृत पर गर्व था। शायद इसीलिए रूद्रदामन बड़े अभिमान से कहता है कि संस्कृत भाषा पर उसका अधिकार है। नासिक की बौद्ध गुफाओं के अतिसंस्कृतमय लेख भी शक दाताओं के हैं जबकि सातवाहनों ने अपने अभिलेख प्राकृत भाषा में खुदवाये थे। यह देशी और विदेशी राजाओं की भाषाई प्रतिद्वंद्विता है।[28]

(8)

संस्कृत के निर्माण में गंधार की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। 520-18 ई. पू. के बहिस्तान शिलालेख इस बात का गवाह हैं कि ईरानियों का कब्जा गंधार पर था। जाहिर है कि ईरानी भाषा तब गंधार में प्रवेश कर चुकी थी जिसे भाषाविज्ञान में प्राचीन फारसी कहते हैं। यह भाषा वैदिक भाषा के करीब है। इसी भाषा में गंधार क्षेत्र की प्राकृतों का मिश्रण होने से संस्कृत भाषा का निर्माण हुआ था। यदि भारत के प्राचीन भूगोल पर विचार करें तो ऐसा दिखाई देता है कि जितना हम उत्तर-पश्चिम की दिशा की ओर जाते हैं संस्कृत और प्राकृत का अंतर कम होता जाता है। उदाहरणार्थ, गंधारी, प्राकृत में संस्कृत में प्र,र्म,त्र जैसे बहुत-से संयुक्त-व्यंजन के रूप सुरक्षित हैं।[29] इसी गंधार में पेशावर के आसपास का क्षेत्र निया प्रदेश है। निया प्राकृत में श, ष और स तीनों ऊष्म व्यंजन हैं, यह भी किसमें क्र, ग्र, त्र, द्र, प्र, ब्र, भ्र, अविकृत रूप में मिलते हैं। कहना न होगा

कि इसी प्रविधि का इस्तेमाल संस्कृत के निर्माण में कसकर किया गया था। शायद इसीलिए 'अष्टाधयायी' का पणिनि पेशावर के निकट शलातुर का निवासी था।[30] मध्य एशिया से आये विदेशी राजववंशों ने भारत में आकर संस्कृत भाषा पर इतना बल क्यों दिया, इसका रहस्य शायद खुल गया होगा। जिसे भाषाविज्ञान में संयुक्त व्यंजन कहा गया है, वह एक प्रकार से वर्ण-संकोच है। संस्कृत इसी वर्ण-संकोच की भाषा है। इस वर्ण-संकोच का सबसे बड़ा औजार 'र' का बहुरूपिया रूप (व्र, वृ, र्व, ऱ्, त्र, श्र, ऋ) था। ऐसी तकनीक वाली फैक्ट्री में एक बार देशी शब्दों के आ जाने से उनकी शक्ल संस्कृत वाली हो जाया करती थी। 14वीं-15वीं सदी ई.पू. के आसपास अश्वशास्त्र पर हित्ती भाषा में एक रचना मिलती है जिसमें बहुत से ऐसे शब्द हैं जो संस्कृत के निकट हैं। ये शब्द संख्यावाची हैं। ऐसे शब्द देशांतरण के बावजूद कम बदलते हैं। इस रचना में अइक (एक), तेर (त्रि), पंज (पञच), सत्त (सप्त) और (नव) शब्दों का प्रयोग अंकों के लिए किया गया है।[31] संख्यावाची पांच के लिए आज भी पंजाबी और सिंधी में हित्ती भाषा का 'पंज' प्रचलित है और सात के लिए 'सत्त' का प्रचलन है। यह 'सत्त' पालि और प्राकृत में भी हैं संस्कृत 'सप्त' निश्चित रूप से संस्कृत के नये कानून के हिसाब से है। हिन्दी तेरह के समक्ष 'त्रि' का भी वर्ण-संकोच स्पष्ट है। ऐसी प्रवृत्ति कश्मीरी में भी है। शायद इसीलिए कुछ विद्वान ऐसे भी हैं जो कश्मीरी का संबंध वैदिक संस्कृत से स्थापित करते हैं। ऐसे भी संस्कृत के पुराने लेखकों का संबंध कश्मीर से रहा है। मध्य एशिया, खास तौर से गंधार क्षेत्र से आयी संस्कृत भाषा के ये सब पद-चिह्न हैं जिसका साक्ष्य अति प्राचीन का दावा करनेवाले संस्कृत के ग्रंथ सावधानी के बावजूद भी मिटा नहीं सके हैं। वह दिन दूर नहीं जिस दिन यह बताया जाएगा कि संस्कृत 'आंग्ल' से अंग्रेजी का 'इंग्लिश' बना है। संस्कृत के प्रायः तत्सम रूप वास्तव में देशी भाषाओं के तद्भव रूप हैं जिसे संस्कृत को मूलभाषा माने जाने की गलती से तद्भव मान लिया जाता है। जाहिर है कि नये कानून के औजारों से पुराने शब्दों को संस्कृत ने अपने कब्जे में लिया था। इसे लूट-खसोट, हड़प या परिमार्जन, जो भी कहें।

(9)

इतिहासकारों का यह फैसला गलत है कि समृद्ध और शक्तिशाली विदेशी संस्कृत के जरिए अपने को भारतीय कुलीन-वर्ग में स्थापित करने का उपक्रम करते थे। वास्तविकता तो यह है कि संस्कृत विदेशी बाटमारों (भाषा के संदर्भ में रास्ता चलते लूट-पाट) की भाषा थी। इसीलिए संस्कृत का कोई भौगोलिक

रूप नहीं मिलता है। प्राकृतों के भौगोलिक रूप (महाराष्ट्री, शौरसेनी, गंधारी, मागधी) मिलते हैं। संस्कृत दूसरी भाषाओं से शब्दों की लूट-पाट की भाषा थी। इसीलिए संस्कृत का कोई अपना भाषाई-भूगोल नहीं था। संस्कृत में प्राकृतों के शब्द-भंडार का संस्कृतिकरण हुआ है। यदि यह पूछा जाय कि संस्कृत किस भू-भाग की भाषा है तो इसका जवाब गोल-मटोल मिलेगा। यह कि संस्कृत वैदिक युग में समस्त मध्यदेश में फैली हुई थी। संस्कृत भाषा की यह अदृष्ट धारा वैदिक युग में मध्यदेश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक ठीक वैसी ही प्रवाहित होती थी जैसे पौराणिक कथाओं में अदृष्ट सरस्वती की पवित्र धारा बहती थी जिसके तट पर आर्यों का प्रमुख उपनिवेश था। सरस्वतीवादियों को अब इस अस्तित्त्वविहीन नदी का पानी नापना बंद कर देना चाहिए। यदि इतने विशाल भू-भाग में संस्कृत बोली जाती थी तब 1921 एवं 1971 की जनगणना में संस्कृतभाषी लोगों की जनसंख्या क्रमशः 555 एवं 1282 क्यों पायी गयी है?[32] क्या संस्कृतभाषी लोग जंगलों तथा पहाड़ों में रहने वाले असुविधाभोगी आदिवासियों की तरह विलुप्त हो गये हैं? संस्कृत का वर्चस्व को देखकर ऐसा तो कदापि नहीं लगता है। सच तो यह है कि मुट्ठीभर मध्य एशियाई विदेशियों ने मौर्योत्तर काल में निरंतर दबाव बनाते हुए गुप्तयुग में संस्कृत को राजभाषा बनवाया था जबकि प्राकृत में लिखित साहित्य को दरबारी क्षेत्र के बाहर संरक्षण प्राप्त था। गुप्तयुग में संस्कृत का साहित्य विशिष्ट वर्ग, दरबार, कुलीन वंश तथा ऐसे ही अन्य क्षेत्रों से संबंधित व्यक्तियों से संबंधित था। निःसंदेह संस्कृत गुप्त राजाओं की शासकीय भाषा थी, पर आम जनता की भाषा प्राकृत थी जो उस काल के नाटकों में प्रयुक्त द्वैध भाषा के सामाजिक संदर्भ से स्पष्ट होता है।[33] राजभाषा के मामले में मुगलकाल में यह इतिहास दुहराया जाता है जब ईरानी संस्कृति से प्रभावित दिल्ली के मुट्ठीभर अभिजनों ने फारसी को राजभाषा बनवाया था जबकि बाबर की मातृभाषा तुर्की थी। तुर्क सुलतानों का तुर्की तथा अफगानों की जबान पश्तो कभी भी यहां राजभाषा का दर्जा नहीं नहीं प्राप्त कर सकी।

(10)

भारतीय भाषाओं में ऐसे शब्द नहीं मिलते हैं जो ब्राह्मण और क्षत्रिय के सजात शब्द हों, पर विश (वैश्य) से मिलते-जुलते शब्द बहुसंख्यक हिंद-यूरोपीय भाषाओं में मिलते हैं।[34] जाहिर है कि भारत की वर्णमूलक संस्कृति ऐसे लोगों द्वारा लायी गयी है जिन्होंने संस्कृत के नियम-कानून बनाये हैं। वर्ण-संकोच की ऐसी भाषा जो आम जनता और सुविधाभोगी वर्ग के बीच फासला

पैदा करके लूटने की सुविधा दे। ऐसी ही वर्ण-संकोचमूलक भाषा और वर्ण-विस्तारमूलक समाज के बलबूते गुप्तकाल को भारतीय इतिहास में अभिजात्य नजरिये से 'स्वर्णयुग' कहा जाता है। एक ऐसा युग जिसमें ब्राह्मणों को उदारतापूर्वक दान दिये जाते थे, मंदिर बनवाये जाते थे और महिलाएं सती हुआ करती थीं। सबसे चौंकानेवाली बात तो यह है कि इस काल में वर्ण-व्यवस्था पर आधारित 'अमरकोश' लिखा जाता है। ऐसे समय में संस्कृत को राजभाषा बनाया जाना कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं है। पर संस्कृत पुरानी भाषा नहीं है। पैशाची पुरानी है। चीन तुर्किस्तान के खरोष्ठी शिलालेखों में इसका पुरातात्त्विक साक्ष्य मिलता है।[35] भाषावैज्ञानिकों का फैसला है कि यह वैदिक संस्कृत के निकट की भाषा है।

(11)

निष्कर्ष यह कि वैदिक भाषा ईरान की प्राचीन फारसी, पश्चिमोत्तर की पैशाची और भारत की पालि के लगभग समकालीन थी। इसे ज्यादा से ज्यादा 600 ई.पू. के आसपास का माना जाना चाहिए। वैदिक भाषा का अगला पड़ाव संस्कृत है। यह संस्कृत ईरान की पहलवी, पश्चिमोत्तर की निया प्राकृत एवं भारत के मिश्रित बौद्ध संस्कृत के प्राकृतांश के लगभग समकालीन है। मिश्रित बौद्ध संस्कृत की भाषा पालि के बाद पहली सदी के आसपास की है जब पश्चिमोत्तर में संस्कृत का जन्म हो रहा था। एक ऐसी भाषा जिसके जन्म लेने के बाद उसकी मां पैशाची मृतप्राय हो जाती है। पालि में संस्कृत का प्रवेश बाद में हुआ, इसलिए कि इसके पहले संस्कृत भाषा नहीं थी। इस भाषा का उदय ईसा की पहली सदी के आसपास होता है। इसीलिए फ्रैंके ने दिखाया है कि शिलालेखों की भाषा के रूप में संस्कृत प्रथम शताब्दी ई.पू. से प्रकट होती है।[36] जाहिर है कि संस्कृत की प्राचीनता सिर्फ साहित्यिक या कहें मनगढ़ंत है, तभी तो अमेरिकी भाषावैज्ञानिक ब्लूमफील्ड को आश्यर्च होता है।[37] बात एकदम साफ है कि वैदिक भाषा भी पालि और पैशाची प्राकृतों की तरह ईसा से पहले की एक प्राचीन प्राकृत है जबकि संस्कृत ईसा के आसपास की 'साहित्यिक प्राकृतों' की तरह एक प्रकार से कृत्रिम भाषा है। आज की तारीख में पालि भारत की सबसे पुरानी ऐतिहासिक भाषा है। भाषा के जानकार अब वैदिक और लौकिक संस्कृत के बाद पालि का इतिहास लिखना बंद करें और 'ऋग्वैदिक इंडिया' की कपोल-कल्पित अवधारणा के साथ वैदिक भाषा को जोड़कर उसे पालि के पहले सिद्ध करने से बाज आवें।

संदर्भ :–

1. दामोदर धर्मानंद कोसंबी : प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (चौथी आवृत्ति,1999); पृ. 99
2. डी.एन झा एवं श्रीमाली : प्राचीन भारत का इतिहास : हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय (द्वादश संस्करण,1993); पृ.120
3. रामशरण शर्मा : आर्य संस्कृति की खोज; सारांश प्रकाशन प्रा. लि., दिल्ली (पेपर बैंक संस्करण, 2000); पृ. 75
4. रामविलास शर्मा : भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश; किताब घर, नई दिल्ली (प्रथम संस्करण, 1999); पृ. 82
5. भगवान सिंह : हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य; राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली (तृतीय संस्करण, 1997); पृ. 114
6. रामशरण शर्मा : प्राचीन भारत; राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली (पुनर्मुद्रण, 1991); पृ. 119-149
7. रामविलास शर्मा, पूर्वोद्धत; पृ. 33
8. प्राचीन भारत, पूर्वोद्धत; पृ. 83
9. भगवान सिंह, पूर्वोद्धत; पृ. 139
10. प्राचीन भारत, पूर्वोद्धत; पृ. 139
11. राणाप्रसाद शर्मा : पौराणिक कोश; ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी (द्वितीय संस्करण, 1986); पृ.69
12. दामोदर धर्मानंद कोसंबी, पूर्वोद्धत; पृ. 70
13. मजुमदार, रायचौधरी एवं दत्त : भारत का वृहत् इतिहास; मैकमिलन एण्ड कंपनी लिमिटेड, कलकत्ता (संस्करण,1954); पृ. 135
14. स्वपन कु बिस्वास : भारत के मूल निवासी और आर्य आक्रमण; ओरियन बुक्स, कलकत्ता (संस्करण, 2002); पृ. 85
15. दामोदर धर्मानंद कोसंबी, पूर्वोद्धत; पृ.223
16. राजबली पांडेय : भारतीय पुरालिपि; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (संस्करण, 2004); पृ. 140
17. बी.डी. महाजन : प्राचीन भारत का इतिहास; एस. चंद एण्ड कंपनी लि., नई दिल्ली (संस्करण, 1986); पृ. 242
18. राजमल बोरा : भारत की प्राचीन भाषाएं; हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय (संस्करण, 1999); पृ. 28
19. बी.डी. महाजन, पूर्वोद्धत; पृ. 92
20. टी. बरो/अनु. भोलाशंकर व्यास : संस्कृत भाषा; चौखंबा प्रकाशन, वाराणसी (पुनर्मुद्रण, 1991); पृ. 11
21. रामशरण शर्मा : भारत में आर्यों का आगमन; हिंदी माध्यम कार्यान्यक निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय (पुनर्मुद्रण, 2003); पृ. 13
22. टी. बरो, पूर्वोद्धत; पृ. 6
23. मजुमदार, रायचौधरी एवं दत्त, पूर्वोद्धत; पृ. 38
24. प्राचीन भारत, पूर्वोद्धत; पृ. 137
25. रोमिला थापर : आर्य : मिथक और यथार्थ; सफदर हाश्मी मेमोरियल ट्रस्ट, नई दिल्ली (पुनर्मुद्रित, 2002); पृ. 59
26. दामोदर धर्मानंद कोसंबी, पूर्वोद्धत; पृ. 42-43
27. इंद्रचंद्र शास्त्री : पालि भाषा और साहित्य; हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय (संस्करण, 1987); वक्तव्य
28. ज्यूल ब्लाख/अनु. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : भारतीय आर्य भाषा; हिंदी समिति, लखनऊ (संस्करण, 1972); पृ. 4
29. राजमल बोरा, पूर्वोद्धत; पृ. 37
30. वासुदेवशरण अग्रवाल : पणिनिकालीन भारतवर्ष; मोतीलाल बनारसीदारस, बनारस (संस्करण,2012 वि.); पृ. 14
31. आर्य संस्कृति की खोज, पूर्वोद्धत; पृ. 43

32. स्वपन कु बिस्वास, पूर्वोद्धृत; पृ. 117
33. आर. पिशल/अनु. हेमचंद्र जोशी : प्राकृत भाषाओं का व्याकरण; बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना (संस्करण, 1958); पृ. 44
34. आर्य संस्कृति की खोज, पूर्वोद्धृत; पृ. 65
35. नेमिचंद्र शास्त्री : प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास; तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी (पुनर्मुद्रण, 1988); पृ. 90
36. पाण्डुरंग दामोदर गुणे/अनु. भोलानाथ तिवारी : तुलनात्मक भाषाविज्ञान; मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली (पुनर्मुद्रण, 1996); पृ. 165
37. ब्लूमफील्ड/अनु. डॉ. विश्वनाथ प्रसाद : भाषा; मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली (संस्करण, 1968); 69

- मार्च, 2007

आधुनिक हिंदी की चुनौतियां

अरविंद कुमार

किसी भी प्रकार और स्तर पर अंतरसांस्कृतिक संपर्क परिवर्तन और विकास का प्रेरक होता है। भारत के आधुनिकीकरण के पीछे भी अंग्रेजी शासन और यूरोपीय संस्कृतियों से संपर्क के प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता। राजा राममोहन राय के जमाने में ही समाज को बदलने की मुहिम भीतर तक व्यापने को उतावली हो गई थी। सुधारों के सतही विरोध के बावजूद ऊपरी तौर पर दकियानूस दिखाई देने वाले लोग भी एक अनदेखी सांस्कृतिक प्रणाली से साबका पड़ने पर मन ही मन अपने को बदलाव के लिए तैयार कर रहे थे। ब्रह्म समाज और आर्य समाज जैसे आंदोलन, यूरोप, सत्ता द्वारा प्रचारित ईसाइयत और विदेशी शासन के खिलाफ अपने आप को उससे बेहतर साबित करने के तेजी से लोकप्रिय होते तरीके थे। इंग्लिश थोप कर भारतीयों को देसी अंग्रेज बनाने की मैकाले की नीति उलटी पड़ चुकी थी। वह केवल कुछ काले साहब बना पाई, आम जनता जिन का मजाक उड़ाती रही। मैकाले की मनोकल्पना के विपरीत अंग्रेजी शिक्षा ने विरोधी विचारकों और नेताओं की एक पूरी फौज जरूर तैयार कर दी जो यूरोप में प्रचलित नवीनतम बौद्धिक, सामाजिक और राजनीतिक चेतना को समझ कर अंग्रेजी शासन के खिलाफ जन जागरण का बिगुल फूंकने लगे। इस परिप्रेक्ष्य में कई बार विचार जागता है कि अगर मैकाले न होता, उस ने अंग्रेजी न थोपी होती, तो क्या हमारा देश आज भी अफगानिस्तान ईरान और अनेक अरब देशों जैसा मध्यकाल में रहने वाला देश न रह जाता।

आज जापान दुनिया में हम से भी बहुत आगे है। जापान में सम्राट मेजी का जो सुधार अभियान (चुने नौजवानों को अमेरिका भेज कर अंग्रेजी सिखाना, नवीनतम तकनीक सीख कर देश को आधुनिक बनाना और कुरीतियों को मिटा कर समाज सुधार करना) 19वीं सदी के अंतिम दो दशकों में आरंभ हुआ,

भारत में उस की नींव मैकाले ने अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बना कर अनजाने ही लगभग पचास साल पहले रख दी थी। तकनीकी विकास पर जोर हमारे यहां नदारद था, क्योंकि वह शासकों के हित में नहीं था। लेकिन तकनीकी विकास और भारत की पुरानी तकनीकी अग्रस्थिति को फिर से पाने की तमन्ना भारत में आजादी की पहली लड़ाई से पहले ही जाग उठी थी। अंग्रेजों से लड़ाई के लिए टीपू सुल्तान ने फ्रांस से संपर्क किया था, कई नौजवान वहां भेजे थे, नवीनतम तकनीक सीखने। टीपू की हार ने वह सब समाप्त कर दिया। ढाके की मलमल का और किस प्रकार उसे बनाने वाले कारीगरों के अंगूठे कटवाए गए – इस बात का जिक्र बीसवीं सदी के स्वतंत्रता आंदोलनों पर लगातार छाया रहा। 1857 के कुछ वर्ष पहले ही सेठ रणछोड़ ने अहमदाबाद में पहली सूती मिल खोल दी थी। जमशेदजी नसरवानजी टाटा ने इस्पात संयंत्र की स्थापना बीसवीं सदी के मुख पर 1907 में कर दी थी। स्वदेशी आंदोलन इस से पहले शुरू हो चुके थे। समाज सुधार और आजादी के संघर्ष की भाषा के तौर पर हिंदी को अखिल भारतीय समर्थन मिल रहा था। हिंदी राजनीतिक संवाद की भाषा और जनता की पुकार बनी। पत्रकारों ने इसे मांजा, साहित्यकारों ने संवारा।

उन दिनों सभी भाषाओं के अखबारों में तार द्वारा और टैलिप्रिंटर पर दुनिया भर के समाचार अंग्रेजी में आते थे। इन में होती थी एक नए, और कई बार अपरिचित, विश्व की अनजान अनोखी तकनीकी, राजनीतिक, सांस्कृतिक शब्दावली जिस का अनुवाद तत्काल किया जाना होता था ताकि सुबह-सवेरे पाठकों तक पहुंच सके। कई दशक तक हजारों अनाम पत्रकारों ने इस चुनौती को झेला और हिंदी की शब्द संपदा को नया रंगरूप देने का महान काम कर दिखाया। पत्रकारों ने ही हिंदी की वर्तनी को एकरूप करने के प्रयास किए। वाराणसी का ज्ञान मंडल का कोश दैनिक आज के संपादन विभाग से उपजे विचारों और उसके प्रकाशकों की ही देन है। मुझ जैसे हिंदी प्रेमियों के लिए यह वर्तनी का वेद है। तीसादि दशक में फिल्मों को आवाज मिली। बोलपट या टॉकी मूवी का युग शुरू हुआ। अब फिल्मों ने हिंदी को देश के कोने-कोने में और देश के बाहर भी फैलाया। संसार भर में भारतीयों को जोड़े रखने का काम बीसवीं सदी में सुधारकों, स्वतंत्रता सेनानियों, पत्रकारों, साहित्यकारों और फिल्मकारों ने बड़ी खूबी से किया।

आज कुछ वर्गों में ग्लोबलाइजेशन का विरोध फैशन बन गया है। ग्लोबलाइजेशन या ग्लोबलन या फिर 'ग्लोकुलन' है क्या? व्यापारिक, सांस्कृतिक और संप्रेषण के स्तर पर दुनिया का एक गांव भर बन जाना, या

ऐसा परस्पर-संपृक्त कुल बन जाना जो परस्पर तत्काल व्यवहार कर रहा हो, एक दूसरे से आदान प्रदान कर रहा हो। आज आजाद हिंदुस्तान इस दुनिया में अपनी जगह सुदृढ़ करने के लिए उतावला है। हिंदी का विकास और प्रसार इस में सबल भूमिका निभा रहा है। परिणाम स्वरूप भाषाई स्तर पर जो उलटफेर हो रहा है, उस से कुछ हिंदी वाले कई तरह की आशंकाओं, दुश्चिंताओं और भयों से त्रस्त हैं। कई प्रतिक्रियाएं तो ऐसी हैं जो इस वैश्विक परिवर्तन के युग में, अंतरराष्ट्रीय (विशेषकर इंग्लिश) शब्दावली की तीखी भरमार के कारण देखने को मिलती हैं।

ग्लोकुलन कोई नई प्रक्रिया नहीं है। बड़ी संख्या में मानविकी, नृवंशिकी, भाषाविज्ञानी मानते हैं कि कोई दो हजार संख्या वाले एक मानव वंश ने पेचीदा भाषा रचना का गुर पा लिया था। भाषा के हथियार के सहारे यह वंश सुनियंत्रित सुसंगठित दलों की रचना कर के भयानक जीवों पर विजय पा सकने में सफल हो गया। उस का वंश तेजी से बढ़ने-फैलने लगा। तकरीबन 50 हजार साल पहले इस के वंशजों को नौपरिवहन के गुर पता चल गए तो अरब सागर (पुरानी शब्दावली में वरुण सागर) पार कर के वे भारत भूखंड के उत्तर पश्चिम तट पर कहीं गुजरात के आसपास पहुंचे। यहां से वे सारी दिशाओं में बढ़ते चले गए। यह था पहला ग्लोकुलन अभियान। अफ्रीका में टिके रहे साथी पूरे महाद्वीप में फैलते रहे, जो लोग भारत आ गए थे, वे देश में तो फैले ही, साथ-साथ अफगानिस्तान-इराक-ईरान के रास्ते एक तरफ यूरोप, दूसरी तरफ चीन, मंगोलिया, जापान और एशिया के उत्तर पूर्वी छोर से अलास्का के रास्ते अमरीकी महाद्वीपों पर छा गए। मानव वंश बढ़ता बंटता रहा, बदलते देश, भूगोल और आवश्यकताओं के अनुसार भाषाएं बनती बदलती रहीं। आज दुनिया विविध जातियों और 5,000 से अधिक भाषाओं में बंटी है। उन की मूल भाषा का कोई रूप अब नहीं मिलता। इसी ग्लोकुलन के सहारे मानव सभ्यता आगे बढ़ी है।

पिछली तीन चार सदियों में विज्ञान और औद्योगिक क्रांति ने बिखरी जातियों और भाषाओं को बड़े पैमाने पर नजदीक लाना शुरू कर दिया था। कभी साम्राज्यों के द्वारा, कभी विचारों के द्वारा। आज हम लोग ग्लोकुलन की नवीनतम और सबलतम धारा के बीच हैं। दुनिया तेजी से छोटी हो रही है। ग्लोब का कोई कोना आवागमन की तेज धारा से बचा नहीं है। स्वयं हिंदुस्तान के लोग किस कोने में नहीं हैं? उन पर सूरज कभी नहीं डूबता। पिछले दशकों में सूचना तकनीक में दिन दूनी रात चैगुनी तरक्की हुई है। इसमें हम भारतीयों

का योगदान कम नहीं है, तो इसलिए भी कि हम अंग्रेजी भाषा में पारंगत हैं। संप्रेषण के क्षेत्र में व्यापकता और तात्कालिकता आई है। सारी दुनिया हर खबर साथ-साथ अपनी आंखों देखती है। लिखित समाचार के ऊपर बोला गया वाचिक रिपोर्ताज हावी होता जा रहा है। मुमकिन नहीं था कि इस सब का असर समाज और भाषा पर न पड़े, सारी भाषाएं बदलाव की तेज रौ में बह रही हैं। नई तकनीकें नए विचार, नए शब्द ला रही हैं। विश्व के परस्पर संलग्नन का सबसे ज्यादा असर जीवन स्तर और शैली पर और भी ज्यादा हुआ है। हर साल नए से नया परिवर्तन। नई समृद्धि का संदेश, नई आशा! नए से नया बेहतरीन माल! हिंदुस्तान अब वह नहीं है जो 1907 में था, या 1947 में या 1957 में था। आज का नौजवान हिंदुस्तान वह नहीं है जो 1991 में था। 2001 से 2007 तक भी इंडिया बदल गया है। 1974 में बीए-एमए पढ़े लिखे युवक के सामने रोजगार के गिने चुने पेशे थे। पहला क्लर्की, टाइपिंग, शार्टहैंड, अध्यापकी। वह भी सिफ़ारिश हो तो। कोई-कोई प्रबंधन में भी पहुंच जाता था। मैनेजमेंट के स्कूल नहीं थे। कामर्स वाले अकाउंटेंट बन सकते थे। साइंस पढ़ने पर भी कुछ खास अवसर नहीं थे। हां, इंजीनियरिंग वालों के लिए संभावनाएं थीं, पर कितनी? इंजीनियरिंग सिखाने के संस्थान ही कितने थे! आज हर तरफ उच्च तकनीकी शिक्षा के लिए मारामारी। नए से नए कालिज खुल रहे हैं। मैनेजमेंट, इंजीनियरिंग, कंप्यूटर छात्रों को अंतिम वर्ष पार करने से पहले ही दुनिया के इंडस्ट्रियलिस्ट मुंहमांगे इनकम पैकेज पर रखने को मुंह फाड़े खड़े रहते हैं। इस के पीछे देश में अंग्रेजी जानने पढ़ने और लिखने वालों की बेहद बड़ी संख्या का होना है। मध्य वर्ग की संख्या और ख़रीद शक्ति का विस्तार हुआ है। सब से पहले मोबाइल उस के पास आए, एक से एक बढ़िया माल उसे मिल सकता है। कंप्यूटर, इंटरनेट जीवन का आवश्यक अंग है। बहुत सारी ख़रीद फ़रोख्त वह ऑनलाइन करता है। हवाई जहाज का टिकट खरीदता है, न्यूयार्क में होटल बुक करता है। नई से नई कारों के मॉडल उस के पास हैं। क्रेडिट कार्ड, एटीऐम।

इस सब का असर भाषा पर न पड़े यह संभव नहीं था। आजादी के बाद हिंदुस्तान ने और हिंदी ने कट्टर अंग्रेजी विरोध का युग देखा है। हम चाहते थे अंग्रेजी का कोई शब्द हमारी भाषा में न हो। ऐसी हिंदी बने जिस में किसी और बोली का पुट न हो। लेकिन दुनिया में ऐसा कभी होता नहीं है कि कोई भाषा दूसरी भाषाओं से अछूती रहे। अंग्रेजी का पहला आधुनिक कोश बनाने वाले जानसन का सपना था कि अपनी भाषा को इतना शुद्ध और सुस्थिर कर दे कि

उस में कोई विकार न हो। यही सपना अमेरिका में कोशकार वैब्स्टर ने भी देखा था। उन की अंग्रेजी आज हर साल लाखों नए शब्द दुनिया भर से लेती है!

आज हिंदी 'रघुवीरी युग' से निकल कर नए आयाम तलाश रही है। अंग्रेजी शब्दों का होलसेल आयात कर रही है, बस यही बात है जो शुद्धतावादियों को परेशान कर रही है। कहा जा रहा है, हिंदी पत्रकारिता भाषा को भ्रष्ट कर रही है। टीवी चैनलों ने तो हद कर दी है। कुछ का कहना है कि यह विकृत भाषा मानवीय संवेदनाओं को छिछले रूप में ही प्रकट कर सकने की क्षमता रखती है, इस से अधिक नहीं। उन्हें डर है हिंदी घोर पतन के कगार पर है। वह अब फिसली, अब फिसली..और..उन्हें लगता है कि वह दिन जल्दी आएगा, जब कह सकेंगे..लो फिसल ही गई!

वे लोग भूल जाते हैं कि हिंदी लगातार बढ़ती रही है तो इस लिए कि वह पिछली दस सदियों से अपने आप को हर बदलते समय के सांचे में ढालती रही, नए समाज की नई जरूरतों के अनुसार नई शब्दावली बना कर या उधार ले कर समृद्ध होती रही है।

आजादी के बाद नए से नए सृजन आंदोलनों से यह समृद्ध हुई, सजीव बहसों से गुजरी। इन बहसों में जो गरिष्ठ हिंदी तथाकथित विद्वान लिखते थे, वह कठिनतम भाषाओं के उदाहरण के रूप में पेश की जा सकती है। इसी रुझान में रेडियो के समाचारों में जो हिंदी सुनने को मिलती थी वह सब के सिर से गुजर जाती थी। भाषाई आयोगों और रघुवीरी कोशों को आर्थिक सहायता देने वाले पंडित नेहरू शिकायत करते सुने जाते थे कि यह हिंदी वह नहीं समझ पा रहे। पर विद्वज्जन (!) यह कह कर टाल देते कि परिवर्तन के दौर में ऐसा होता ही है। एक दिन आम आदमी यही भाषा बोलने लिखने लगेगा। ऐसा हुआ नहीं।

छलछल-उच्छल हिन्दी

'पीऐसऐलवी सी-8 से इटली के उपग्रह एजाइल को कक्षा में स्थापित कर भारत ने ग्लोबल स्पेस मार्केट में प्रवेश किया। इसरो की यह उड़ान पहली व्यावसायिक उड़ान थी।' - दैनिक हिंदुस्तान *(दिल्ली), के मुख पृष्ठ पर छपे एक चित्र का कैप्शन।*

यह है आजादी के साठवें वर्ष में नौजवान हिंदुस्तान, और नौजवान

हिंदी..संसार से बराबरी के स्तर पर होड़ करने के लिए उतावला हिंदुस्तान और पूर्वग्रहों से मुक्त हर भाषा से आवश्यक शब्द समो कर अपने को समृद्ध करने को तैयार हिंदी, जिसने इसी वर्ष संयुक्त राष्ट्र संघ के मुख्यालय नगर न्यूयार्क में विश्व सम्मेलन किया है, और अपने लिए अधिकारपूर्वक जगह मांग रही है।

ऐसे में मेरा मन साठ-बासठ साल पीछे चला जाता है। होश संभालने पर मैंने आजादी की लड़ाई के अंतिम दो तीन वर्ष ही देखे..1945 से 1947 तक। 15 अगस्त की झूमती गाती मस्ती और उत्साह से रात भर सो न सकने वाली दिल्ली मुझे याद है। मुझे यह भी याद है कि किस प्रकार सितंबर के सांप्रदायिक दंगों से घिरी दिल्ली में हमारा स्वयंसेवकों का दस्ता दिन भर करोल बाग के आसपास के उन मकानों का जायजा लेता था जिन के निवासी पाकिस्तान जाने वाले शिविरों में चले गए थे (ऐसे ही एक घर में मैंने तवे पर अधपकी रोटी देखी थी, और किसी कमरे में किताबों से भरे आले अल्मारियां देखे थे, जिन में से मैं प्रसिद्ध अंग्रेजी उपन्यास वैस्टवर्ड हो उठा लाया था) और रात को रेलवे स्टेशन पर उतरने वाले रोते बिलखते या सहमे बच्चों वाले परिवारों को ट्रकों में लाद कर उन घरों में छोड़ आता था। आजादी के आरंभिक दिनों की याद आए और वे दिन याद न आएं ऐसा हो नहीं सकता।

मुझे याद है आम आदमी की तरह हमारे मन में भाषा को लेकर कोई एक बात थी तो थी अंग्रेजी से मुक्त होने की ललक। (मैं मैट्रिक पास कर चुका था, कोई भाषाविद नहीं था, पर भाषा प्रेम तो कूट-कूट कर भरा था।) चाहते थे कि जल्दी से जल्दी अंग्रेजी की सफाई-विदाई के बाद हिंदी की ताजपोशी हो, सत्ताभिषेक-जल्दी से जल्दी, तत्काल, फौरन। उन दिनों जनता के स्तर पर ब्रिटिश इंडिया में हिंदी कहीं नहीं थी। कोर्ट कचहरी थाना तहसील में कारवाई अंग्रेजी के बाद उर्दू में होती थी। कारण ऐतिहासिक थे। लेकिन हिंदी वालों के मन में उर्दू का विरोध भी गहरे बसा था। उसे सांप्रदायिक रंग भी दिया जाता था। जिस के पीछे एक भ्रामक नारा था – हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान। जैसे देश में मलयालम, तमिल, गुजराती, बांग्ला आदि भाषाएं हों ही नहीं! उत्तर भारत के बहुत सारे लोगों को यह नारा मोहक लगता था।

आजाद होते ही हर क्षेत्र की तरह भाषा के क्षेत्र में भी देश ने दूरगामी कदम उठाने शुरू कर दिए। तरह-तरह के वैज्ञानिक संस्थान और शिक्षा के लिए अच्छे से अच्छे तकनीकी विद्यालयों की योजनाएं बनाई जाने लगीं। छलांग लगा कर पचास सालों में तेज दौड़ती दुनिया के निकट पहुंचने के लिए पंचवर्षीय योजनाएं बनीं। आकलन किया गया था 1984 के आसपास हम लक्ष्य के कहीं करीब

होंगे। 84 तक हिंदुस्तान की उन्नति का लांचिंग पैड तैयार हो चुका था, अब तो उड़ानें भी नजर आने लगी हैं।

इसी प्रकार हिंदी की उन्नति के लिए आयोग बने, नई शब्दावली का निर्माण आरंभ हुआ। तरह-तरह के कोशों के लिए अनुदान दिए गए। डाक्टर रघुवीर की कंप्रीहैंसिव इग्लिश-हिंदी डिक्शनरी और पंडित सुंदर लाल का विवादित हिंदुस्तानी कोश उन्हीं अनुदानों का परिणाम थे। हिंदी के सामने चुनौती थी उस अंग्रेजी तक पहुंचने की जो औद्योगिक क्रांति के समय से ही तकनीकी शब्द बनाती आगे बढ़ रही थी। वहां शब्दों का बनना और प्रचलित होना एक ऐसी प्रक्रिया थी, जैसे सही जलवायु में किसी बीज का विशाल पेड़ बन जाना। हिंदी के पास यह सुविधा नहीं थी, या कहें कि इसका समय नहीं था। रास्ते में उसे गलतियां करनी ही थीं। ऊपर वाले दोनों कोश वैसी ही गलतियां कहे जा सकते हैं। (रघुवीरी कोश को भी गलती मान कर मैं ने कोई कुफ्र तो नहीं कर दिया? लेकिन मैदाने जंग में शहसवार ही गिरते हैं, घुटनों के बल चलने वाले नहीं। डॉ. रघुवीर हमारे कुशलतम घुड़सवार थे, इस में कोई शक नहीं।)

आजादी के बाद हिंदी का मतलब पंडिताऊ हिंदी से बचती हुई लेकिन संस्कृत शब्दों से प्रेरित नवसंस्कृत शब्दों वाली भाषा हो गया था। अचानक राष्ट्रभाषा और राज्यभाषा पद पर बैठने वाली भाषा को अंग्रेजी की सदियों में बनी बौकेबुलैरी के नजदीक पहुंचना था। हिंदी के लिए तकनीकी शब्दावली बनाने का महाभियान या आपरेशन शुरू किया गया। यह जरूरी भी था। नई स्वतंत्र राष्ट्रीयता के जोश में वैज्ञानिकों के साथ बैठ कर हिंदी विद्वान शब्द बनाने बैठे। जैसा चीन में हुआ वैसा ही भारत में भी। तकनीकी शब्दों के अनुवाद, कई जगहों पर अनगढ़ अप्रिय अनुवाद, किए जाने लगे। जो भाषा बनी वह रेडियो समाचारों और हिंदी दैनिकों पर कई दशक छाई रही। लेकिन लोकप्रिय न हो पाई। कारण? यह फैक्ट ओवरलुक कर दिया गया कि तकनीकी शब्द वे लोग बनाते हैं जो किसी उपकरण को यूज करते हैं या इनवैंट करते हैं। यह भी नजरअंदाज कर दिया गया कि उन्नीसवीं सदी वाली आधी-ऊंघती आधी-जागती दुनिया इक्कीसवीं सदी की तरफ दौड़ रही है। अब इनफौर्मेशन क्रांति के युग में हर रोज इतनी सारी नई चीजें बन रही हैं कि उन के नामों का अनुवाद करते-करते और अनुवाद को लोकप्रिय करते-करते संसार हमें पीछे छोड़ जाएगा।

जो भी हो पिछले सौ सालों में हिंदी में जो तीव्र विकास हुआ है, एक आधुनिक संपन्न भाषा उभर कर आई है, वह संसार भर में भाषाई विकास का

अनुपम उदाहरण है। लैटिन से आक्रांत इंग्लैंड में अंग्रेजी को जहां तक पहुंचने में पांच सौ से ऊपर साल लगे, वहां तक पहुंचने में हिंदी को मेरी राय में कुल मिला कर डेढ़ सौ साल लगेंगे–2050 तक वह संसार की समृद्धतम भाषाओं में होगी–सिवाए एक बात के। वह यह कि आज अंग्रेजी संसार में संपर्क की प्रमुख भाषा है। इस स्थान तक हिंदी शायद कभी न पहुंचे, या पहुंचे तो तब जब भारत दुनिया का सर्वप्रमुख देश बन पाएगा। संख्या की दृष्टि से हिंदी बोलने वाले आज दुनिया में चौथे स्थान पर हैं। वे धरती के हर कोने में मिलते हैं। कई देशों में वे इनफौर्मेशन तकनीक में मार्गदर्शक ही नहीं नेता का काम कर रहे हैं, जब कि भारत में यह तकनीक काफी बाद में पहुंची।

विश्वनाथजी का योगदान

मेरा सौभाग्य है कि पिछले बासठ सालों से (1945 से) मैं मुद्रण, पत्रकारिता (सरिता, केरेवान, मुक्ता, माधुरी, सर्वोत्तम रीडर्स डाइजैस्ट) से जुड़ा रहा हूं। पत्रकार, लेखक, अनुवादक, कला-नाटक-फिल्म समीक्षक होने के नाते अनेक क्षेत्रों से मेरा साबका पड़ा। दिल्ली में रंगमंच से सक्रिय संपर्क रहा, और मुंबई में फिल्मों की दुनिया को निकट से देखने का मौका मिला। इस का लाभ हुआ भिन्न विधाओं की भाषा समस्याओं को नजदीक से देखा-समझा। चाहे तो कोई भाषा को कितना ही गरिष्ठ बना सकता है। लेकिन पाठक को दिमागी बदहजमी करा के न लेखक का कोई लाभ होता है, न पाठक लेखक की बात पचा पाता है.. यह पाठ मुझे पत्रकारिता और लेखन में मेरे गुरु सरिता-कैरेवान संपादक विश्वनाथजी ने शुरू में ही अच्छी तरह समझा दिया था। हिंदी की साहित्यिक दुनिया में विश्वनाथजी का नाम कभी कोई नहीं लेता। सच यह है कि 1945 में सरिता का पहला अंक छपने से ले कर अपने अंतिम समय तक उन्होंने हिंदी को, समाज को, देश को जो कुछ दिया वह अप्रशंसित भले ही रह जाए, नकारा नहीं जा सकता। उन्होंने भाषा का जो गुर मुझे सिखाया, वह अनायास मिला वरदान था।

सरिता के संपादन विभाग तक मैं 1950 के आसपास पहुंचा..उपसंपादक के रूप में। मैं हर अंक में बहुत कुछ लिखता था। विश्वनाथ जी मेरे लिखे से खुश रहते थे। मेरे सीधे-सादे वाक्य उन्हें बहुत अच्छे लगते थे। विश्वनाथ जी ने ही मुझे संप्रेषण का मूल मंत्र सिखाया था। जिससे हम मुखातिब हैं, जो हमारा पाठक श्रोता दर्शक आडिएंस है, हमें उस की भाषा में बात करनी होगी।

विश्वनाथ जी ने सरिता में नया स्थायी स्तंभ जोड़ दिया : ‘यह किस देश

प्रदेश की भाषा है?' इस में तथाकथित महापंडितों की गरिष्ठ, दुर्बोध और दुरूह वाक्यों से भरपूर हिंदी के चुने उद्धरण छापे जाते थे। उन पर कोई कमेंट नहीं किया जाता था। इस शीर्षक के नीचे उन का छपना ही मारक कमेंट था।

भाषा बहता नीर

जीवंत भाषा और समाज बदलते रहते हैं। हिंदुस्तान बहुत बदला है, बदल रहा है। हिंदी बदली है, बदल रही है, बदलेगी। मैं समझता हूं न बदलना संभव नहीं है। न बदलेगी तो इस की गिनती संस्कृत जैसी मृत भाषाओं में होगी, जिस से विद्रोह कर तुलसीदास ने रामचरित मानस की रचना 'भाषा' में की। मैं संस्कृत भाषा की समृद्धता के विरुद्ध कुछ नहीं कह रहा हूं। संस्कृत न होती तो हमारी हिंदी भी न होती। हमारे अधिकतर शब्द वहीं से आए हैं, कभी तत्सम रूप में, तो कभी तद्भव रूप में। संस्कृत जैसे शब्दों की हमारी एक बिल्कुल नई कोटि भी है। वे अनगिनत शब्द जो हम ने बनाए हैं, लेकिन जो प्राचीन संस्कृत भाषा और साहित्य में नहीं हैं। यदि हैं तो भिन्न अर्थों में हैं। इन नए शब्दों का आधार तो संस्कृत है पर इन की रचना बिल्कुल नए भावों को प्रकट करने के लिए की गई है। इन्हें संस्कृत शब्द कहना गलत होगा। ये आज की हिंदी की पहचान बन गए हैं। उदाहरण के लिए अंग्रेजी के कोऐग्जिटेंस का हिंदी अनुवाद सहअस्तित्व। यह किसी भी प्रकार संस्कृत शब्द नहीं है। संस्कृत में इसे सहास्तित्व लिखा जाता। इस शब्द के पीछे जो भाव है वह भी संस्कृत में इस विशिष्ट संदर्भ में नहीं मिलेगा। इन शब्दों को हम नवसंस्कृत कह सकते हैं।

हिंदू शब्द की ही तरह हिंदी शब्द भारत में नहीं बना। यह ईरान से आया है। यूं कभी ईरान भी भारतीय सांस्कृतिक क्षेत्र का अभिन्न अंग था। कहने को हिंदी मुख्यतः उत्तर भारत के भारी पापुलेशन वाले राज्यों में बोली जाती है, कई राज्यों और पूरे देश की राजभाषा है, लेकिन उसे लिखने पढ़ने और बोलने वाले पूरे देश में मिलते हैं। विदेशों में हिंदी बोलने वाले लोग गायना, सुरिनाम, त्रिनिदाद और टबैगो, फीजी, मारीशस, क़तार, कुवैत, संयुक्त अरब अमीरात, कनाडा, संयुक्त राज्य अमेरीका, ब्रिटेन, रूस, सिंगापुर, दक्षिण अफ्रीका आदि में पाए जाते हैं। आज जो हिंदी हम जानते हैं, वह हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के कुछ हिस्सों की भाषा हुआ करती थी, जिसे खड़ी बोली कहते हैं। संभवतः खड़ी बोली शब्द कौरवी बोली का बदला रूप है यानी वह भाषा जो कुरु (कौरव और पांडव) क्षेत्र में बोली जाती थी। सदियों से हिंदी के नाम

बदलते रहे हैं, कुछ नाम रहे हैं – भाखा, भाषा, रेख़ता, हिंदवी, हिंदी, हिंदुस्तानी। जिसे आज हम उर्दू कहते हैं यह वास्तव में हिंदी ही है। पिछली दो सदी में अनेक राजनीतिक कारणों से वह अरबी-फारसी मिश्रित शब्दों वाली अलग शैली और फिर अलग भाषा बन गई। खड़ी बोली के अतिरिक्त ब्रजभाषा, भोजपुरी, राजस्थानी, हरियाणवी आदि हिंदी की अनेक उपभाषाएं मानी जाती हैं, जो धीरे-धीरे शायद स्वतंत्र आधुनिक भाषाएं बन जाएं।

इंडिया में न्यू हिंदी : रघुबीरी को ढूंढते रह जाओगे!

खुशी की बात यह है कि अब हिंदी शुद्धताऊ प्रभावों से मुक्त होती जा रही है, और रघुबीरी युग को बहुत पीछे छोड़ चुकी है। पत्रकार अब हर अंग्रेजी शब्द का अनुवाद करने की मुसीबत से छूट चुके हैं। वे एक जीवंत हिंदी की रचना में लगे हैं। आतंकवादी के स्थान पर अब वे आतंकी जैसे छोटे और सार्थक शब्द बनाने लगे हैं। उन्होंने बिल्कुल व्याकरण असंगत शब्द चयनित गढ़ा है, लेकिन वह पूरी तरह काम दे रहा है। आरोप लगाने वाले 'आरोपी' का प्रयोग वे 'आरोपित' व्यक्ति के लिए कर रहे हैं। अगर पाठक उन का मतलब सही समझ लेता है, तो यह भी क्षम्य माना जा सकता है। तकनीकी शब्दों या चीजों या नई प्रवृत्तियों के नामों के अनुवाद में सब से बड़ी समस्या एकरूपता की होती है। कोई रेडियो को दूरवाणी लिखेगा, कोई आकाशवाणी, कोई नभवाणी, तो कोई विकीर्णध्वनि.. मेरी राय में नए अन्वेषणों का अनुवाद अनुपयुक्त प्रथा है। स्पूतनिक का अनुवाद नहीं किया जा सकता। गांधी चरखे या अंबर चरखे को अंग्रेजी में इन्हीं नामों से पुकारा जाएगा। इंग्लैंड में आविष्कृत कताई मशीन स्पिनिंग जैनी को हिंदी में कतनी छोकरी नहीं कहा जा सकता। खुशी है कि रेलगाड़ी को लौहपथगामिनी लिखने वाले अब नहीं बचे।

दैनिक पत्रों के मुकाबले टीवी की तात्कालिकता निपट तात्कालिक होती है, विशेषकर समाचार टीवी में। यह तात्कालिकता ही हमारी भाषा के नए सबल सांचे में ढलने की गारंटी है। नई भाषा की एक खूबी है कि वह नई जीवन शैली को उत्सुक नवयुवा पीढ़ी की भाषा है। यह पीढ़ी 1947 के भारत की हमारी जैसी पीढ़ी नहीं है। पर मुझ जैसे अनेक लोग हैं जो इस बदलाव के साथ बदलते आए हैं और अपने आप को उसके के निकट पाते हैं। मैं नहीं समझता कि हिंदी पत्रकारिता की भाषा भ्रष्ट हो गई है। मैं तो कहूंगा कि वह हर दिन समृद्ध हो रही है।

हिंदी पत्रकारिता नए जमाने के नए शब्द बेहिचक, बेखटके, बेधड़क,

निश्शंक, पूरे साहस के साथ ला रही है। दो तीन दिन के हिन्दुस्तान और दैनिक जागरण से कुछ शब्द देता हूं – हॉट शॉट, बॉलीवुड, ट्रेलर, चैनल, किरदार, समलैंगिक, एसजीपीसी (शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक समिति), दिल्ली विवि (विश्वविद्यालय), रजिस्ट्रार, फ्लाईओवर स्टेडियम, पासवर्ड, इनफोटेनमैंट, सब्स्क्राइबर, नैटवर्किंग, डायरेक्ट टु होम (डीटीएच), सेंट्रल लाइब्रेरी, ओपन स्कूल, हाईवे, इन्वेस्टमेंट मूड, प्रॉपर्टी, लिविंग स्टाइल, लोकेशन, शॉपिंग सेंटर..

21 वीं सदी के हिंदुस्तान ने गुलामी के दिनों के अंधे अंग्रेजी विरोध वाली मैंटलिटी से छुट्टी पा ली है। नई सोसाइटी में रीडर बदल रहे हैं, भाषा बदल रही है। परिवर्तन को सब से पहले पहचाना मीडिया ने। उसकी शैली बदल गई, भाषा बदल गई, नीति बदल गई। टीवी वाले तात्कालिकता के साथ नई सरपट जबान में भड़भड़ गाड़ी दौड़ाते हैं।

पेश है हिंदी न्यूजपेपर अब जो छाप रहे हैं, उस के कुछ नमूने-

- हाई कोर्ट का आयोग से जवाबतलब (कहां गया उच्च न्यायालय?)
- गुजरात के दंगों में बीजेपी के दो पार्षदों को सज़ा (भाजपा नहीं)
- हॉबवुड सर्फिंग सेशन के विनर रहे (विजेता नहीं)
- एडमिशन शुरू होने से पहले.. (प्रवेश या दाखिला नहीं)
- कोर्सों में.. स्टूडैंट्स को.. (छात्र अब कितने लोग बोलते हैं?)
- रीडर्स मेल (पाठकों के पत्र नहीं)
- ताश के पत्तों की तरह गिरे पोल (खंभे नहीं)
- मास्को में दिल्ली फेस्टिवल शुरू (समारोह या उत्सव नहीं)
- सर्च इंजन (वर्गीकृत विज्ञापन नहीं)
- डाक्टर लड़का अवधिया कुर्मी (MBBS) 33/5'6" (सरकारी सेवारत झारखंड सरकार) हेतु डा. वधु (MBBS/BDS) चाहिए..पिता सरकारी सेवारत (MS OBST & GYNAE) अपना नर्सिंग होम।
- अंबष्ठ गोरी लंबी खूबसूरत MBA, MCA, BE प्रतिष्ठित परिवार की लड़की मांगलिक 29/5'6" sr. Software Engineer, Satyam computer, Pune में कार्यरत लड़की के लिए..।

कुछ इसे महापतन मानते हैं। लेकिन नई पीढ़ी को इसकी जरा भी चिंता नहीं है। वे लोग भाषाकोश देख कर नहीं बोलते, न उन्हें अपनेआप को विद्वान हिंदी का दिग्गज साबित करना है। ऐसा भी नहीं है कि हिंदी में अपने नए शब्द नहीं बन रहे। सच यह है कि भाषा विद्वान नहीं बनाते, भाषा बनाते हैं, भाषा का उपयोग करने वाले..आम आदमी, मिस्तरी, करख़नदार या फिर लिखने वाले।

घुड़चढ़ी शब्द डाक्टर रघुवीर नहीं बना सकते थे, न ही वे मुंहनोंचवा बन सकते हैं कार मेकेनिकों ने अपने शब्द बनाए हैं। पहलवानों ने कुश्ती की जो शब्दावली बनाई (कुछ उदाहरण - मरोड़ी कुंदा, मलाई घिस्सा, भीतरली टांग, बैठी जनेऊ) वह कोई भी भाषा आयोग नहीं बना सकता था। विद्वानों का काम होता है भाषा का अध्ययन, विश्लेषण..अखबारों में कई देशज हिंदी शब्दावली भी बन रही है। नए ठेठ हिंदी शब्द विद्वान नहीं बना रहे। हिंदी लिखने वाले बना रहे हैं..जैसे कबूतरबाजी। अंगेजी ह्यूमैन ट्रैफिकिंग के लिए पूरी तरह देशी शब्द। गैरकानूनी तरीके से, पासपोर्ट वीजा नियमों को तोड़ते हुए हिंदुस्तानियों को पश्चिमी देशों तक पहुंचाने का धंधा। या फिर ब्लौगिया या चिट्ठाकार, और चिट्ठाकारिता। इंटरनेट की दुनिया से आम उपयोगकर्ता द्वारा उपजे शब्द। अंग्रेजी में इंटरनेट पर लिखने और विचारविमर्श बहसाबहसी की प्रथा को पहले वेबलौगिंग कहा गया, बाद में उससे बना ब्लौगिंग। उसी से दुनिया भर में फैले आम हिंदी प्रेमी ने ये शब्द बनाए हैं, ब्लौगिंग करने वाला ब्लौगिया, ब्लौग (यानी लिखा गया कोई विचार) चिट्ठा, पुराने चिट्ठा और चिट्ठी को दिया गया बिल्कुल नया अर्थ। क्या कोई विद्वान ये शब्द बना पाता?

तो आइए चेंजिंग भारत की लाइवली बोली और भाषा का हार्टी वेलकम करें, सेलिब्रेट करें, जश्न मनाएं।

अध्याय - 16

खड़ी बोली का आंदोलन और अयोध्या प्रसाद खत्री

राजीवरंजन गिरि

मौजूदा दौर में हिन्दी-साहित्य का सामान्य विद्यार्थी अयोध्या प्रसाद खत्री को लगभग भूल चुका है। आखिर इसकी वजह क्या है? क्या अयोध्या प्रसाद खत्री का अवदान इतना कम है कि वह साहित्य के विद्यार्थियों के सामान्य-बोध का अंग न बन सकें। अथवा यह हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों और आलोचकों के दृष्टिकोण की खामी है या अध्ययन की किसी खास रणनीति का नतीजा?

भारतेंदु-युग से हिन्दी-साहित्य में आधुनिकता की शुरूआत हुई। उस दौर के रचनाकारों को आधुनिकता की शुरूआत करने का श्रेय दिया जाता है, जो वाजिब है। इसी दौर में बड़े पैमाने पर भाषा और विषय-वस्तु में बदलाव आया। खड़ीबोली हिन्दी गद्य की भाषा बनी। आचार्य रामचंद्र शुक्ल सहित सभी इतिहासकार-आलोचकों ने विषय-वस्तु के साथ-साथ भाषा के रूप में खड़ी बोली हिन्दी के चलन को आधुनिकता का नियामक माना है। गौरतलब है कि इतिहास के उस कालखंड में, जिसे हम भारतेंदु-युग के नाम से जानते हैं, खड़ीबोली हिन्दी गद्य की भाषा बन गई लेकिन पद्य की भाषा के रूप में ब्रजभाषा का बोलबाला कायम रहा। इतना ही नहीं, कविताओं का विषय भक्ति और रीतिकालीन रहा। इस लिहाज से, कविता मध्यकालीन भाव-बोध तक सीमित रही।

अयोध्या प्रसाद खत्री ने गद्य और पद्य की भाषा के अलगाव को गलत मानते हुए इसकी एकरूपता पर जोर दिया। पहली बार इन्होंने साहित्य जगत का ध्यान इस मुद्दे की तरफ खींचा। साथ ही इसे आंदोलन का रूप दिया। इसी क्रम में खत्री जी ने 'खड़ी-बोली का पद्य' दो खंडों में छपवाया। इन दोनों

किताबों को तत्कालीन साहित्य-रसिकों के बीच निःशुल्क बंटवाया। काबिलेगौर है कि इस किताब के छपने के बाद काव्य-भाषा का सवाल एक महत्वपूर्ण मुद्दे के रूप में उभरा। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में 'खड़ी बोली का पद्य' ऐसी पहली और अकेली किताब है, जिसकी वजह से इतना अधिक वाद-विवाद हुआ। इस किताब ने काव्य-भाषा के संबंध में जो विचार प्रस्तावित किया, उस पर करीब तीन दशकों तक बहसें होती रहीं। इस किताब के जरिए एक साहित्यिक आंदोलन की शुरूआत हुई। हिन्दी कविता की भाषा क्या हो, ब्रजभाषा अथवा खड़ीबोली हिन्दी? इसके संपादक ने खड़ीबोली हिन्दी का पक्ष लेते हुए ब्रजभाषा को खारिज किया। लिहाजा, इस आंदोलन की वजह से परिस्थितियां ऐसी बदलीं कि ब्रजभाषा जैसी साहित्यिक भाषा बोली बन गयी और खड़ी बोली जैसी बोली साहित्यिक भाषा के तौर पर स्थापित हो गई। 'खड़ी बोली का पद्य' के पहले भाग की भूमिका में खत्री जी ने खड़ी बोली को पांच भागों में बांटा – ठेठ हिन्दी, पंडित जी की हिन्दी, मुंशी जी की हिन्दी, मौलवी साहब की हिन्दी और यूरेशियन हिन्दी। उन्होंने मुंशी-हिन्दी को आदर्श हिन्दी माना। ऐसी हिन्दी जिसमें कठिन संस्कृतनिष्ठ शब्द न हों। साथ ही अरबी-फारसी के कठिन शब्द भी नहीं हों। लेकिन आमफहम शब्द चाहे किसी भाषा के हों, उससे परहेज न किया गया हो। प्रसंगवश, इसी मुंशी हिन्दी को महात्मा गांधी सहित कई लोगों ने हिन्दोस्तानी कहा है।

'खड़ी बोली का पद्य' और अयोध्या प्रसाद खत्री के आंदोलन से पहले खड़ी बोली में कविताएं लिखी जाती थीं। ये कविताएं कभी-कभार छपती भी थीं। 'खड़ी बोली का पद्य' में अयोध्या प्रसाद खत्री ने जिन कविताओं को शामिल किया, सारी पहले छप चुकी थीं। गौरतलब है कि 'खड़ीबोली-पद्य-आंदोलन' का जिन लोगों ने प्रखर विरोध किया, इनमें से ज्यादातर लोग इस आंदोलन से पहले खड़ीबोली में कविता लिख चुके थे अथवा खड़ीबोली में कविता लिखने के लिए कवियों को प्रेरित कर रहे थे।

काव्य-भाषा के तौर पर खड़ीबोली हिन्दी का सबसे मुखर विरोध राधाचरण गोस्वामी, प्रताप नारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट कर रहे थे। जबकि ये तीनों रचनाकार खड़ीबोली हिन्दी में कुछ कविताएं लिख चुके थे। साथ ही अपने-अपने पत्र में खड़ीबोली में कविताएं प्रकाशित कर चुके थे। 'दूसरे भारतेंदु' के नाम से चर्चित प्रताप नारायण मिश्र की खड़ीबोली हिन्दी में लिखी कविता 'चाहो गाना समझो, चाहो रोना समझो' 15 जून 1884 ई. को 'ब्राह्मण' में छपी है। इस कविता के साथ नागरी में कविता लिखने के लिए प्रताप नारायण मिश्र की

एक अपील भी छपी है :

'आर्य कवियों से हम सानुरोध प्रार्थना करते हैं नागरी भाषा की कविता का भी ढंग डालें। जिस भाषा के लिए इतनी हाय करते हैं उसमें कविता की चाल न हो प्रिय वर्ग हमें सहायता दो।'

प्रताप नारायण मिश्र की अपील में ही वे बुनियादी कारण मौजूद हैं, जिसकी वजह से वे बाद में खत्री जी के 'खड़ी बोली का पद्य' आंदोलन के विरोधी हो गये। मिश्र जी ने अपील में जिसे नागरी भाषा कहा है, वह खड़ीबोली हिन्दी ही है। लेकिन इस अपील में एक बात महत्वपूर्ण है। यह अपील सिर्फ 'आर्य कवियों' से की गयी है। दरअसल हंटर कमीशन (1882) में सैकड़ों मेमोरेण्डम देने के बावजूद हिन्दी के पक्ष में निर्णय न होने के कारण प्रताप नारायण मिश्र सरीखे हिन्दी-आंदोलनकारी क्षुब्ध थे। इसी दौर में जोरदार तरीके से भाषा की धार्मिक पहचान गढ़ी जा रही थी। लिहाजा, पश्चिमोत्तर प्रांत के हिन्दी-आंदोलनकारियों के लिए खड़ीबोली हिन्दी हिन्दुओं की भाषा हो गयी। इसी का नतीजा है कि प्रताप नारायण मिश्र सिर्फ 'आर्य कवियों' से 'सानुरोध प्रार्थना' करते हैं। इस अपील में 'हंटर कमीशन' के दौर में हुई गहमागहमी की छाया स्पष्ट रूप से दिखती है। अपील में इन्होंने कहा है कि 'जिस भाषा के लिए इतनी हाय करते हैं।' हंटर कमीशन के दौरान फारसी लिपि (उर्दू) को हटाकर नागरी लिपि (हिन्दी) को लागू करने के लिए हिन्दी-आंदोलनकारियों ने काफी 'हाय' मचायी थी।

प्रतापनारायण मिश्र के इस 'सानुरोध प्रार्थना' से पहले चम्पारण के एक गांव रतनमाल, (बगहां) के पंडित चंद्रशेखर मिश्र की 1883 ई. में 'पीयूष प्रवाह' मासिक में एक कविता छपी। इस कविता में मिश्र जी ने खड़ी बोली हिन्दी में पद्य रचने के लिए वकालत की है :

'गद्य की भाषा विशुद्ध विराजित पद्य की भाषा वही मथुरा की।
आधी रहे मुरगी की छटा फिर आधी बटैर की राजै छटा की।।
ऐसी कड़ी द्विविधा में पड़ी-पड़ी यों बिगड़ी कविता छवि बांकी।
हिन्दी विशुद्ध में गद्य सुपद्य कै उन्नति कीजिए यों कविता की।।

गौरतलब है कि प्रतापनारायण मिश्र से चंद्रशेखरधर मिश्र की अपील में फर्क है। प्रतापनारायण मिश्र ने खड़ी बोली हिन्दी में कविता रचने के लिए सिर्फ 'आर्य कवियों से सानुरोध प्रार्थना' की है जबकि चंद्रशेखरधर मिश्र ने ऐसा नहीं किया है। एक बात जरूर काबिलेगौर है कि चंद्रशेखरधर मिश्र की इस छोटी

कविता में उर्दू-फारसी का एक भी शब्द नहीं आ पाया है। क्या यह महज संयोग है? अथवा लल्लू जी लाल रवि की तरह जानबूझकर हटाया गया है। बहरहाल, चंद्रशेखरधर मिश्र 'हिन्दी विशुद्ध में गद्य सुपद्य के उन्नति कीजिए यों कविता की' में किस हिन्दी में पद्य-रचना कराना चाहते थे, इसका सहज पता चलता है। चंद्रशेखरधर मिश्र की इसी सोच का नतीजा है कि 'हिन्दी उर्दू की लड़ाई' नामक नाटक लिखनेवाले सोहन प्रसाद मुदर्रिस के मामले में उन्होंने हिन्दी-भाषा का हिन्दू धर्म से रिश्ता जोड़कर भाषायी साम्प्रदायिकता फैलानेवालों के साथ बढ़ चढ़कर हिस्सा लिया। इस प्रकार, शुरूआत में प्रतापनारायण मिश्र और चंद्रशेखरधर मिश्र की काव्य-भाषा संबंधी चिंता समान है। दोनों की भाषा एक जैसी है। फर्क है तो सिर्फ पाठ में, जिसको लक्ष्य कर दोनों अपील कर रहे थे।

'खड़ीबोली का पद्य' का पहला मुखर विरोध राधाचरण गोस्वामी ने किया। इन्होंने 'हिंदोस्थान' में इसकी समीक्षा लिखते हुए इस किताब को 'अयोध्या प्रसाद खत्री लिखित' कहा। जबकि इस किताब में खत्री जी की लिखी सिर्फ छोटी भूमिका है। इसी समीक्षा में कहा कि इस भाषा में कवित, सवैया आदि छंदों का निर्वाह नहीं हो सकता और यदि किया भी जाता है तो बहुत भद्दा मालूम पड़ता है। राधाचरण गोस्वामी को एक आपत्ति यह भी थी कि खड़ी बोली हिन्दी में कविता लिखने पर भाषा यानी जनभाषा के प्रसिद्ध छंद छोड़कर उर्दू के बैत, शेर, गजल आदि का अनुकरण करना पड़ता है। इनका मानना था कि चंद से हरिश्चंद्र तक सारी कविता ब्रज भाषा में हुई है और सब पंडितों ने संस्कृत के अनंतर 'भाषा' शब्द से इसी का व्यवहार किया। हमारी कविता की भाषा अभी मरी नहीं है तब फिर इसमें क्यों न कविता की जाए? गोस्वामी जी का मानना था कि संस्कृत नाटकों में साहित्य के लालित्य के लिए संस्कृत, प्राकृत, पैशाची कई भाषा व्यवहार की गयी है तो यदि हम हिन्दी साहित्य में दो भाषा व्यवहार करें तो क्या चोरी है? इस समय में हमारे परम आतुर आर्य समाजी और मिशनरी आदिकों ने भाषा साहित्य की रीति और अलंकार आदि बिना जाने कविता लिखने का आरंभ करके अपने हास्य के सिवाय काव्य की भी उलटे हुए छुरे से खूब हजामत की है और इस पिशाची कविता से अपने समाज का भी खूब मुख नीचा किया है। बस यह खड़ी बोली की कविता भी पिशाची नहीं तो डाकिनी अवश्य कवित-समाज में मानी जाएगी।

अव्वल तो यह कि गोस्वामी जी की चिंता उर्दू के बैत, शेर और गजल से बचने की है। सवाल उठता है कि गोस्वामी जी सरीखे विद्वान उर्दू से बचने की

इतनी कोशिश क्यों करते हैं? इसका जवाब गोस्वामी जी के ही एक कथन में मिलता है – 'मैं जिस कुल में उत्पन्न हुआ उसमें अंग्रेजी पढ़ना तो दूर है, यदि कोई फारसी, अंग्रेजी का शब्द भूल से भी मुख से निकल जाए तो बहुत पश्चाताप करना पड़े।' बावजूद इसके गोस्वामी जी ने अंग्रेजी पढ़ी। फिर उर्दू-फारसी से इतना वैर क्यों? इसकी वजह भाषा के आधार पर हो रही तत्कालीन साम्प्रदायिक राजनीति थी। यहां यह भी ध्यान रखना होगा कि गोस्वामी जी ने संस्कृत नाटकों में प्राकृत, पैशाची आदि कई भाषाओं के प्रयोग को 'साहित्य का लालित्य' माना है। गौरतलब है कि यह कथन संस्कृत नाटकों के युग की नाट्यभाषा में छिपी वर्चस्ववादी विचारधारा को नहीं समझने का नतीजा है। संस्कृत नाटकों में द्विज पुरुष पात्र संस्कृत में संवाद बोलता है जबकि स्त्री और शूद्र पात्र प्राकृत, पैशाची आदि लोक भाषाओं में। इसे साहित्यिक लालित्य समझना तत्कालीन भाषायी विभेदकारी शोषणमूलक संरचना को नहीं समझने का परिणााम है अथवा-साहित्यिक लालित्य के नाम पर उस विचारधारा को छिपाने की कोशिश।

राधाचरण गोस्वामी के सवालों का जवाब उसी अखबार में श्रीधर पाठक ने दिया। इसके बाद इस मुद्दे पर पक्ष-विपक्ष में लेख छपने लगे। गोस्वामी जी ने फिर से अपनी पुरानी मान्यताओं पर अडिग रहते हुए – जिसमें इन्होंने हिन्दी को पिशाचिनी, डाकिनी कहा था – दूसरा सवाल पूछा कि खड़ीबोली के पक्षधर किस कविता को लेकर हिन्दी काव्य-रचना करेंगे? उन्होंने शंका जतायी कि खड़ी बोली की कविता की चेष्टा की जाए तो फिर खड़ी बोली के स्थान में थोड़े दिनों में खाली उर्दू कविता का प्रचार हो जाएगा। उनको लगता था कि 'गद्य में सरकारी पुस्तकों में फारसी शब्द घुस ही पड़े, उधर पद्य में फारसी भरी गई तो सहज ही झगड़ा विदा।' राधाचरण गोस्वामी के इस सवाल–खड़ी बोली के पक्षधर किस कविता को लेकर हिन्दी काव्य-रचना करेंगे, का जवाब देते हुए श्रीधर पाठक ने लिखा 'हमलोग ब्रजभाषा और खड़ी बोली भाषा दोनों की कविता से अपनी अराध्य हिन्दी को द्विगुणित, चतरगुणित आभूषण पहनाकर और विधि-रीति से उसके 'अटल' भंडार को बढ़ाकर उसके असीम वैभव के सदा अभिमानी होंगे और दोनों का आधार साधार रखेंगे।' राधाचरण गोस्वामी की शंका थी कि खड़ी बोली में काव्य-रचना करने पर थोड़े दिनों में सिर्फ उर्दू कविता का प्रचार हो जाएगा, को वक्त ने निराधार साबित कर दिया है। इनकी एक चिंता कि कविता में फारसी घुस जाएगी का जवाब देते हुए पाठक जी ने लिखा – 'खड़ी हिन्दी की कविता में उर्दू नहीं घुसने पावेगी। जब हम हिन्दी

की प्रतिष्ठा के परीक्षण में सदा सचेत रहेंगे तो उर्दू की ताव क्या जो चौखट के भीतर पांव रख सके।' 'कविता में फारसी घुस जाएगी' – दरअसल खड़ी बोली काव्य भाषा के विरोध का सबसे बड़ा कारण था। काबिलेगौर है कि इस मुद्दे पर 'खड़ीबोली का पद्य' के विरोधी राधारचण गोस्वामी और समर्थक श्रीधर पाठक की भाषा-नीति समान है। फर्क इतना है कि गोस्वमी जी को डर है कि खड़ी बोली में कविता रचने पर कविता में फारसी घुस जाएगी। जबकि श्रीधर पाठक को इसका डर नहीं है। वे उर्दू-फारसी से अपनी हिन्दी कविता को चाक-चौबंद रखने का विश्वास प्रकट करते हैं कि वे सरकार की नीति का अनुयायी बने बगैर हिन्दी कविता की रक्षा करेंगे।

स्कूली-हिन्दी में फारसी शब्दों के प्रयोग से गोस्वामी जी का डर बढ़ गया था। प्रसंगवश उस दौर में स्कूलों में पढ़ायी जाने वाली पुस्तकों को राजा शिवप्रसाद 'सितारै हिन्द' ने तैयार किया था। किताबों में आमफहम उर्दू-फारसी शब्दों से परहेज नहीं किया गया था। राजा शिव प्रसाद की इस नीति में हिन्दी-उर्दू करीब थी। यह बिल्कुल स्वाभाविक था। हिन्दी-उर्दू को करीब लाना ऐतिहासिक जरूरत भी थी। समूचे हिन्दी-उर्दू इलाके को एक सूत्र में बांधने के लिए यह जरूरी कदम था। यह ऐतिहासिक विडंबना है कि ब्रजभाषा कविता के पक्षधर राधाचरण गोस्वामी और खड़ीबोली कविता के पक्षधर श्रीधर पाठक इस सवाल पर एक साथ खड़े थे। आखिर इसके पीछे क्या वजह थी? लल्लूजी लाल कवि 'प्रेमसागर' में प्रचलित एवं आमफहम 'यावनी' शब्दों का प्रयोग क्यों नहीं कर रहे थे? जिस प्रकार 'यवन' के कदम रखने मात्र से कृष्ण मंदिर या भक्त का घर अपवित्र हो जाता था, उसी प्रकार कृष्णभक्ति से जुड़ी रचनाएं भी 'यावनी' शब्दों के प्रयोग से अपवित्र जो हो जातीं! यही वजह थी कि 'यावनी' शब्दों से हिन्दी को बचाने की जद्दोजहद चल रही थी। 'यावनी' शब्द से हिन्दी को बचाने की कोशिश में कृत्रिम और अस्वाभाविक हिन्दी गढ़ना इन लोगों को गवारा था। अपनी इसी मानसिकता के कारण तत्कालीन लेखकों का एक तबका खड़ी बोली हिन्दी गद्य से उर्दू-फारसी शब्दों को छांटकर संस्कृतनिष्ठ शब्दों का प्रयोग करता था। गोया कि इसके जरिए 'पवित्र' भाषा गढ़ी जा रही थी। खड़ी बोली के एक साहित्यिक रूप उर्दू में ज्यादातर मुस्लिम रचानाकार रचनाएं कर रहे थे। इसमें फारसी शब्दों का खुलकर प्रयोग भी हो रहा था। यही वजह थी कि श्रीधर पाठक, राधचरण गोस्वामी जैसे रचनाकार इस भाषा से दूरी कायम कर रहे थे।

प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट जैसे लेखकों को भी इसी का भय सता

रहा था। भट्ट जी की चिंता थी कि 'हम अपनी पद्यमयी सरस्वती को किसी दूसरे ढंग पर उतारकर मैली और कलुषित नहीं करना चाहते। पद्य या कविता उसी का नाम है जिस मार्ग भूषण, मतिराम, पद्माकर तथा सूर, तुलसी, बिहारी प्रभृति महोदय गण चल चुके हैं।' यहां भट्ट जी यह भूल जाते हैं कि इनकी 'पद्यमयी सरस्वती' कई नये ढंग पर उतरने के बाद ही भूषण मतिराम आदि कवियों तक पहुंची है। यहां एक सवाल यह भी पूछा जा सकता है कि जब कभी-कभार बालकृष्णभट्ट स्वयं खड़ी बोली में रचना करते थे तब क्या 'पद्यमयी सरस्वती कलुषित' नहीं होती थी। राधाचरण गोस्वामी की सुधार-चेतना ऐसी थी कि वह कुछ कदम आगे बढ़ाकर फिर कई कदम पीछे मुड़ गए थे। बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनाराण मिश्र और राधाचरण गोस्वामी भी खड़ी बोली में कविता रचने के मुद्दे पर दो कदम आगे बढ़ाकर अपने धार्मिक हठ की वजह से फिर पीछे चले गए थे।

इसे अलावा इन तीनों रचनाकरों के अलावा डा. ग्रियर्सन भी खड़ी बोली की कविता को असंभव करार दे रहे थे। इन चारों लेखकों ने अपनी इस धारणा का आधार भारतेंदु हरिश्चंद्र के कथन को बनाया था। इनका मानना था कि जब भारतेंदु ही खड़ीबोली में कविता नहीं रच सके तो फिर दूसरे रचनाकरों की क्या औकात? भारतेंदु हरिश्चंद्र 'रसा' उपनाम से गज़ल लिखते थे। इसके साथ ही उनके खड़ीबोली में कविता लिखने का जिक्र दो बार मिलता है। 1881 ई. में कलकत्ता से छोटूलाल मित्र के संपादन में प्रकाशित 'भारत मिश्र' के लिए खड़ीबोली हिन्दी में लिखे दोहे के साथ एक खत भेजा था – 'प्रचलित साधुभाषा में कुछ कविता भेजी है। देखिएगा कि इसमें क्या कसर है और किस उपाय अवलम्ब करने इस भाषा में काव्य सुंदर बना सकता है। इस कविता में सर्वसाधारण की अनुमति ज्ञात होने पर आगे से वैसा परिश्रम किया जाएगा। तीन-भिन्न छंदो यह अनुभव ही करने के लिए कि किस छंद में इस भाषा का काव्य अच्छा होगा, कविता लिखी है। मेरा चित्त इससे संतुष्ट न हुआ और न जाने क्यों ब्रजभाषा से इसके लिखने में दूना परिश्रम किया कि खड़ीबोली में कविता बनाऊं पर वह मेरे चित्तानुसार नहीं बनी। इससे निश्चय होता है कि ब्रजभाषा ही में कविता करना उत्तम होता है और इसी से सब कविता ब्रजभाषा में ही उत्तम होती है।' अव्वल तो यह कि भारतेंदु के चित्तानुसार कविता नहीं बनी तो उन्होंने नतीजा निकाल लिया कि ब्रजभाषा में कविता करना उत्तम होता है। खुद से जो काम नहीं हो सका, उसके बारे में नतीजा निकालना अपने आप पर टिप्पणी है।

गौरतलब है कि इन्हीं पंक्तियों के आधार पर भारतेंदु के प्रति अंधभक्ति रखने वाले तत्कालीन लेखक खड़ीबोली में पद्य-रचना को असंभव करार दे रहे थे। अंधसमर्थकों द्वारा किसी भी विचारक, गुरू या नेता की बातों का ऐसा ही हश्र होता है। अव्वल तो यह कि अंधभक्त अपने 'आराध्य' की बात को आलोचनात्मक दृष्टि से नहीं देखते। बदलती ऐतिहासिक परिस्थितियों के संदर्भ में उन विचारों का विकास भी नहीं कर पाते हैं। भारतेंदु की बातों का भारतेंदु-मंडल के सदस्यों के लिए कितना महत्व था, राधाचरण गोस्वामी के इस बयान से इसका अंदाजा लगाया जा सकता है। 'उनके (भारतेंदु के) लेख ग्रंथ हमको वेद वाक्यवत, प्रमाण और मान्य थे। उनको मानो ईश्वर का एकादश अवतार मानते थे। हमारे सब कामों में वह आदर्श थे, उनकी एक-एक बात हमारे लिए उदाहरण थीं।' इस बयान से भारतेंदु का व्यक्तित्व और गोस्वामीजी सरीखे लेखकों की अंधभक्ति का पता चलता है। वेद के वाक्यों पर आर्यसमाजी हिन्दुओं द्वारा सवाल उठाना, जिस प्रकार पाप माना जाता था उसी प्रकार इन लोगों द्वारा भारतेंदु की बात का प्रतिवाद करना तो दूर उस पर शंका करना भी मानो पाप जैसा था। यह कितनी बड़ी विडंबना है कि इतिहास के जिस दौर में बुद्धिवाद, आलोचनात्मक वृत्ति का विकास हो रहा था, उस दौर में हिन्दी के बड़े लेखकों में ऐसा भाव कायम था। भारतेंदु के प्रति इनकी अंधभक्ति का आलम यह था कि वे उनकी बात को भी ठीक से नहीं समझ पा रहे थे। ऐसे ही अंधसमर्थकों से आजीज आकर अयोध्या प्रसाद खत्री ने 'एक अगरवाले के मत पर खत्री की समालोचना' शीर्षक पैम्फलेट छपवाकर बंटवाया। खत्री जी ने लिखा कि 'बाबू भारतेंदु हरिशचंद्र ईश्वर नहीं थे। उनको शब्दशास्त्र (Philology) का कुछ भी बोध नहीं था। यदि Philology का ज्ञान होता तो खड़ी बोली पद्य में रचना नहीं हो सकती है, ऐसा नहीं कहते।' इतिहास के इस दौर में जब भारतेंदु-मंडल के लेखकों की तूती बोलती थी, उस समय भारतेंदु के बारे में ऐसी टिप्पणी काबिल-ए-बर्दाशत नहीं थी। हालांकि खत्री जी की बात तार्किक थी।

उन्नसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के दौर में बिहार में उर्दू भाषा के विरोध में हिन्दी-आंदोलन नहीं चल रहा था। बिहार का हिन्दी-आंदोलन उर्दू और हिन्दी को साथ लेकर चल रहा था। जबकि तत्कालीन पश्चिमोत्तर प्रांत का हिन्दी आंदोलन उर्दू और मुसलमानों का प्रखर विरोध कर रहा था। अयोध्या प्रसाद खत्री उर्दू विरोधी हिन्दी-आंदोलन का मुखर विरोध करते थे। हिन्दी और उर्दू की एकता की बात तत्कालीन साहित्यकारों को मंजूर नहीं थी। भाषा को धर्म

के आधार पर बांटने की रणनीति में इससे दरार पड़ती थी। इन्हीं सब वजहों से अयोध्या प्रसाद खत्री और उनकी भाषा-नीति का लगातार विरोध होता रहा।

- जुलाई, 2007

अध्याय – 17

उत्तरआधुनिकता और हिंदी का द्वंद्व

सुधीश पचौरी

उत्तरआधुनिकता ने जिस आकस्मिकता में हिंदी रचनाकारों-विचारकों को पकड़ा, उसके कॉमिक दृश्य अब तमाशा बन चुके हैं। यह लेखक इन कॉमिक दृश्यों को, छोटे बड़े तमाशों को बराबर लिखता-दर्ज करता रहा है, यथास्थान उनका विखंडन-मुंडन भी करता रहा है। हिंदी के पाठक इन दृश्यों से परिचित हैं, अब तो इन तमाशों पर हंसने तक लगे हैं। हिंदी के महान, महानतर, सब अपनी क्षुद्रताओं के साथ नजर आएं, उनकी बड़े, महान वृत्तांत देखने-कहने की कमजोरी सबको दिखे और वे अपने पुराने जर्जर वृत्तांतों के साथ अपने ही खड्डो में गिरें, इसकी अब कोई प्रतीक्षा भी नहीं करता। इस लेखक को इतना तोष है कि जिस विमर्श को उसने अपने समय को समझने के लिए चुना वह बहुत से दंभी प्रतिकारों, आक्षेपों के बावजूद एकमात्र कारगर औजार रहा।

पिछले दस पंद्रह साल में हिंदी में उत्तरआधुनिकता और उसके 'वाद' को लेकर अनेक प्रकार की प्रतिक्रियाएं, नकलें (जो स्वयं उत्तरआधुनिकता का एक लक्षण है), सड़ी हुई विडंबनामूलक लाइनें, फिर अचानक स्वयं को समयसंगत साबित करने के लिए उत्तरआधुनिकता की पंगत में बैठने की दीन ललक लेखकीय दुनिया में देखी गई है। इस दौरान उत्तरआधुनिकता और उसका वाद सांस्थानिक होता गया है, संस्थागत होता गया है यानी आधुनिक संस्थानों द्वारा अध्ययन योग्य विषय बनाया जाने लगा है और हिंदी की नई पीढ़ी में यह पदावली अब 'इन थिंग' होने लगी है। विश्वविद्यालय इस नए चमकदार विषय पर विविध समाजशास्त्रीय क्षेत्रों एवं साहित्यिक क्षेत्रों में शोध आदि कराने लगे हैं। पुरानेपन, पुरानों के जर्जरपन से थक चले, पढ़े-लिखे हिंदी समाज में नये से नये की ललक बढ़ी है और इस तरह उत्तरआधुनिकता की पदावली अनिवार्य उल्लेख बनने लगी है। ज्ञान के विकसित क्षेत्रों में,

मीडिया में, सर्वत्र यह पदावली अब आती-जाती रहती है, यदि इन पंद्रह सालों बाद भी कोई हिंदी वाला चौंकता है या इसमें घपला करता है तो आप उसे ज्ञानी तो नहीं कहना चाहेंगे! हिंदी समाज के खिसियाने, पीछे रह जाने, हेकड़ी मारने के पीछे एक बड़ा कारण उसकी गतिहीनता है। हिंदी के विद्वानों में यह पर्याप्त मात्रा में सुरक्षित है। लेकिन देखते-देखते हुआ यह है कि रोजमर्रा का अपना जीवन अपने दैनिक संघर्षों, तनावों में जीने वाली जनता का विमर्श, विद्वानों के विमर्श से अलग-थलग आ पड़ा है, नई पूंजी, नये बाजार, नये उपभोग्य साधनों ने उसके अभाव भरे, गंदगी भरे जीवन और ऊब को थोड़ा खिसकाने का रास्ता सुझाया। सरकार की नीतियों के नीचे तक पहुंचने के इंतजार में, भरोसे में जनता ने यकीन करना सड़सठ के आसपास ही छोड़ दिया था। यह हिंदी क्षेत्रों में ही नहीं हुआ, पूरे भारत में हुआ है। जनता फ्री मार्केट के नये अवसर और पब्लिक सेक्टरी कल्याणकारी राज्य की सुरक्षा के बीच फंसी है। पंद्रह-एक सालों में यही हाल लेखकों के सकल व्यवहार (जीवन जीने और लिखने-पढ़ने) में प्रतिबिंबित भी हो रहा है। जनता अपनी फांक को 'जीवन दशाओं', 'जीवनानुभवों' (लिविंग कंडीशन एंड एक्सपीरियेंसेज) में रोजाना नेगोशिएट करती है और तमाम छोटे-छोटे हित समूहों में नये सिरे से संगठित होकर, प्रतिबिंबित होकर नयी ग्लोबल पूंजी के अनिवार्य आकर्षण और स्थानीय जीवन की जड़ता के मोह, अमोह के बीच अनंत तनावों, लोभों, सरल हलों की ओर जाती है।

लेकिन हिंदी लेखक अपने लिखने-पढ़ने में अभी भी वहीं किसी स्वदेश, किसी कल्याणकारी राजसत्ता, किसी किस्म के सोवियत समाजवाद की गारंटीज को अपना प्रस्थान बिंदु मानता हुआ लिखता है। प्रस्थापनाएं, प्रस्थान बिंदुओं का यह सिर्फ हिलना नहीं है यह उनका 'गिरना' है, 'कोलेप्स' है। खत्म होना है। असंगत होना है, लेकिन हिंदी का लेखक (हिंदी के लेखक का संदर्भ यहां स्वाभाविक है क्योंकि यह लेखक भी हिंदी का है और हिंदी जगत को बेहतर समझता, उसमें रहता है। यों इसे अन्य भाषाओं के भीतर भी देखा जा सकता है। इसके प्रचूर प्रमाण खोजने पर, स्वयं इस लेखक को मिले हैं।) अभी तक उन महान सुरक्षाओं, महान वृत्तांतों, पक्के, संपूर्ण से दिखने वाले समाजवादी मुक्ति के सपनों को भरोसे योग्य मानकर अवसरवादी तरीके से ही चलता है। उसकी रचना प्रक्रिया या चिंतन प्रक्रिया में नयी पूंजी और उसकी विश्वव्यापी लीला का गहन संज्ञान उसके ऐतिहासिक रूप में 'सच' होने का गहरा पीड़ामय, विक्षुब्धकारी बोध भी नहीं दिखता और अपने धराशायी स्वप्नों के प्रति वह अंध

आस्था, पक्कापन नहीं दिखाता, जिसे, यदि वह सचमुच का क्रांतिकारी होता, उत्तम कोटि का मार्क्सवादी होता तो दिखना चाहिए था, जो कॉडवेल की तरह जनतंत्र की सरहद पर बंदूकों से लड़ते हुए फासिस्ट दुश्मन की तोप से उड़ गया! छोड़िए, ऐसा कमिटमेंट, ऐसा समर्पण; अरे वह तो अब अपने लेखन में सोवियत लेखकों, रूसी लेखकों, क्रांतिकारी चीनी लेखकों, वियतनाम, क्यूबा आदि का नाम तक लेना भूल गया है। यदि कभी नाम जुबान पर आता है तो अतीत के चलचित्र की तरह! गोर्की? चेखव? चेर्नीशेव्स्की? क्या पिछले उत्तर सोवियत हिंदी लेखन में कहीं दिखे हैं? जनाब उनकी पुस्तकें रद्दी में जा चुकी हैं। जुलियस फ्यूचिक का नाम कहीं है? चे ग्वेरा कहीं आते हैं? वे कभी कभार अखबारों में आते हैं, जब कोई डायरी, कोई क्लासीफाइड दस्तावेज रिलीज होता हैं। वरना सब धुल-पुंछ गया है। यह एक मनोवैज्ञानिक विक्षेप है, स्मृति भ्रंश है। सोवियत के गिरते ही सब खत्म।

जब इस लेखक ने नये पूंजीवाद के सांस्कृतिक तर्क उत्तरआधुनिकवाद और उसकी साक्षात दशाओं पर कुछ लिखा तो वे नाराज होकर चिढ़ने लगे, बहस करने की जगह 'अमरीकी एजेंट' कहने लगे, अमरीकी लाइन वाला कहने लगे। पश्चिमी पूंजीवादी विचारों को लानेवाला कहने लगे!! वैचारिक स्तर का एक भी आक्रमण नहीं हुआ। हिंदी का सबसे ज्यादा बोलने वाला एक पढ़ा-लिखा सा दिखने वाला आलोचक ही नहीं, जो सोचने समझने में पिद्दी भी नहीं रहे, वे तक कबड्डी देने लगे! वे इस सबको 'साहित्यिक' उपद्रव कहते रहे। जबकि यह लेखक मार्क्सवाद के रास्ते, उसके संकट को, समाजवाद के संकट को समझने-देखने ही पोस्टमॉडर्न विमर्शों में गया और वहां पाया कि पश्चिम के ज्यादातर विमर्शकार किसी समय मार्क्सवादी रहे विमर्शकार ही हैं, जिन्होंने पूंजी-तकनीक और ज्ञान की नई दशाओं, लीलाओं, समस्याओं, संदर्भों का लगातार गहन अध्ययन किया है। उत्तरआधुनिक पद उन बदलावों का नाम है जो बहुत तेजी से सर्वत्र घट रहे हैं या घटेंगे। उनके यहां यह पद सिर्फ 'साहित्यिक फैशन' चलाने वाला नहीं है। यह बहुत ही 'लोडेड' (अर्थों से भरा हुआ, मूल्यबोध से भरा हुआ) पद मात्र नहीं, पूंजी और जीवन के बीच नित नए उपद्रवों से ऊभचूभ एक सक्रिय पद है, पदावली है।

इन्हीं अनुभवों से ज्ञात हुआ कि हिंदी में जिसे 'ज्ञान' कहते हैं, वह सतही, परचम लहराने उड़ाने, मार देने की तिकड़म का दूसरा नाम है! जरा सा कुरेदिए वे मार्क्स की 'सरप्लस वैल्यू' के सिद्धांत को तसल्ली बख्श ढंग से समझा नहीं पाएंगे! (कोई हिंदी वाला अब भी हो तो इस लेखक को खबर करे, वह उसके

चरण धो-धो कर पूजेगा)! और वे तमाम क्रांति की बात करते रहे, उत्तरआधुनिकता को सिर्फ धिक्कारते रहे, जबकि इनमें से कइयों को पश्चिमी विचारों की मौलिक चोरी का हक हासिल था! जिस तरह तस्कर माफिया चुपके-चुपके रात में निर्जन समुद्र तटों पर 'माल' उतरवाते हैं, यह भी चुपके-चुपके उतारा करता और जब सुबह 'दुबई का चश्मा' लगाकर निकलता तो कहता कि यह सब तो 'पचा' कर निकाला है! अपना बनाकर दिया है!! इसे कहते हैं चोरी-विचारों की चोरी! चोरी करता था-आटे नमक दाल की चोरी-लेकिन घर में 'अपना बनाकर' रखता था!

भइये! समाजवाद किस स्वदेश की पदावली रही? मार्क्स, एंग्लेस, लेनिन, माओ, हो ची मिन्ह, चे ग्वेरा किस उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश के किस मोहल्ले के रहे? यदि 'मार्क्सवाद' के नाम पर, उत्तरआधुनिक भौतिक एवं ज्ञानदशाओं से घबराकर आप इस कदर 'स्वदेशी', 'स्थानवादी', 'मूलवादी' हो उठे और अपनी संभव हास्यास्पद दुर्गति को पहचाने बिना हो उठे तो किसी को भी लगेगा कि आप भी मूलतः किसी समग्रवादी वर्चस्वकारी, एकल, एक्सक्लुसिव तत्ववादी विमर्शों के ही संस्कारों वाले रहे, जिस पर कभी मार्क्सवाद का मुलम्मा चढ़ गया था। 'थियरी' (और इस 'लेखक की इस 'थियरी' में 'मार्क्सवादी थियरी' अनिवार्यतया शामिल है) के विकास के बिना आप सांस नहीं ले सकते। यही दृश्य है। क्या अब भी कहने की जरूरत है कि हिंदी लेखक की 'प्रतिनिधान' (रिप्रेजेंटेशन) की अंतर्निहित क्षमता कमजोर हुई, गिरी है, लुप्त हुई है। वह स्वायत्तता (ऑटोनॉमी) जो कभी प्रेमचंद या उसके बाद के बहुत दिनों तक शायद बनी हो या आजादी के बाद के अपेक्षाकृत 'स्वातंत्र्यवादी' दिनों में बनी हो, रचना प्रक्रिया की अपेक्षित स्वायत्तता की स्थिति किसी रूप में विकसित हुई हो तो हुई हो, अब वह कहां है? किसके पास है? कौन लेखक ऐसा है जो मूढ़ या बुद्धि दुर्बल या अवसरवादी हुए बिना दावा कर सके कि सच्चा 'प्रतिनिधान' उसके पास है। वह किसी 'यथार्थ' का किसी विमर्श का पूरा पक्का भरोसे योग्य प्रतिनिधि है और उसकी रचना उसका प्रतिनिधित्व करती है। वह समाज का प्रतिनिधित्व करता है। वह 'मशाल' है?

उत्तरआधुनिकता ने सबसे पहले जिन कुछ श्रेणियों को समस्यायुक्त किया (जो कल तक पक्की, समस्यामुक्त मानी जाती थीं) वे रचना प्रक्रिया के क्षेत्र की दोनों श्रेणियां ही हैं जिन्हें 'प्रतिनिधान की क्षमता' और 'स्वायत्तता' के होने के रूप में साहित्य संस्कृति में माना जाता रहा है, जो मूलतः आधुनिकतावादी विचारों की बहुत दिनों तक कारगर बनी रही श्रेणियां हैं। लेखकों का लेखन,

लेखन में बनाया गया यथार्थ, उसमें दिया गया संदेश, लेखक का अनुभव (या पुरानी पदावली में कहे तो संवेदन इत्यादि) सब 'संदिग्ध' लगते हैं, उसके पास जो अभिप्रेत होता है वह समाज के लिए काफी कुछ गया गुजरा, दुहराव भरा, ऊब भरा होता है। लोग उसकी रचना से ज्ञान ग्रहण नहीं करते, वे मीडिया से, जीवन से अपना ज्ञान खुद बनाते हैं। वे लेखक को अपना नायक नहीं मानते। स्वयं हिंदी के लेखक इस बात को जानते हैं तभी तो कहते हैं कि साहित्य की जगह कम हो रही है, साहित्य संकट में है।

'स्वायत्तता' आधुनिकता का बहुत बड़ा और निर्णायक मूल्य थी। लेखक अपने इतिहास में अपनी रचना प्रक्रिया में उसे अर्जित करता था। उसके निजी जीवन और रचना के जीवन में संबंध होते हुए भी दूरी होती थी। यह 'यथार्थ' के रचनात्मक 'प्रतिनिधान' के लिए जरूरी था। समाज के विभेदीकरण से, तार्कीकीकरण से आधुनिकता ने यह एक नया तरीका दिया था, जो लेखक को एक प्रकार की 'ऑब्जेक्टिविटी' देता था जो 'सबका' सत्य संभव करती थी। एक सत्य, सबका सत्य, सार्वभौम सत्य, मानवतावादी सत्य – इन तमाम सत्यों को उत्तरआधुनिकता 'केंद्रवादी', एक केंद्रिक वर्चस्वकारी 'सत्य' कहती है, इन्हें संदिग्ध मानती है। वह हर उस महान, सकलता-समग्रतावादी सत्य पर गंभीरता से 'शक' करती है जो सबकी मुक्ति के लिए दावा करते हैं। ज्यां फ्रांसुआ ल्योतार इन मामलों में 'मार्क्सवाद' को सबसे अंतिम 'सकलतावादी' विमर्श मानते हैं, आधुनिकतावादी विमर्श मानते हैं। 'राष्ट्रवाद' भी, उत्तरआधुनिकतावादी पदावली में ऐसा ही एक आधुनिकतावादी पद है। उत्तरआधुनिक भौतिक एवं ज्ञानदशाओं में ये दोनों मजबूत से 'पद' संकटग्रस्त हो चुके हैं। इनके संकल्प से किया गया प्रतिनिधान (यानी रचना आलोचना) भी संकट में है, संदिग्ध है! उसके संकल्पों, उसके विचारों, उसकी रचना और उसके आचरण को देख सकते हैं, उसकी प्रतिबद्धता की गहराई अपने ही संकल्पों के प्रति उसकी ईमानदारी में देख सकते हैं। वह अब एक थकेली, टायर्ड और रिटायर्ड पीढ़ी है। प्रतिबद्धता की जगह अवसरनुकूलता, संघर्ष की जगह समझौतावादी रवैया, सत्य के अनुसंधान की जगह अपनी सत्ता को बनाने, ठीक करने, दूसरे की खिसकाने की चिंता, गंभीर चिंतन मनन कर कुछ नए विचार नए संकल्प तलाशने की जगह दारूबाजी, अड्डेबाजी, उत्तरआधुनिकता के दबाव को देख कर अवसारानुकूल बन सींग कटा के गोदरेज हेयर डाई से बाल काले करके बछड़ों में शामिल होना, स्त्रीत्ववाद दलितवाद के प्रति अपने भीतर हमदर्दी और करुणा की पाइप फिट करके

दिखाना कि देखो मैं भी साथ-साथ हूं.. आदि अनेक दैनिक लक्षण हैं जो नई कविता नई कहानी के सचमुच के आंदोलन की संघर्षकारी दिनों में नहीं थे। यह उत्तरआधुनिकता के नए गड्ढों में गिरकर आधुनिक बने रहने की अदा है। दोनों हाथ में लड्डू! आधुनिकतावादी मानववाद की एक दुकान लगी थी। वह उजड़ गई है, उजड़ रही है तो क्या मैं 'वॉलमार्ट' शॉपिंग मॉल से वर्सेक डिजाइंड एक शर्ट तो लाकर पहन ही सकता हूं! और यार मैं कहां गया! वो मेरा बेटा/मेरी बेटी है न जो कैलिफोर्निया में रहते हैं, वे मानते ही नहीं, कहते हैं पा तुम अब झोलाछाप होना छोड़ो, ये ढ़ाई हजार की शर्ट पहनो!

यह लेखक फिर गलती कर बैठा। शायद उसके दिमाग में यह रहा कि पाठक गंभीर हैं सो 'विदूषकों' को भी गंभीरता से लेना चाहिए। ले बैठा। उत्तरआधुनिकता की पदावली या आधुनिकता की पदावली के बीच से उन्हें निकालने लगा।

यदि इस दृश्य को उत्तरआधुनिक उपभोग्य दशाओं में अनिवार्य कहा जाए तो इसे स्वीकारा जाना चहिए कि हिंदी के साहित्यिक परिदृश्य को उत्तरआधुनिकता की दशाओं, परिस्थितियों ने अपने भीतर समा लिया है। वह स्वायत्तता, वह दृढ़वती प्रतिनिधानता नहीं रही है जिसे प्रायः ताल ठोक कर कहा जाता रहा है। यह राजनीतिक प्रतिनिधान में तो खूब ही देखा जा सकता है। प्रतिनिधि व्यवहार की राजनीति करते हैं। सिद्धांत अपनी जगह रह जाते हैं। यह व्यावहारिकतावाद है, साहित्य-संस्कृति में भी यह हुआ है तो इस लेखक को कम से कम एक तोष है कि जो हमने देखा वह अब सबको होता दिख रहा है!

स्वायत्तता के, प्रतिनिधान की प्रस्थापनाओं और तज्जन्य मानकों के गिरने के साथ बहुत कुछ गिरा है। साहित्यकार की सुस्पष्ट भूमिका पर प्रश्नचिन्ह लगे हैं, रचना की सार्थकता, उसके मूल्यांकन की प्रक्रिया की स्वायत्तता और उसके इतिहासबोध का इकहरापन सब व्यर्थ सा हुआ है। कुछ 'दूसरी चीजें' उखड़ी हुई हैं। वे चीजें क्या हैं? कहां कहां हैं? भाषा में, अभिव्यक्ति के रूपों में कहां कहां किस रूप में हैं? नई प्रस्थापनाओं के नए उत्तरआधुनिक प्रस्थानबिंदुओं को ढूंढना एक बड़ा समकालीन एजेंडा है। जो लोग अब भी कहते हैं कि यह सिर्फ एक साहित्यिक विशेषण है, जो कहते हैं कि उत्तरआधुनिकता पश्चिम में ही 'मर' गई है, उनसे यह सवाल तो पूछना ही व्यर्थ है कि क्या वहां वह 'लेट कैपीटलिज्म' भी 'मर' गया, जिसे बहुराष्ट्रीय निगमों के वर्चस्वकारी संस्करण में, और उसकी सांस्कृतिक परिणतियों और तर्क के रूप में हम दुनियाभर में

पाते हैं, जिसका आप नवसाम्राज्यवाद कहकर विरोध करते हैं!! यह बात 'ठहरे हुए' 'रूके हुए' 'अवरूद्ध' मार्क्सवादी दिमागों से पूछने की रही है कि महावृतांतों के अंतिम दुर्ग, समाजवाद की अंतिम (और प्रथम भी) एकमात्र आशा और भरोसे सोवियत संघ का गिरना भी क्या सच नहीं? क्या 'लेट कैपीटलिज्म' की बढ़त और 'समाजवाद' के गिरने के बीच कोई संबंध नहीं? और साथी कामरेड आपलोग इस बात का जबाव भी कभी कभी दे दिया करें कि जिस चीन का चेयरमैन आपका चेयरमैन रहा, जिस वक्त सत्ता बंदूक की नली से निकला करती थी और जिस पार्टी के सृजित समाजवाद को आप सोवियत नव संशोधनवादी 'कैपीटलिस्ट रोडर्स' के समाजवाद से अलग अधिक परिशुद्ध समाजवाद मानते थे, कहते थे, उसमें इतने सारे 'कैपीटलिस्ट रोडर्स' अचानक क्योंकर पैदा हो गए कि वे तमाम बहुराष्ट्रीय निगमों के एफडीआई के लिए दिन रात लाल कालीनें बिछाने लगे, सीपीसी के बड़े नेताओं के बाल-गोपाल बहुराष्ट्रीय निगमों के बड़े अधिकारी क्यों बन उठे? यह कौन सा मार्क्सवाद है जिसके प्राण पूंजीसंचय, पूंजीनिर्माण ही नहीं, 'वित्तिय पूंजी' के संचय, संवर्धन और 'रक्षण' में बसते हैं और उपभोग्य जगत के विस्तार में खुद एक हिस्सेदार बनते हैं!! प्रश्न तो बड़े हैं!! मगर इन्हें कोई बाहर से पूछता है न भीतर से।

यह है 'शैथिल्य'। यह पश्चिमी साहित्य में सत्तर के आसपास घटा। यहीं कहीं से महावृत्तातों के होने, हो सकने का भरोसा उठा। यही वह दौर भी रहा जब यूरोप अमरीका में नए किस्म के पूंजीवाद ने दखल दिया। जिसे डैनियल बैल ने 'पोस्ट-इंडस्ट्रियल सोसायटी' कहा। 2005 में मार्क्सवादी नेता बुद्धदेव भट्टाचार्य कह रहे हैं कि कम्युनिस्टों को बदलना होगा। अपना सोच बदलना होगा। पुराने सोच से नहीं चला जा सकता। यह है 'लेट कैपीटलिज्म' की परिस्थितियों के आगे जीने की कला को सीखने की आकुलता! और अभी तो बहुत कुछ बदलना है।

लेकिन उत्तरआधुनिक राजनीतिक व्यवहार या नए सत्तामूलक विमर्शों में आए बदलावों पर बात करने की जगह हम फिर साहित्यिक सांस्कृतिक क्षेत्र में लौटें और नए राजनीतिक आर्थिक यथार्थों के साथ उसके संबंधों को देखें तो हम उन नए प्रस्थान बिंदुओं को देख सकते हैं। जो हिंदी में खासे चर्चा के विषय रहे हैं यद्यपि ज्यादातर चर्चाएं 'रक्षात्मक' रही हैं मानो कोई समाजवाद हो, जिसे किसी षडयंत्र से छीन लिया गया हो।

कुछ अति सुपरिचित उत्तरआधुनिक प्रस्थानबिंदु इस प्रकार कहे जा सकते

हैं –

- पूंजीवाद से 'लेट कैपीटलिज्म' या वृद्ध पूंजीवाद की ओर।

- राष्ट्र, राष्ट्रवाद से ग्लोबल-लोकल अस्मिता मूलकता की ओर।

- केंद्र और केंद्रवाद की जगह हाशियों की ओर, एकार्थ से बहुलार्थ की ओर, कॉलोनियल विमर्श से पोस्ट कॉलोनियल विमर्शों की ओर।

- सत्य से सत्ता की ओर।

- ज्ञान के निर्विकल्प, संपूर्ण प्रवृत्त होने की जगह सत्तामूलक होने की ओर।

- राष्ट्रीय पूंजी, राष्ट्रीय बाजार से अंतरवित्तीय ग्लोबल पूंजीबाजार की ओर।

- श्रम, पूंजी और उत्पादन के त्रिकोण में श्रम की जगह अथवा 'सेवा' की ओर।

- 'अभाव' के सौंदर्यशास्त्र की जगह 'भाव' के सौंदर्यशास्त्र की ओर।

- 'यथार्थ' सिद्धांत से 'आनंद' सिद्धांत की ओर।

- 'संचय' से 'उपभोग' की ओर।

- उत्पादन से उपभोक्तावाद की ओर।

- महान, मुक्तिदाता बड़े वृत्तांत की जगह छोटे-छोटे हाशियाकृत वृत्तांत की ओर।

- सृजन की जगह 'संरचना की ओर। आलोचना की जगह विखंडन की ओर। (विखंडनवादी समीक्षा, संयोगवश उत्तरआधुनिकतावादी बदलावों के साथ-साथ ही घटित हुई है। विखंडनवाद या उत्तर संरचनावाद उत्तरआधुनिकता का पर्याय नहीं है, यद्यपि कुछ अज्ञानी इन दोनों के एक जैसे अर्थ लेते हैं। जबकि यह सच नहीं है। दोनों में कुछ दूर साथ-साथ चलने के बाद भेद हो जाते हैं। उत्तरआधुनिकता ज्यादा आर्थिक राजनीतिक यथार्थगत प्रस्थापना है जबकि उत्तर संरचनावाद पाठ की रणनीति, यथार्थ के पाठ के एकार्थ की जगह 'अनेकार्थ' संभव करने की रणनीति का नाम है। इस बिंदु पर दोनों एक से नजर आते है। लेकिन यहीं वे अलग भी होते हैं। इस प्रसंग पर यहां इतना ही)

- महान सृजन की जगह 'पैरोडी' पर बल।

ऐसे बहुत से और प्रस्थान बिंदु है जो गिनाए जा सकते हैं। फिलहाल इतने से ही सब्र करें।

इन प्रस्थान बिंदुओं के स्पष्ट चिन्ह हिंदी में पिछले डेढ़ दो दशक के लेखन में बाजाप्ता देखे जा सकते हैं।

बहुत सी बातों को छोड़ हम अब जरा जेमेसन की इस अवधारणा का जिक्र करेंगे जो 'उत्तरआधुनिकतावाद' को 'वृद्ध-पूंजीवाद' (लेट कैपीटलिज्म) का

'सांस्कृतिक तर्क' मानती है। यह महत्वपूर्ण अवधारणा है। फ्रेडरिक जेमेसन अमरीका के मार्क्सवादी-उत्तरआधुनिकतावादी चिंतक के रूप में जाने जाते हैं। ल्योतार ने 'द पोस्ट मॉडर्न कंडीशन : ए रिपोर्ट ऑन नॉलेज' में बार-बार उन 'महाआख्यानों' के समस्याग्रस्त होने की बात कही जो यूरोप में ज्ञानोदय काल से बनाए जा रहे थे, उनकी मान्य स्थापनाओं में महाख्यानों के 'अंत', समग्रतावाद (टोटलिज्म) के अंत की बात कही गई, साथ ही रचनात्मक प्रतिनिधान के संकटग्रस्त हो उठने, लेखक के प्रतिनिधित्व की भूमिका के समस्याग्रस्त हो उठने तथा उसकी स्वायत्तता के खात्मे की बातें कही गईं। जेमेसन ने ल्योतार की पुस्तक के अंग्रेजी संस्करण में इतना माना कि हां! स्वायत्तता का पुराना स्वरूप संकटग्रस्त हो गया है। प्रसंगवश कह दें कि प्रतिनिधान का स्वायत्त स्वरूप ज्ञानोदय तथा आधुनिकता का वह समग्र कीमिया है जिसके जरिए मुक्ति के महाख्यान खड़े किए गए।

हिंदी के कथित 'आधुनिकतावादी' इन कोटियों की संकटग्रस्तता पर बात नहीं कर पाते। शायद वे इन्हें समझ नहीं पाते हैं या न समझकर काम चलाते हैं मगर उत्तरआधुनिकता को लेकर छिड़ी बहसें गंभीर विमर्शों को निमंत्रण देती रही हैं, और दे रही हैं। उत्तरआधुनिकता ने इतिहास समाजशास्त्र, कला क्षेत्रों में बहुत से जमे जमाए मानकों को, 'कैननों' को व्यर्थ किया है। वे अब कारगर नहीं नजर आते। केंद्रवादी, समग्रतावादी आधुनिकता के बरक्स विकेंद्रवादी उत्तरआधुनिकता हाशिए पर डाल दिए गये समाजों, अस्मिताओं को जगह देती है। जाहिर है यह क्रिया भी अनंत अंतर्विरोधों से संचालित है क्योंकि यह अंतर्विरोधग्रस्त पूंजीवाद नए पूंजीवाद से परिचालित है।

हम कह दें, उत्तरआधुनिकता में भी सामाजिक अंतर्विरोधों का लोप नहीं हो गया है, हां उन अंतर्विरोधों के किसी एक 'मूलवादी' और सारवादी' (फाउंडेशनलिस्ट') सिद्धांत की सीमाएं उजागर हो गई हैं। इसीलिए तरह-तरह के विकेंद्रवादी विमर्श मैदान में आ गए हैं, आ रहे हैं। हमारे यहां दलित विमर्श, स्त्री विमर्श, अल्पसंख्यक विमर्श, धार्मिक विमर्श, विविध जाति विमर्श मूलतः अस्मितामूलक विमर्श हैं जो अपने भीतर बाहर अनंत अंतर्विरोधों को, उपद्रवों को लिए दिए व्यक्त होने लगे हैं, समाज को अपने ढंग से विभाजित और पुनर्संगठित करने में लगे हैं।

यह सब नए पूंजीवाद के बनाए 'स्पेस' हैं, अंतिम मुक्ति के मार्ग नहीं हैं। मगर आधुनिक राष्ट्रवाद ने जिन्हें दबाए रखा था, पश्चिमी मानवतावाद ने जिन्हें किनारे कर रखा था, वे अब नए 'स्पेसों' में अपने दावे पेश कर रहे हैं। प्रचलित

पुराने ढंग के मार्क्सवाद में इन्हें संदेह की नजर से देखा जाता है और वर्ग का 'महाख्यान' इन्हें 'नांधने' के लिए पेश किया जाता है। प्रगतिशील आलोचना में इन नए 'स्पेसों' का डर बहुत हास्यास्पद ढंग से भी प्रकट होता है। जाहिर है कि ये तमाम नए स्पेस उसकी अपनी उपलब्ध थियरी में 'अनमैनेजेबल' नजर आते हैं। बहुत जगह वह इनसे मेलमिलाप करता है। लेकिन वह इन नए 'स्पेसों' का भरोसा नहीं करता और इनके अंतर्विरोधों का न देख पाकर इन्हें 'साम्राज्यवाद' का पर्याय मानकर निंदित करता है। उसके लिए यही स्वाभाविक है। लेकिन इस तरह का विरोध जब साक्षात नए पूंजीवाद के, 'ग्लोबलाइजेशन' के सांस्कृतिक तर्कों से बहस करता है तो बहस-विरोध में बिना जाने इतना मान लेता है कि नए पूंजीवाद के अंतर्विरोध अत्यंत चंचल हैं, क्षिप्र हैं, तिर्यक हैं और उन्हें सीधे-सीधे नहीं समझा जा सकता। कुछ दिन पहले तक वामपंथी विचारक अस्मितामूलक संघर्षों को, उसके वाहक मीडिया एवं तकनीक को संदेह की नजरों से देखते थे, वे इन्हें विभाजनकारी मानते थे। लेकिन धीरे-धीरे उन्होंने इनसे संवाद किया और अब इनके 'इन्क्लूजन' की बात करने लगे हैं।

इसके बरक्स जब पिछले दिनों यूनेस्को ने ग्लोबलाइजेशन के दौर में 'सांस्कृतिक विविधता' के नैसर्गिक अधिकार पर बहस की तो वामपंथियों ने 'विविधता' को 'वरेण्य' माना क्योंकि अमरीकी उपभोक्तावाद आदतों, व्यवहारों के 'एकरूपीकरण' (होमोजिनाइजेशन) पर जोर देता है। 'एकरूपीकरण' के मुकाबले सांस्कृतिक बहुलता की लड़ाई अस्मिता मूलक विविधतावाद के मजबूत हुए बिना आगे नहीं जा सकती। विविधता की रक्षा, 'एककेंद्रवाद' की जगह 'अनेक केंद्रिकता' की हिफाजत करना है। नए पूंजीवादी एकरूपवाद से लड़ने के लिए, उसके सांस्कृतिक वर्चस्व एवं नियंत्रणवाद से निकलने के लिए, उसे तोड़ने के लिए हर संस्कृति को सक्रिय करने, उसकी रक्षा करने का काम जरूरी है, यही काम अस्मिता मूलक विमर्श कर रहे हैं। वामपंथी अगर ऐसा सोचते हैं तो समझना चाहिए कि वे मार्क्सवाद का कोई नया संस्करण बना रहे हैं जिसमें 'पोस्टमॉडर्न' के कुछ उपयोगी तत्वों को मिलाया जा रहा है!! यह बेहतर है। यह अपने भीतर, अपनी नीति में 'पोस्ट मॉडर्न' विकेंद्रण का स्वीकार है!

यों एक बड़ी बहस बाकी है। बातें अभी तक फर्श के नीचे सरकाई जाती रही हैं। इन मसलों पर कोई खुली बहस वामपंथ में नहीं देखी गई। यदि वह हुई तो एक नया तनाव बिंदु बनेगा, इतिहास, कर्त्ता एवं वृत्तांत के बीच आधुनिकतावादी तथा उत्तरआधुनिकतावादी विचारों के बीच! यों उसके चिन्ह

भी अब रोज प्रकट होने लगे हैं। राष्ट्र, राष्ट्रवाद का कर्ता, उसका निर्माण, उसका एकरैखिक इतिहास और बहुविविध अनेक केंद्रीय इतिहास में तनाव आने लगा है। यह पश्चिम में है। वहां की अकादमियों में है। साहित्य में है। समाजशास्त्रों में है। यह अपने यहां भी है।

उदाहरण के लिए 'इतिहास के अंत' वाली फ्रांसिस फुकुयामा की अवधारणा और उस पर जेमेसन तथा बौद्रीआ द्वारा चलाई गई बहस ऐसी बहस है जो आधुनिकतावाद तथा उत्तरआधुनिकता के बीच तीखेपन के लिए विख्यात है। उत्तरआधुनिकता के आलोचकों का मानना है कि उत्तरआधुनिकता चूंकि एकरैखिक इतिहास में यकीन नहीं करती, महाख्यानों, महावृत्तांतों में यकीन नहीं करती इसलिए वे इतिहास को 'सपाट' (फ्लैट) या 'चौरस' मानते हैं। इतिहास का मतलब यहां 'स्पेस' का वृत्तांत है, 'देश' का वृत्तांत है क्योंकि यहां 'काल' हमेशा 'वर्तमान' ही होता है। अतीत रहित एक शाश्वत वर्तमान। जबकि इतिहास की आधुनिक समझ इतिहास को किसी एक मूलबिंदु पर टिकाती है, और वर्तमान को बार-बार अतीत से प्रमाणित करती है। आधुनिक विमर्शकारों के अनुसार उत्तरआधुनिकता में 'ऐतिहासिक चेतना' होती ही नहीं। वे 'कारण' और 'परिणाम' को देख नहीं पाते। कार्य-कारण संबंध नहीं समझते। जेमेसन का तो मानना है कि उत्तरआधुनिक दृष्टि इसी 'इतिहासहीनता' का परिणाम है। इन आक्षेपों ने, जाहिर है कि बहुत से पोस्टमॉडर्नों को बहस के लिए उत्तेजित किया, इसमें लिंडा हचियन एक बड़ा नाम है। उन्होंने 'हिस्टोरियोग्राफिक मेटाफिक्शन' शीर्षक से दो अध्ययन प्रस्तुत किए और बताया कि उत्तरआधुनिक उपन्यास अब भी इतिहास में 'निवेशित' है लेकिन यह इतिहास ठीक वही नहीं है जिसे अब तक माना जाता रहा है। (देखिए, पोस्टमॉर्डन ब्लैकनेस : टोनी मोरीसन, बिलवड एंड 'ऐंड ऑफ हिस्ट्री' नामक किंबर्ली चाबो डेविस का लेख। 'प्रोडक्टिव पोस्ट मॉडर्निज्म', संपादक : जॉन एन डवैल में संकलित, पृष्ठ-75)

टोनी मोरीसन के उपन्यास 'बिलवड' (1987) में इतिहास का एक 'संकर' (हाईब्रिड) संस्करण बनाया गया है, जिसमें उन तमाम सवालों का स्पर्श किया गया है जो जेमेसन ने अपनी आपत्तियों में उत्तरआधुनिकता पर उठाए थे। मसलन, इतिहास की काल्पनिकता के सवाल। सत्य की काल्पनिकता के सवाल, अफ्रीकी-अमरीकी गहन सांस्कृतिक स्मृतियों और इतिहास के निर्माण के प्रश्न, भविष्य को बेहतर बनाने के लिए अतीत को जिंदा रखने के सवाल। मोरीसन स्वयं 'पोस्टमॉडर्निज्म' के खिलाफ लिख चुकी है

और वे जेमेसन की शंकाओं के साथ गई हैं। लेकिन किंबर्ली के अनुसार मोरीसन का उपन्यास 'हिस्टोरियोग्राफिक मेटाफिक्शन' की श्रेणी में आता है। लेकिन चूंकि मोरीसन 'ब्लैक' विषय पर लिखती हैं, उसका पाठ बनाती हैं इसलिए उनका विमर्श इस विषय से प्रभावित भी हुआ है। मोरीसन मानती हैं कि इतिहास कल्पनापरक होता है तो भी वे अफ्रीकी-अमरीकी इतिहास का दस्तावेज बनाना चाहती हैं, ताकि उनके पाठक तुष्ट हो सकें। मजे की बात यह है कि मोरीसन भी केंद्रवाद तथा एलीटिज्म को चुनौती देती हैं जैसा कि पोस्टमॉडर्न देता है। मोरीसन कहती हैं कि अफ्रीकी-अमरीकियों के लिए इतिहास खत्म नहीं हुआ है क्योंकि उन्हें अभी अपना इतिहास लिखना है, जो आज भी अपने 'नृवंशशास्त्र' को, 'जीनियोलॉजी' को बना रहे हैं। आज वे इसकी एक ऐतिहासिक चेतना बरकरार रखना चाहते हैं।

मोरीसन के इस प्रख्यात उपन्यास को लेकर साहित्य के 'ब्लैक और व्हाइट' विमर्शकारों में तीखी बहस हुई है। लोगों ने कहा कि 'पोस्टमॉर्डनिज्म' 'व्हाइट' नस्ल का खेल है जबकि मोरीसन का उपन्यास 'काले जनों' का आख्यान! उनकी पहचान की दावेदारी है। उसे पोस्टमॉडर्न नजरिए से, पोस्टस्ट्रक्चुरलिस्ट पद्धति से नहीं 'हड़पा' जाना चाहिए। लेकिन स्वयं किंबर्ली ने माना कि पोस्टमॉडर्न को 'व्हाइट रेस' का पर्याय मानना एक प्रकार की 'अति' ही है। किंबर्ली लिखती हैं, यह मानना कि काले लोगों का पोस्टमॉडर्न से कुछ लेना देना नहीं है, उदार शैक्षिक विमर्शों तथा काले प्रतिरोधों के बीच जटिल ऐतिहासिक संबंधों की अनदेखी करना है। (वही पृष्ठ-77)

1960-70 का नस्लवादी आंदोलन तथा उसी दौर के स्त्रीत्ववादी आंदोलनों ने ऐसा माहौल बनाया कि सांस्कृतिक सीमांत टूट गए, यह एक पोस्टमॉडर्न परिवर्तन था। यह एंड्रिया हयुसन, कोबीना मर्सर और लिंडा हचियन का निष्कर्ष रहा! (इसके विस्तार के लिए देखिए लिंडा हचियन की पुस्तक 'ए पोयटिक्स ऑफ पोस्टमॉडर्निज्म') उत्तरआधुनिकता के 'व्हाइट लिबरल' उत्तरआधुनिक सिद्धांतवेत्ताओं तथा अफ्रीकी अमरीकी आलोचक कई बार बुर्जुआ राज्यसत्ता एवं कुछ मानवतवादी बुद्धिजीवियों की 'सार्वभौमीकरण की 'गतिविधियों' के खिलाफ साथ-साथ मोर्चा लेते रहे हैं।

अपने यहां दलित विमर्श को इसके आलोक में देखा जा सकता है। स्त्रीत्ववादी विमर्श को भी देखा जा सकता है। मोरीसन का प्रसंग, फिलहाल, यह 'स्पेस' देता है। उत्तरआधुनिक विमर्शों की प्रतिरोधात्मकता-प्रतिइतिहासात्मकता (काउंटर हिस्ट्रीसिज़्म) की ओर संकेत करता है। इस

लेखक का बहुत पहले से मानना रहा है कि तीसरी दुनिया के समाजों में 'उत्तरआधुनिकता' बहुत जटिल भूमिका में है। उसमें बहुत ऐसा है जो प्रतिरोधात्मक स्पेस है। जहां भी 'एककेंद्रवाद' और उससे जुड़े वैचारिक सांस्कृतिक व्यवहार हैं, उनके प्रतिरोध में छोटे-छोटे अनंत प्रतिरोध इस उत्तरआधुनिक स्पेस में ही व्याख्या पाते हैं; वरना उन्हें समग्रतावादी, एककेंद्रवादी विमर्श लील जाते हैं। यह केन्द्रवाद पूंजीवादी-साम्राज्यवादी पश्चिमी जगत का है। पोस्टमॉडर्न उसी का अंतर्विरोध है। यदि वह 'लेट कैपिटलिज्म' का सांस्कृतिक तर्क है तो क्या इस 'सांस्कृतिक तर्क' में अंतर्विरोध खत्म हो गए? कोई भी मार्क्सवादी ऐसा सोचता है तो वह मार्क्सवादी कहे जाने योग्य नहीं है। जेमेसन के बरक्स लिंडा हचियन पोस्टमॉडर्न की पैरोडिक यानी 'विद्रूपण' वृत्ति को महत्व देती है और कहती है कि 'विद्रूपण वृत्ति' उत्तरआधुनिक समय में सामाजिक आलोचना में सक्षम है। 'हिस्टीरियोग्राफिक मेटाफिक्शन' में इतिहास के प्रति आत्म सजगता, कल्पनात्मकता, और अतीत की पुनर्रचना के तत्व रखती है।

इतिहास, परंपरा के इसी प्रश्न पर 'पोस्टमॉडर्न' विद्रूपण और प्रश्नाकुलता, संदेहात्मकता को नए अर्थ देते हुए 'द आर्कियोलॉजी आफ नॉलेज' में मिशेल फूको कहते हैं : 'परंपरा को ही लें। परंपरा, ऐसे तत्वों के समूह को खास किंतु क्षणिक रूप में जगह देती है, जो सतत बने रहें और एक जैसे भी रहें.. यह चीज इतिहास के विसर्जन के बारे में पुनर्विचार संभव करती है। यह हर आरंभ के लिए सही भेदाभेद संभव करती है ताकि असातत्य के भीतर 'मूल' (ओरिजिन) की अंतहीन खोज जारी रहे। इतिहास में हमेशा विसर्जन, छिटकाव, टूट, असातत्य होते हैं। इतिहास की कथित पक्की संपूर्ण कड़ियां टूटी-फूटी होती हैं। चेतना, विचार के विकास के साथ हर बार ऐसा होता है।

हम नहीं समझते कि पोस्टमॉडर्न लेट कैपिटलिज्म का मात्र 'सांस्कृतिक तर्क' है। यह जेमेसन का 'रिडक्शनिज्म' लगता है।

एक कथाकार इस्माइ रीड ने 'मंबो जंबो' नामक एक उपन्यास में जेसग्रू नामक चरित्र बनाया जो इस विश्रृंखलित हो चली दुनिया के लिए एक केंद्र, एक संरचना, एक उत्तर ढूंढने में लगा रहता है। उपन्यास में न कोई मूल उत्सबिंदु हैं न कोई अंत है न वर्ग हैं, न नस्ल है, न चेतना है। कोई अंतरवाह्य संदर्भ भी नहीं है। यही ल्योतार के यहां 'अनप्रेजेंटेबल' को 'प्रेजेंट' करना है, यह प्रतिनिधान से बाहर कर दिए गयों का प्रतिनिधान है। जेसग्रू में कोई मानवीय योजना नहीं है। पोस्टमॉडर्न वृत्तांत के बारे में ल्योतार ने 'द पोस्टमॉडर्न

कंडीशन' में लिखा है : 'यह ऐसा वृत्तांत ही हो सकता है जो अच्छी विधाओं से मिलने वाली तृप्ति से रहित हो, या जो रुचियों के सर्वानुमति को संभव करता हो, जो नए वृत्तांतों को खोजता हो, नई प्रस्तुतियों को खोजता हो जिन्हें वह आनंद देने के लिए न बनकर, प्रतिनिधान से बाहर कर दिए गयों के पक्ष में जाता हो।' मंबो जंबो में 'कालाजादू' है। मुसलमान राष्ट्रवादी हैं, शहरी लेखक हैं, ईसाई प्रचारक हैं, और मार्क्सवादी भी हैं, ये सब अफ्रीकी-अमरीकी अनुभव के हिस्से हैं। ये तमाशे बेहद लचीले हैं, कट्टरतावादी नहीं है। (वही, पृष्ठ-109-110, हिस्टोरियोग्राफिक मेटाफिक्शन एंड द सेलीब्रेशन ऑफ डिफरेंस : इस्माइ रीड का 'मंबो जंबो, टिप्पणीकार डब्लू लारेंस हॉग)

यह विवरण अपने यहां के एक दलित विमर्शकार धर्मवीर की किताब 'सामंत का मुंशी : प्रेमचंद' के जिक्र के बिना निष्कर्ष की ओर नहीं जा सकता। दलित विमर्शकार धर्मवीर ने प्रेमचंद के जीवन चरित और उनके पात्रों का एक खास संदर्भ में जो 'पाठ' बनाया है, उसमें प्रेमंचद की बनी-बनाई मूरत ध्वस्त होती है और बड़े निर्मम ढंग से होती है। प्रेमचंद की मानवतावादी योजना के भीतर के दलित विमर्श के उपकेंद्र से सेंध लगाकर, दलित का एक अपना केंद्र खड़ा करते हैं और अब तक की मानवीय गरिमा से पूज्य बनाये गए प्रेमचंद बुरी तरह चोट खाते हैं। यह अपने ढंग का उत्तरआधुनिक विमर्श है। इससे प्रेमचंद को लेकर चला 'वृत्तांत' टूट-फूट जाता है। एक हाशिया मूलक वृत्तांत अपनी जगह बनाता है। यों यह समीक्षा वर्ग की किताब है; मगर है 'विमर्श' करती हुई किताब।

इसी तरह 'कबीर के आलोचक' किताब में धर्मवीर ने इतिहास के एक मान्य, मानक, उच्च जाति निर्मित, स्वीकृत 'मानक' को हिलाया और कबीर को सवर्ण 'इतिहास' से बाहर निकालकर दलित इतिहास में खड़ा कर दिया।

बहुत हद तक यह फूकोवादी ढंग की वह 'डिस्कंटीन्यूइटी' है जो इतिहास के महावृत्तांत ने दबा रखी थी, जिसे इतिहास के क्रम को तोड़कर धर्मवीर ने एक 'गैप', एक दृढ़विभक्ति, एक विचलित करने वाली हाशियाकृत मानकता को केंद्रवाद से टकरा दिया है।

हिंदी के 'मार्डनिस्टों' ने धर्मवीर के आक्षेपों; उनकी 'पाठ-रणनीति' की निंदा तो खूब की, लेकिन उनसे कोई बहस नहीं चलाई। यह प्रतिनिधान से बाहर कर दिए गयों का प्रतिनिधान में आना नहीं तो और क्या है? दलित लेखन क्या है? ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' क्या है, दलित लेखकों की छटपटाहटें क्या हैं?

प्रसंगवश, 'लेटकैपटलिज्म' के 'सांस्कृतिक तर्कों के कुछ फलागमों में से एक बड़े फलागम 'भूमंडलीकरण' को लें और उसके प्रति दलित विमर्श के बारे में सोचें! पाठक जान लें कि एक बड़े दलित चिंतक चंद्रभान प्रसाद के मुताबिक 'भूमंडलीकरण' या उसका सरगना 'अमरीका' उस तरह का 'नंबर वन' का शत्रु नहीं है जिस तरह से 'रैडिकल' लोग देखते हैं, जिस तरह से राष्ट्रवादी (सांप्रदायिक एवं सेकूलर) सोचते हैं। प्रसाद 'ब्लैक' लोगों को लेकर किए गए अमरीकी रिजर्वेशन एवं अन्य सुधारों को अपने यहां के दलितों के लिए भी एक 'स्पेस' की तरह ही देखते हैं। एक प्रसंग में 'पायनियर' की अपनी दलित डायरी में उन्होंने लिखा था कि वे क्लिंटन से तो बात कर सकते हैं क्योंकि वह उनकी जात नहीं पूछेगा लेकिन यहां के नेताओं से क्या बात हो जो जाति को पहले देखते हैं, कुछ ऐसा ही उनका तर्क था। यह इतिहास के बीच पैदा होती और पैदा की जाती वह 'टूट' है जिसे 'डिसकंटीन्यूइटी' के स्पेस कहते हैं : आप इसे यों ही खारिज नहीं कर सकते। आप चाहें तो खारिज करें लेकिन इस विमर्श में शक्ति है, 'ग्लोबलाइजेशन' की शक्ति है।

'कबीर के आलोचक' पुस्तक में धर्मवीर ने एक जगह एक गजब का सूत्र दिया है : अगर भारत में मुसलमान न आए होते तो कबीर न होते और अंग्रेज न आए होते तो अंबेडकर न होते!' यह समूचे द्विज, कुलीन, राष्ट्रवादी, पक्के मान लिए गए इतिहास में दबा दी गई एक 'विभक्ति' को राजनीति के तहत चौड़ा करने का विमर्श है। क्या यह, हाशियों का प्रतिनिधान करने का यत्न नहीं है जिन्हें हजारों साल से किनारे ही रखा गया। यह प्रसंग यहीं संक्षेप में ही, समाप्त किया जा सकता है। समग्र, एकरैखिक इतिहास की अवधारणा की जगह दूसरी तीसरी रेखा या कहें कई रेखाओं वाला काटता पीटता इतिहास उनकी आवाज हो सकता है, जिनको वाणी नहीं दी गई है। उत्तरआधुनिकता इस वाणी को जगह देती हैं!

इस नवपूंजीवादी तत्ववाद के बरक्स, उत्तरआधुनिकता जो उसी का एक लीला विस्तार है, उसी के अंतर्विरोधों से ग्रस्त होकर बेहद जटिल नए-नए स्पेस बनाती है और लगभग निर्विकल्प भाव से स्पेसों को खोलती बंद करती हैं। स्पष्ट है कि उत्तरआधुनिकता में भी अनंत प्रतिरोध सक्रिय हैं, लेकिन जाहिर है वे पुराने औद्योगिक क्रांति के जमाने वाले प्रतिरोधों की तरह व्यक्त नहीं होते।

अपने स्वभाव की तरह ही 'किसिम-किसिम' की उत्तरआधुनिकताएं हैं।

- दिसंबर, 2007-मार्च, 2008

अध्याय - 18

बहुजन नजरिये से 1857 का विद्रोह

कंवल भारती

*[लेखक ने बहुजन नजरिये से 1857 के विद्रोह का अध्ययन प्रस्तुत किया है। 1857 का विद्रोह ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन के विरूद्ध द्विज और असराफ हिंदू-मुसलमानों का संघर्ष था। भारत में कंपनी राज की स्थापना इंग्लैंड के निचले तबके के लोगों द्वारा हुई थी। इन लोगों ने भारत के 'बड़े' लोगों का विशेषाधिकार खत्म करना चाहा था। इसीलिए ये 'बड़े' लोग कंपनी राज के विरुद्ध थे। इंग्लैंड के लार्ड और अर्ल-ड्यूक (असराफ तबका) भी भारत में कंपनी राज खत्म करना चाहते थे। 1857 के बाद भारत में कंपनी राज खत्म हो गया और ब्रिटिश महारानी ने घोषणा की कि वह भारत के अमीर-उमरांवों का सम्मान करेंगी। यह दो देशों के शासक तबकों का एक समझौता था। इंग्लैण्ड के असराफ तबके ने भारत के असराफ तबके से सीमित समझौता कर लिया था। भारत में समाज सुधारों से अंग्रेजों ने अपना हाथ खींच लिया। यह भारत के 'बड़े' लोगों के लिए सामाजिक स्वतंत्रता थी। इसी अर्थ में यह प्रथम स्वतंत्रता संग्राम था। - **संपादक**]*

किसी भी राष्ट्रीय विषय पर भारत के लोग समान मत नहीं रखते हैं, क्योंकि वे सामाजिक स्तर पर अलग-अलग वर्गों में विभाजित होते हैं। जिन लोगों का जैसा सामाजिक स्तर होता है, वैसी ही उनकी सोच बनती और विकसित होती है। यही कारण है कि इस देश के शासक वर्ग के लोगों ने, जो सामाजिक स्तर पर विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग था और पूर्ण स्वाधीनता का उपयोग कर रहा था, 1857 के गदर को भारत का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम बताया है। यह मत भारत के ब्राह्मण वर्ग के विद्वानों का है, और उन लोगों का है जो हिन्दुत्ववादी थे और भारत में सामन्ती शासन चाहते थे। यह वह वर्ग था जो अपनी धर्म-व्यवस्था

पर मुग्ध था और उसमें कोई परिवर्तन नहीं चाहता था। मुसलमान शासकों ने अपने आठ सौ साल के साम्राज्य में ब्राह्मणों की धर्म-व्यवस्था को नहीं छुआ और हिन्दुओं को उनकी धर्म-व्यवस्था पर चलने की पूरी आजादी दी। इसलिये मुस्लिम साम्राज्य के खिलाफ एक भी स्वतंत्रता संग्राम भारत में नहीं लड़ा गया।

किसी भी आन्दोलन को नेतृत्व और गतिशीलता देने का काम बुद्धिजीवी वर्ग करता है और दुर्भाग्य से भारत में बुद्धिजीवी वर्ग ब्राह्मण रहा है। बुद्धिजीवी और ब्राह्मण ये दोनों एक-दूसरे के पर्याय माने गये हैं। मुसलमान शासकों ने इसी ब्राह्मण वर्ग को सारी स्वतंत्रता और सुख-सुविधाएं देकर अपना वफादार बनाकर रखा था। लेकिन यही काम भारत में आने के बाद अंग्रेजों ने नहीं किया। उन्होंने उनकी धर्म-व्यवस्था में दखल देना शुरू किया और इसी दखल के परिणामस्वरूप उन्हें ब्राह्मणों के विद्रोह का सामना करना पड़ा। दूसरे शब्दों में अंग्रेजों का समाज-सुधार ऐजेण्डा ही उनके विरूद्ध आंदोलन का कारण बन गया। कम से कम दो बड़े विद्रोह भारत में समाज सुधार के फलस्वरूप ही हुए, जिनमें पहला 1806 में वेल्लौर का सिपाही विद्रोह और दूसरा 1857 का सिपाही विद्रोह। आंबेडकर ने लिखा है कि वेल्लौर का विद्रोह एक छोटी चिंगारी की तरह था, पर 1857 का विद्रोह एक बड़ा अग्निकाण्ड बन गया था। (डा. आंबेडकर रायटिंग एण्ड स्पीचेस, वाल्यूम 12, पृष्ठ 140) वेल्लौर का विद्रोह सिर्फ इस आधार पर हुआ था कि मद्रास आर्मी के चीफ कमान्डर जान क्रैडोक ने एक रेगूलेशन जारी करके सिपाहियों के लिये धार्मिक और जातीय पहचान वाली यूनिफार्म समाप्त करके उसकी जगह नयी यूनिफार्म लागू की थी, जिसमें पगड़ी, दाढ़ी और हाथों में अंगूठियां पहनने की मनाही कर दी गयी थी और इन सबके बदले एक नयी टोपी निर्धारित की गयी थी। सिपाहियों ने इसे अपने ईसाईकरण के रूप में देखा। हिन्दुओं ने नयी टोपी को गाय की खाल से बनी टोपी समझा और मुसलमानों ने दाढ़ी हटाने को अपने धर्म में दखल समझा। अतः दोनों धर्मों के सिपाहियों ने धर्म के नाम पर विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह को वेल्लौर किले में मौजूद टीपू के परिवार ने मदद की थी।

इस विद्रोह को भी ब्राह्मण लेखकों ने ईस्ट इंडिया कम्पनी के खिलाफ स्वतंत्रता संग्राम कहा है और यहां तक लिखा है कि इसी विद्रोह ने 1857 में सिपाही विद्रोह के रूप में प्रथम स्वतंत्रता संग्राम का मार्ग प्रशस्त किया था। (दि हिंदू, सण्डे मैगजीन, 6 अगस्त, 2006 में देखिए ए. रंगराजन का लेख 'व्हेन दि वेल्लौर सिपाय'स रिबेल्ड')

क्या यह सचमुच स्वतंत्रता संग्राम था? यदि यह वास्तव में ईस्ट इंडिया

कम्पनी के खिलाफ स्वतंत्रता संग्राम था, तो वे सिपाही कम्पनी की सेना में भरती ही क्यों हुए थे? फिर, यह विद्रोह नये यूनिफार्म रेगूलेशन जारी होने के बाद ही क्यों हुआ? इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह विद्रोह ईस्ट इंडिया कम्पनी के खिलाफ नहीं था, बल्कि उसके द्वारा जारी रेगूलेशन के विरोध में था, जिसने सिपाहियों की धार्मिक और जातीय पहचान समाप्त कर दी थी। यदि कम्पनी इस रेगूलेशन को जारी नहीं करती, तो विद्रोह नहीं होता। तब यह स्वतंत्रता संग्राम किस आधार पर था? यदि यह 'कम्पनी सरकार' को हटाने के आधार पर था, तो स्वतंत्रता संग्राम नहीं था। परन्तु यदि यह धार्मिक और जातीय स्वतंत्रता के लिये था, तो यह स्वतंत्रता संग्राम था। तब हम इसे धार्मिक स्वतंत्रता संग्राम कहेंगे, भारतीय स्वतंत्रता संग्राम नहीं।

1857 के विद्रोह का श्रेय सिपाही मंगल पाण्डे को दिया जाता है। वह एक रूढ़िवादी और अस्पृश्यता मानने वाला ब्राह्मण था। मेरठ की उसी बैरक में, जिसमें मंगल पाण्डे था, मातादीन सफाई का काम करता था। घटना है कि एक दिन झाड़ू लगाते समय पाण्डे का लोटा मातादीन से छू गया। अस्पृश्यता-धर्म को मानने वाले मंगल पाण्डे से लोटे का छूना सहन नहीं हुआ और उसने मातादीन को गालियां देकर अपमानित किया। इस पर मातादीन ने फटकारते हुए कहा कि लोटा छूने से तुम धर्मभ्रष्ट हो जाते हो, पर जब उन कारतूसों को दांतों से पकड़कर खोलते हो, तो भ्रष्ट नहीं होते, जिनके मुंह पर गाय और सुअर की चर्बी लगी होती है। मंगल पाण्डे ने जब यह सुना तो उसे लगा कि सभी हिन्दू सिपाहियों का धर्म-भ्रष्ट हो गया है। यही घटना सिपाही विद्रोह का कारण बनी। क्या सचमुच सिपाही विद्रोह का यही एक कारण था? यह गले नहीं उतरता, क्योंकि कारतूसों में चर्बी रहती थी, यह सभी सिपाही जानते थे, भले ही वह किसी भी पशु की हो। यदि मंगल पाण्डे मांसाहारी नहीं था, तो उसके लिये किसी भी पशु की चर्बी वर्जित थी। फिर गाय की चर्बी को लेकर ही विद्रोह क्यों? दूसरे, यह भी गौरतलब है कि बगावत के समय भी सिपाहियों ने कारतूसों का उपयोग किया था, तब वे उन्हें किस तरह खोलते थे? सम्भवतः मामला चर्बी का नहीं था, कुछ और भी था।

गाय और सुअर ये दो पशु हिंदू और मुसलमानों के धर्म से जुड़े हैं। हिंदू गाय को माता कहते हैं, जो उनके धर्म में एक पूजनीय पवित्र पशु है, जबकि मुसलमानों के लिये सुअर एक गंदा पशु है और इस्लाम में उसका छूना और मांस खाना हराम माना गया हैं। हिंदुओं और मुसलमानों को आपस में लड़ाने के काम में साम्प्रदायिक शक्तियां प्रायः इन्हीं दो पशुओं का उपयोग करती आयी

हैं। 1857 में भी ब्राह्मण शक्तियों ने यही किया। उन्होंने कारतूसों में गाय की चर्बी को अपनी धर्म-व्यवस्था की लड़ाई के लिये एक कारगर हथियार के रूप में देखा। इस धर्म-युद्ध में मुसलमान भी ब्राह्मणों के साथ आ जायें, इसलिये गाय के साथ सुअर को भी एक साथ जोड़ा गया।

यहां भी वही सवाल विचारणीय है, जो वेल्लौर विद्रोह में था। जिन ब्राह्मणों ने इसे भारत का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम कहा, जैसा कि सावरकर और हरदयाल आदि ने कहा था, वे इस बात पर विचार नहीं करते कि यदि कारतूसों में गाय या सुअर की चर्बी न लगायी होती, या इसका भान ही न हुआ होता, क्या तब भी कोई विद्रोह होता? यदि चर्बी ही मुख्य कारण था, तो जाहिर है कि कोई विद्रोह नहीं होता। फिर, उसे स्वतंत्रता संग्राम किस आधार पर कहा जा सकता है? दरअसल यह विद्रोह भी समाज सुधार कार्यक्रम का प्रतिफल था। यह अपनी धर्म-व्यवस्था को बचाने का संग्राम था। यह हिंदुओं की धार्मिक स्वतंत्रता का मामला था, भारत की स्वतंत्रता से इसका कोई संबंध नहीं था। इस विद्रोह को भारत का स्वतंत्रता संग्राम का रूप देने की कोशिश रूढ़िवादी ब्राह्मणों और कुछ देशी राजाओं और नवाबों ने की थी, जिनकी रियासतें अंग्रेजी राज में खतरे में थीं।

सिपाही-विद्रोह के मूल कारण पर आते हैं। यह विद्रोह बंगाली आर्मी ने किया था। यह सिर्फ नाम की बंगाली आर्मी थी, इसमें बंगाल का कोई भी सिपाही नहीं था। यह आर्मी मुख्य रूप से अवध और दोआबा क्षेत्र के उच्च जातीय लोगों को लेकर बनी थी। इसमें अधिकांश ब्राह्मण सैनिक थे, जो अपना सबसे सबसे ज्यादा समय नहाने और पूजापाठ में लगाते थे। इसलिये, यह आर्मी ब्राह्मण साजिश का आसानी से शिकार हो गयी।

अवध प्रांत और बनारस के ब्राह्मण, अंग्रेजी सरकार के सामाजिक सुधार कानूनों से क्षुब्ध थे। वे चाहते थे कि मुगलों की तरह अंग्रेज भी उनकी धर्म-व्यवस्था में दखल न दें, पर अंग्रेजों ने कई मामलों में दखल देना जरूरी समझा।

इस संबंध में आंबेडकर ने कुछ सुधारों का उल्लेख किया है, जिनका संक्षिप्त वर्णन करना जरूरी है। (रायटिंग एण्ड स्पीचेस, वा.-12, पृष्ठ-116-137) वे लिखते हैं, सारी सामाजिक बुराइयां धर्म पर आधारित हैं। एक हिंदू, चाहे स्त्री हो या पुरूष, वह जो भी काम करता है, धर्म के अनुसार करता है। वह खाता धर्म के अनुसार है, पीता धर्म के अनुसार है, नहाता धर्म के अनुसार है, पहनता धर्म के अनुसार है, उसका जन्म धर्म के अनुसार होता है, विवाह

धर्म के अनुसार होता है और दाह संस्कार भी धर्म के अनुसार होता है। उसके सारे क्रिया-कलाप धर्म के अनुसार होते हैं। इसलिये धर्म निरपेक्ष दृष्टिकोण से जो बुराइयां पापपूर्ण दिखायी देती हैं, वे उसके लिये पापपूर्ण नहीं होतीं, क्योंकि उसका धर्म उन्हें पुण्य मानता है। इसलिये पाप के दोषी हिंदू का उत्तर यह होता है- 'यदि मैं पाप कर रहा हूं तो धर्म के अनुसार कर रहा हूं।' (वही, पृष्ठ.-115)

समाज हमेशा रूढ़िवादी होता है। वह तभी बदलता है, जब उसे बदलने के लिये दबाव डाला जाता है। ऐसे दबाव जब भी डाले जाते हैं, पुरातन और नवीन के बीच हमेशा संघर्ष होता है। इसलिये कानून की सहायता के बिना किसी बुराई को कभी समाप्त नहीं किया जा सकता, खास तौर से धर्म पर आधारित बुराई को तो बिल्कुल भी नहीं।

अंग्रेजों ने छः सामाजिक बुराइयों को रोकने के लिये कानून बनाने की जरूरत समझी इनमें पांच कानून विद्रोह के पहले बने और छठा कानून विद्रोह के बाद 1860 में बना, जो स्त्री के यौन-उत्पीड़न और बलात्कार को रोकने के लिये एक्ट XLV (पैनल कोड) सेक्शन 375 था। विद्रोह के पहले के पांच कानून ये थे-

1. बंगाल रेगूलेशन XXI (1795), जो बनारस प्रांत में, ब्राह्मणों के 'कुर्रा' की प्रथा को रोकने के लिये था, जिसमें वे अपनी स्त्रियों की हत्या कर देते थे। इसी कानून के तहत ब्राह्मण को हत्या करने पर मृत्यु दण्ड के दायरे में लाया गया, जिससे वह अभी तक बाहर था।

2. 1802 का रेगूलेशन VI जो मासूम बच्चों की धर्म के नाम पर बलि देने की प्रथा को रोकने के लिये था।

3. 1829 का रेगूलेशन XVII, जो सती प्रथा को रोकने के लिये था, जिसमें हिंदू अपनी विधवा स्त्रियों को जिंदा जला देते थे।

4. जाति-निर्योग्यता निवारण अधिनियम XXI (1850) यह सेक्शन-9, रेगूलेशन VII (1832) का विस्तार था। यह दलित हित में था।

5. हिंदू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम XV (1856) जो हिंदू विधवा के पुनर्विवाह को न्यायिक मान्यता प्रदान करने के लिये था।

ब्रिटिश सरकार के इस सुधार कार्यक्रम से यह स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है कि ये कानून ब्राह्मणों की धर्म-व्यवस्था में हस्तक्षेप थे। जिस ब्राह्मण को किसी की भी हत्या करने पर मृत्युदण्ड नहीं दिया जा सकता था, उसे अन्य हत्याभियुक्तों के समान ही दण्ड के दायरे में लाने का कानून ब्राह्मणें के लिये,

खास तौर से बनारस प्रान्त के ब्राह्मणों के लिये, जो अपनी 'कुर्रा' प्रथा के तहत किसी भी स्त्री अथवा लड़की की हत्या करने में कोई संकोच नहीं करते थे, विद्रोह की चिंगारी बनने के लिये काफी था।

1857 में बंगाल आर्मी के विद्रोह के मूल में समाज सुधार की यही चिंगारी थी। दूसरी चिंगारी लार्ड डलहौजी की विलय नीति (Doctrine of Lapse) थी। इस नीति के तहत सतारा, जैतपुर, सम्भलपुर, बघाट, उदयपुर, झांसी और नागपुर की रियासतें विलय कर ली गयी थीं। अन्य रियासतों के अस्तित्व भी संकट में थे। मुगल बादशाह बहादुरशाह जफर तक भयभीत थे और यह नहीं समझ पा रहे थे कि वह अंग्रेजों का विरोध करें या समर्थन।

झांसी को लेते हैं, जिसकी भूमिका इस विद्रोह में सबसे ज्यादा विख्यात है। झांसी पेशवा आश्रित राज्य था। झांसी के राजा गंगाधर एक विलासी और अत्याचारी शासक थे। उनका कोई पुत्र नहीं था। इसलिये उन्होंने अपने भतीजे के पुत्र को गोद ले लिया था, जिसको वे अपने बाद राज्य का उत्तराधिकारी बनाना चाहते थे। उनके पूर्वज सदैव कम्पनी सरकार के वफादार रहे। पर कम्पनी सरकार ने नहीं माना और रानी को 5 हजार रूपये मासिक की पेंशन देकर झांसी को अपने राज्य में मिला लिया। रानी ने पेंशन लेने से इनकार कर दिया और कहा कि 'मैं अपनी झांसी नहीं दूंगी।' रानी ने झांसी को बचाने के लिए अंग्रेजों से युद्ध किया।ये सभी राजा अपनी रियासतों में अपनी सत्ता चाहते थे। इसलिये ब्राह्मणों के साथ इन राजाओं ने विद्रोह में साथ दिया।

यहां इस प्रश्न पर विचार करने की जरूरत है कि क्या यह स्वतंत्रता संग्राम था? यदि यह स्वतंत्रता संग्राम था, तो क्या सैकड़ों रियासतों में विभाजित भारत में एक अखण्ड स्वराज की अवधारणा तब तक विकसित हो गयी थी? स्पष्ट उत्तर है, नहीं। स्वराज की हिंदू अवधारणा भी ठीक से 1900 के बाद बनी थी। 1930 तक यानी गोल मेज सम्मेलन के समय तक पूर्ण स्वतंत्रता की परिकल्पना तक अस्तित्व में नहीं थी। गांधी और कांग्रेस के नेता डोमिनियन स्टेटस की मांग कर रहे थे। ये तो आंबेडकर थे, जिन्होंने पूर्ण स्वतंत्रता की वकालत की थी। जब बीसवीं शताब्दी में यह स्थिति थी तो, उन्नीसवीं शताब्दी में 1857 के विद्रोह को प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम कहने का क्या अर्थ है? यह उन मूर्खों का आलाप था, जो सिर्फ हिंदुओं की स्वतंत्रता चाहते थे, और इस बात से उन्हें कोई मतलब नहीं था कि यदि 1857 का विद्रोह (दुर्भाग्य से) सफल हो जाता, तो अलग-अलग रियासतों की स्वतंत्र सत्ताएं उन्हीं व्यवस्थाओं को जीवित रखतीं, जिनमें अछूतों को समस्त मानवाधिकारों से वंचित रखा

जाता, विधवा स्त्रियों को जिंदा जलाया जाता, मासूम बच्चों की बलि दी जाती, अय्याश सामन्त चाहे जिस स्त्री या लड़की का अपहरण कराते और बलात्कार करते और ब्राह्मण की हर हिंसा और बर्बरता क्षमा योग्य होती। न पूरे देश में कानून एक होता और न कानून की नजर में सब समान होते।

इस विद्रोह को भारत का पहला स्वतंत्रता संग्राम कहने वाले और अखण्ड हिंदू भारत का स्वप्न देखने वाले ब्राह्मण लेखकों ने यह देखने के लिये अपनी आंखों का मोतियाबिन्द साफ नहीं किया कि रियासतों को विलय करके भारत को अविभाज्य राज्य बनाने का क्रान्तिकारी कार्य तो अंग्रेज कर रहे थे।

कहावत है कि बारह साल बाद घूरे के भी दिन फिर जाते हैं। फिर ये तो इस देश के लाखों दबे-कुचले, दलित, पिछड़े, गरीब, आदिवासी, मेहनतकश लोग थे। उनकी हजारों सालों की बिगड़ी नियति को क्यों नहीं बदलना था? ब्राह्मण और राजा-महाराजा भले ही चाहते थे कि अंग्रेज के विरूद्ध विद्रोह सफल हो, अंगे्रज विदा हों और उनकी सामन्ती धर्म-व्यवस्था बहाल हो, पर पीड़ित बहुजनों के हित में नियति को यह स्वीकार नहीं था। विद्रोह देशव्यापी नहीं हो सका। दिल्ली, लखनऊ, इलाहाबाद, कानपुर, बनारस, झांसी, ग्वालियर और बिहार के कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित रहा और शीघ्र ही इसको कुचल दिया गया। बम्बई और मद्रास की सेनाओं ने इस विद्रोह में भाग नहीं लिया, वरन् उसे दबाने में भूमिका निभायी। यहां यह जानकारी देना जरूरी है कि बम्बई और मद्रास की सेनाओं का गठन अछूत जातियों के लोगों से किया गया था। उनमें अधिकांश महार (बंबई) और परिया (मद्रास) जाति के लोग थे। यही कारण था कि उन्होंने ब्राह्मणों के इस विद्रोह में भाग नहीं लिया। मई 1857 में शुरू हुआ विद्रोह आखिर 1857 तक पूरी तरह शांत हो गया था। हां, अंग्रेजों ने इससे कुछ सीख जरुर ली।

लेकिन एक अन्य विषय पर चर्चा किये बगैर यह लेख अपूर्ण होगा। वह विषय है, विद्रोह के दमन के बाद दलितों और समाज सुधार कार्यक्रम के प्रति अंग्रेजी सरकार ने अपनी नीतियों में क्या परिवर्तन किये थे? इस विषय पर मुझे डा. आंबेडकर के हवाले से विचार करना होगा। उन्होंने अपने शोध लेख 'दि अनटचेबुल्स एण्ड दि पेक्स ब्रिटानिका' में इस विषय में कुछ नये तथ्य प्रस्तुत किये हैं जो आज के दलित लेखकों को भी अंग्रेज सरकार के प्रति अपनी स्थापनाओं पर फिर से विचार करने के लिए बाध्य कर सकते हैं। भारत को जीतने के लिये ईस्ट इंडिया कम्पनी ने पहली लड़ाई 1757 में बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला की सेना से प्लासी में लड़ी और उसकी जीत हुई। बंगाल पर कब्जा

करने के बाद कम्पनी ने दूसरी लड़ाई 1818 में महाराष्ट्र के कोरेगांव में लड़ी। यही वह लड़ाई थी जिसने मराठा साम्राज्य को ध्वस्त किया और भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना की। भारत को जिन लोगों की मदद से जीता गया, वे भारतीय थे। वे कौन भारतीय थे, जो विदेशियों की सेना में शामिल हुए? आंबेडकर लिखते हैं कि ईस्ट इंडिया कम्पनी की सेना में भर्ती होने वाले लोग भारत के अछूत थे। जिन्होंने प्लासी की लड़ाई में भाग लिया, वे दुसाध थे और जिन्होंने कोरेगांव की लड़ाई लड़ी थी, वे महार थे- और दोनों ही अछूत जातियां हैं। इस प्रकार, पहली और दूसरी दोनों लड़ाईयों में अंग्रेजो की तरफ से लड़ने वाले लोग अछूत जातियों के थे। इस तथ्य को मारक्वेस ने पील कमीशन को भेजी गयी अपनी रिपोर्ट में स्वीकार किया था। 1857 के विद्रोह को कुचलने में भी बम्बई और मद्रास की जिस सेना ने मदद की थी, उनमें भी, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, महार और परिया अछूत जातियों के लोग ही अधिसंख्य थे। इस प्रकार, अछूत जातियों ने न केवल भारत में अंग्रेजी राज कायम करने में मदद की, बल्कि उसे सुरक्षित भी बनाए रखा।

पर, ब्रिटिश सरकार ने अछूतों की इन सेवाओं के बदले उनके साथ क्या व्यवहार किया? आंबेडकर लिखते हैं कि सरकार ने उनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया। 1890 में उसने भारतीय सेना में अछूतों की भर्ती पर रोक लगा दी। उसने नये सिद्धांत के तहत सेना में भर्ती के लिये लड़ाकू और गैर-लड़ाकू दो श्रेणियां बनायीं और अछूतों को 'गैर-लड़ाकू' श्रेणी में रखकर उनकी सेना में भर्ती बंद कर दी। क्या वे लोग, जो भारत को जीतने और विद्रोह को दबाने में अंग्रेजों की तरफ से बहादुरी से लड़े, गैर-लड़ाकू श्रेणी में रखे जा सकते हैं? हरगिज नहीं। उनको सेना में सिर्फ इस कारण से नहीं लिया गया, क्योंकि वे अछूत थे। यहां यह सवाल किया जा सकता है कि फिर 1890 से पहले तक ये अछूत ब्रिटिश सेना में क्यों लिये जाते रहे? इसका कारण था, सेना के गठन का नया सिद्धांत, जो 1890 में बनाया गया था। पहले सिद्धांत के तहत सेना में सर्वश्रेष्ठ लोगों को लिया जाता था, उसमें जाति और धर्म की कोई समस्या नहीं थी। पर, नए सिद्धांत में सेना में भर्ती के लिये आदमी की जाति ही उसकी शारीरिक और बौद्धिक योग्यता का मुख्य आधार बन गयी थी। अब एक दल या कम्पनी का गठन पूरी तरह एक ही वर्ग से किया जाने लगा। इस आधार पर सिख, डोगरा, गोरखा और राजपूत रेजिमेंटें बनायी गयीं। नये सिद्धांत में ये लड़ाकू श्रेणी में थे। आंबेडकर यहां सवाल करते हैं कि जब वर्गीय आधार पर सिखों, डोगरों, गोरखों और राजपूतों की रेजिमेंट हो सकती है, तो अछूत रेजिमेंट

क्यों नहीं हो सकती थी? दूसरा सवाल उन्होंने यह उठाया कि यदि लड़ाकू वर्ग से भर्ती का सिद्धांत सही है तो जब तक यह साबित न हो जाय कि अछूत लड़ाकू वर्ग नहीं है, इस सिद्धांत के आधार पर अछूतों की भर्ती को कैसे रोका जा सकता है? वास्तविकता यह थी कि पुराने सिद्धांत के तहत सेना में सवर्ण हिन्दुओं की भर्ती बहुत कम होती थी, इसलिये अछूतों को भर्ती किया जाता था। किंतु, विद्रोह के बाद, जब नया सिद्धांत बना तो, जैसा कि आंबेडकर लिखते हैं, भारतीय शासकों की जाति ;त्बमद्ध निस्तेज हो गयी, तो हिंदुओं ने ब्रिटिश सेना में घुसना शुरू किया- उस ब्रिटिश सेना में, जो पहले से ही अछूतों से भरी हुई थी, तब दो वर्गों-सवर्णों और अछूतों के सापेक्ष स्तर (Position) में समायोजन करने की समस्या पैदा हुई और अंग्रेजों ने, जो न्याय और सुविधा के बीच संघर्ष के मामले में हमेशा सुविधा को प्राथमिकता देते हैं, समस्या का समाधान अछूतों को अकृतज्ञ रूप से बाहर निकालने का फैसला लेकर किया। इस निर्णय ने अछूतों के जीवन को तबाह कर दिया। सेना में नौकरी अछूतों के सामाजिक स्तर में बदलाव का प्रतीक थी। वह उनमें स्वाभिमान का भाव पैदा करती थी। पर, अब अंग्रेजों ने उन्हें ऊपर से उठाकर नीचे फेंक दिया था।

आंबेडकर इसी लेख में आगे लिखते हैं कि 1857 के सिपाही विद्रोह ने अंग्रेजों को हर प्रकार के समाज सुधार के भी विरूद्ध कर दिया था। अंग्रेज आगे कोई खतरा लेना नहीं चाहते थे, क्योंकि उनके दृष्टिकोण से यह खतरा बहुत बड़ा था। विद्रोह ने उन्हें इतना आतंकित कर दिया था कि उन्हें लगने लगा था कि वे समाज सुधार के कारण भारत को खो देंगे। इसलिए भारत पर अपने कब्जे के हित में उन्होंने समाज सुधार की किसी भी योजना को हाथ में लेने से इनकार कर दिया था। अतः कहना न होगा कि इस विद्रोह में ब्राह्मणवाद ने आंशिक रूप से अपना दबाव जरूर बना दिया था।

-जनवरी, 2007

भाग – 3

समकाल

अध्याय - 19

मैं बौद्ध धर्म की ओर क्यों मुड़ा?

लक्ष्मण माने

महाराष्ट्र के सार्वजनिक क्षेत्र में पिछले 25-30 सालों से मैं काम कर रहा हूं। घुमंतू-विमुक्त लोगों के आंदोलन का जुआ कंधे पर लेकर 25-30 सालों से घूम रहा हूं। मैंने 'उपरा' (लक्ष्मण माने की आत्मकथा) में अपने जीवन की कहानी विस्तार से लिखी है। मैं जिस समाज से हूं, उन लोगों का कोई गांव नहीं होता। वे ऐसे गांव के प्रतिनिधि होते हैं जो दूसरों को दिखाई नहीं देता। हमारा कोई गांव भले न हो, मगर हमारी भी एक संस्कृति है। हम भले ही रेलवे प्लेटफॉर्म के किनारे रहते हों, मगर हमारा भी एक गांव तो होता ही है। हम हगनहटी (जहां गांव के लोग शौच को जाते हैं) में जहां ठहरते हैं, वहां भी एक गांव होता है। हमारा गांव तो होता है, मगर उसका गांव से कोई संबंध नहीं होता। दरअसल, जिसे गांव कहा जाता है ऐसे गांव के हम नागरिक ही नहीं है। हमारा कोई गांव नहीं है, कोई नाम नहीं है अगर हमारे साथ कुछ है, तो वह है केवल हमारे गांव और जाति की एक तख्ती। दरअसल, हम इस व्यवस्था का हिस्सा ही नहीं हैं। इसलिए कहीं हमारी कोई गिनती नहीं होती। न जोड़ में, न घटाने में। हमारा कोई महत्व नहीं है।

नंदी बैल वाला हम सबके गांव में आता है। वह भी गांव की हगनहटी में ही ठहरता है। लोग नंदी बैल की पूजा तो करते हैं, मगर कभी उनके दिमाग में यह बात नहीं आती कि शंकरजी का नंदी लेकर आने वाला वह व्यक्ति हगनहटी में ठहरता है। नंदी हगनहटी से ही गांव में आता है। लोग उसकी पूजा करते हैं और वह फिर हगनहटी में ही वापस चला आता है। हम जिस किसी देवी की पूजा करते हों, क्या उसे हगनहटी में रखते हैं? यानी पूजनीय वस्तु से अपना कोई संबंध नहीं होना चाहिए, संबंध हो भी, तो शैतान का हो यह बात कभी हमारी जेहन में आती ही नहीं कि ये मंदिर वाले, ये कड़कलक्ष्मी (देवी का

रूप धारण करने वाले) वाले आखिर आए कहां से हैं? वे आते हैं अपनी ही पीठ पर प्रहार करते हैं। हाथ में सुई चुभोते हैं। रक्त निकल आता है। हम सब देखते रहते हैं। थोड़ी दया उमड़ी तो कुछ पैसा भी दे देते हैं। मगर ये लोग आते कहां से हैं, रहते कहां हैं, खाते क्या हैं, उनका गांव कहां हैं, वे इंसान हैं या जानवर? ऐसे सवाल यहां जनता के मन में कभी घुमड़ते ही नहीं। हां, मंदिर को धक्का लगते ही भावनाएं जरूर आहत हो जाती हैं और लोग मरने-मारने पर उतर आते हैं। मगर हजारों सालों से उनके उसी मंदिर का देवती हगनहटी में रहता है, गांव में घूमता है और वापस फिर उसी हगनहटी में चला जाता है। उस समय उनकी श्रद्धा कहां चली जाती है?

कुल 42 जनजातियों में बंटे हैं ये सारे लोग। हमारी सुबह होती है, 'वासुदेव' की आवाज सुनकर। वह आता है, कहता है 'दान मिलेगा..' । मराठी फिल्मों, उपन्यासों में इस बहुरूपिए को बहुत सुंदर तरीके से पेश किया गया है। वह करताल बजाते हुए आता है। सारी दुनिया के लिए दुआ मांगता है। कहता है, सारे जग का कल्याण हो। बड़ी सुबह गांव में दिखाई देने वाला यह व्यक्ति 'कहां से आता है?' हजारों सालों तक किसी के भी दिमाग में यह सवाल नहीं उठा। किसी ने कभी नहीं सोचा कि आखिर वह खाता क्या है?

ज्ञानारंभ

1950 में संविधान लागू होने के बाद जब मेरे जैसे व्यक्ति को स्कूल जाकर कुछ पढ़ने-लिखने का मौका मिला, तबसे यह सब सोचा जाने लगा है। पढ़-लिखकर ही पीछा नहीं छूटा, किताबें भी लिखनी पड़ीं। फिर लोगों को धीरे-धीरे समझ में आने लगा कि ये लोग भी इंसान हैं और इनके बारे में भी इन्सान की तरह ही सोचा जाना चाहिए। 'उपरा' पर जो प्रतिक्रिया आईं, हजारों पत्र मिले, वह इस बात का सबूत थे। हमारे हाथों में जब लेखनी आई तभी हम स्वाभिमान से गर्दन ऊंची कर खड़े हो सके।

दरअसल, जिस दिन मेरे पिता ने मुझे स्कूल भेजा, उसी दिन मेरा धम्मप्रवेश हो गया था। 'उपरा' के एक पात्र हैं, आक्कोबा सस्ते मास्टर। यही मास्टर मुझे दो महीने पहले मिले। जब मैं अपने गांव गया हुआ था। वे अब बहुत बूढ़े हो गए हैं। इन्ही मास्टर ने मेरे पिता से कहा था, इस बालक को स्कूल में डाल दो। बच्चा तेज और होशियार लगता है। मेरे पिता थोड़ी देर के लिए अचकचा गए। किस स्कूल में डालूं और कौन इसे अपने स्कूल में प्रवेश देगा? मास्टर ने कहा, इसका नाम मैं अपने स्कूल में लिखवाऊंगा। तू बस इसे स्कूल लेकर

आ जा। पिता ने फिर कहा, मगर केवल तीन दिन के लिए। यानी आज स्कूल जाएगा। कल स्कूल में बैठेगा और परसों मैं किसी और जगह चला जाऊंगा मास्टर ने कहा, तू चिंता मत कर। तू जिस किसी गांव जाएगा, वहीं के स्कूल में उसे बैठाना। मगर इसकी हाजिरी मेरे ही स्कूल में लगेगी।

मैं महाराष्ट्र के कोने-कोने में गया, मगर मेरी हाजिरी लगती रही। मेरा आक्कोबा मास्टर हाजिरी लेता रहा। बाकी बच्चों की परीक्षा तो समय पर तय होती थी, मगर मेरी परीक्षा की तिथि तय नहीं थी पिता गधे के पीछे-पीछे कहीं भी जाते, मगर गांव का एक चक्कर जरूर लगाते। पिता जब भी गांव में आते आक्कोबा मास्टर मेरी परीक्षा ले लेते। मैं ऐसा अकेला विद्यार्थी था जिसकी परीक्षा अकेले होती थी। दूसरे दिन परीक्षाफल भी आ जाता और तीसरे दिन ही मैं फिर गधे पर बैठकर किसी दूसरे स्थान के लिए चल पड़ता।

ज्ञान के क्षेत्र में मेरा प्रवेश इसी मास्टर के कारण हो पाया। कर्मवीर भाऊराव पाटिल द्वारा किए गए कार्यों के कारण मैं ज्ञान-क्षेत्र में आ पाया। अन्यथा स्लेट, पेंसिल, कापी-किताब क्या होती है, क्या मालूम था हमें। अन्ना (भाऊराव पाटिल) ने एक माहौल बनाया। सातारा जिले में गांव-गांव में स्कूल खोले जा रहे थे। उन्हीं स्कूलों में मैंने पढ़ाई की। अन्यथा गांवों में स्कूल कहां थे? इन्हीं स्कूलों में मैं पढ़ाई करता गया, बड़ा होता गया। पहली बार यह आभास हुआ कि आखिर हम ही ऐसे क्यों हैं? हमारा ही कोई घर क्यों नहीं है? हम जिस भाषा में बात करते हैं वह दूसरों से अलग क्यों है? हमारी भाषा गांव के बाकी लोगों को क्यों नहीं समझ में आती? हमारे घर में जो व्यवहार होता है वह अन्यत्र क्यों नहीं? गांव में जो-जो होता है, वह हम क्यों नहीं कर सकते?

इसलिए 'मेरा धम्मप्रवेश' कहना उचित नहीं है। बल्कि मैं तो अपने मूल घर में वापस आ रहा हूं। बस, मुझे यह पता नहीं था कि मैं अपने ही घर में हूं। जैसे-जैसे ज्ञान बढ़ता गया, समझ आती गई, वैसे-वैसे इसका पता चलता गया।

गणपति की स्थापना

मैं चौथी कक्षा में था। मेरी कक्षा के अन्य बच्चों ने अपने-अपने घर में गणपति की स्थापना की थी। मुझे लगा, हमें भी गणपति की स्थापना करनी चाहिए। मैंने छोटी सी गणपति की मूर्ति लाई और दीवार के आला में उसकी स्थापना कर दी। माता-पिता दोनों घर पर नहीं थे। शाम को वे घर आए, देखते ही बोले – 'अरे ये मूर्ति क्यों लाया?' मैंने उनकी तरफ देखा और पिता के डर से मां के पीछे छिप गया। पिता तो चले गए। मां ने फिर वही सवाल दागा, 'ये

मूर्ति क्यों लाया?' मैं बोला, 'सारे बच्चों ने अपने घर में इनकी स्थापना की है, इसलिए मैं भी ले आया।' मां बोली – 'अरे एक भी कैकाड़े (एक जनजाति) के घर में इनकी स्थापना नहीं की जाती। तू अपने घर में इन्हें क्यों लाया?' मैंने कहा, 'मेरे सारे दोस्तों ने स्थापना की है।' मैंने अपने शिक्षक द्वारा दी गई सारी जानकारी मां को दे दी। मां ने फिर कहा, 'मगर ये हमारे लिए शुभ नहीं हैं।' मैं दृढ़ता से यह समझाने की कोशिश करता रहा कि कैसे यह हमारे लिए शुभ हैं, मगर वह एक न मानी। मां ने आदेश दिया, 'अभी पानी में इनका विसर्जन कर आ। हमारी जाति में इनकी स्थापना नहीं की जाती। यह सब हमारे यहां नहीं चलता।' लेकिन जब उसने देखा कि मैं उसकी एक बात नहीं सुन रहा हूं तब उसने कहा, 'तूने यदि चुपचाप इनका विसर्जन नहीं किया तो अपने घर में सांप आ जाएगा। फिर तू क्या करेगा?' अब कोई विकल्प मेरे पास नहीं बचा था। चौथी कक्षा के बच्चे को सांप के आने का मतलब नहीं समझ आता था। आखिर शाम ढलने के बाद अंधेरे में हम दोनों ने गणपति की मूर्ति कुंए में विसर्जित कर दी।

बाबासाहब की 22 प्रतिज्ञाएं

बाबासाहब की 22 प्रतिज्ञाएं हम पर लागू नहीं होतीं। इसका अर्थ यह नहीं कि मैं इन 22 प्रतिज्ञाओं का विरोधी हूं। वह तो शत-प्रतिशत मुझे स्वीकार्य हैं। मेरा कहना केवल इतना ही है कि हम ब्रह्मा, विष्णु, महेश के चक्कर में नहीं हैं। भटक्या-विमुक्त जनजाति पर ब्राह्मणी संस्कृति के संस्कार नहीं हैं। वे तो श्रमण संस्कृति के वारिस हैं। वे हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा नहीं करते। यानी यह जनजाति वैदिक धर्म परंपरा का पूजन नहीं करती। पेट भरने के लिए वे जो मन में आए वह काम कर लेते हैं। सुबह को अगर भविष्य बताते हैं तो दोपहर को मछलियां पकड़कर खाते हैं। इन लोगों में व्याप्त रूढ़ियां, अंधश्रद्धा, परंपरा, देवी-देवता आदि सारी बातों पर अब फिर से विचार करना होगा। 22 प्रतिज्ञाओं पर जोर देना होगा। उन प्रतिज्ञाओं का और विस्तार करना होगा।

आदिम अवस्था की नासमझी और मूर्खता को दूर करने के लिए प्रतिज्ञाओं का इस्तेमाल करना होगा। उन्हें उसी तरह से ढालना होगा। क्योंकि विज्ञाननिष्ठ जीवनदृष्टि के बगैर विवेकनिष्ठ जीवनदृष्टि नहीं आ सकेगी, और जब तक विवेकनिष्ठ जीवनदृष्टि नहीं आएगी तब तक वह बुद्ध की तरफ जा ही नहीं सकेगा। सदियों से चले आ रहे भेड़ियाधसान और अंधानुकरण का चोला जीवन से उतार फेंकने के लिए इस जनजाति के लोगों को सबसे पहले यह एहसास

कराना जरूरी है कि 'आखिर हम हैं कौन?' हम पिछले जन्मों में किए गए कर्मों के फल का सिद्धांत नहीं बताएंगे। हम समूह समाज (टोली समज) के लोग हैं और उस अर्थ में हम हिंदू नहीं हैं।

22 प्रतिज्ञाओं को अस्वीकार करने का तो सवाल ही नहीं उठता। मुझे इन प्रतिज्ञाओं को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है, न मेरा कोई विरोध है। इस संबंध में मैंने अपना पक्ष विस्तार से अपने ग्रंथ 'विमुक्तायन' में रखा भी है।

क्या है 'ट्रेडिशन'

फिर सवाल उठता है कि मेरी अपनी 'ट्रेडिशन' क्या है? गणपति की स्थापना हमारी 'ट्रेडिशन' नहीं है। हम देव घर में अपने पूर्वजों की ही पूजा करते हैं। हम देवी-देवताओं को माननेवालों के पचड़े में भी नहीं पड़ते। हम इन्सानों की पूजा करते हैं, देवों की नहीं। जिसे देव घर में स्थापित किया जाता है उसे हम देव नहीं मानते, पितर (पितृ) मानते हैं। पितरों के कितने झंडे होते हैं यह हगनहटी में जाने के बाद ही मालूम पड़ता है। हमारा एक भी देव ऐसा नहीं है जिसे शराब नहीं चढ़ाई जाती हो, बिना शराब के कुछ होता ही नहीं। हम जो-जो खाते हैं वह सब हमारा देव भी खाता है। कहीं किसी को बुखार-ताप हुआ, कहीं कोई गड़बड़ी हुई कि देव शरीर में संचारित हो जाता है। उछलकूद करने लगता है। वह जो नैवेद्य मांगता है वह हमारे यहां उपलध भी होता है।

इसलिए तथागत के धम्म से ही हमारी नाल जुड़ी है। हम सांसारिक लोग हैं। इसी दुनिया का विचार करने वाले, इसीलिए दरिद्र रह गए। बुद्ध ने कहा था-संग्रह मत करो, संपत्ति जमा मत करो। यही हमारी दरिद्री का कारण बना। हम संपत्ति बनाने के चक्कर में रहे ही नहीं रोज कमाने, रोज खाने वाले लोग हैं हम। भिक्खू को क्या आदेश दिया था बुद्ध ने? यही कि, गांव में रहना नहीं और गांव से बहुत दूर जाना नहीं। हम कहां रहते हैं? गांव से दूर नहीं, मगर गांव में भी नहीं। जब तक ये भिक्खू हमारे साथ आते थे, रहते थे, तब तक हम अपना धम्म बता पाते थे। जब से उनका आना बंद हुआ हम नंगे-बूचे हो गए। जैसे हमारा सब-कुछ खत्म हो गया। वे तितर-बितर हो गए। विदेश चले गए। हमें क्या दिया? 'कुडमुडे जोशी समाज' में आज भी भीख मांगकर खाने की प्रथा है। बचा हुआ खाना, नमक, आटा एक गड्ढे में डालकर उस पर मिट्टी डाल दी जाती है। मैं पूछता, 'ऐसा क्यों करते हैं?' जवाब मिलता, 'ऐसा क्यों करते

हैं यह तो पता नहीं, मगर यही रीत है, परंपरा हैं यह खाद्यान्न दूसरे दिन सूर्य को नहीं दिखाई देना चाहिए। नहीं तो वह वहीं अटक कर रह जाएगा।'

क्या सिद्धांत है! संग्रह करना नहीं है। कुछ बचाकर रखना नहीं है। आखिर जीना तो कैसे जीना है? जो भी लाएंगे वह मांगकर ही। वह भी पूरा नहीं खाना है। कुछ बचाना भी है। जो है उसी में गुजारा करना है। जरा गंभीरता से अध्ययन करें तो पता चलेगा कि, केसारे गोसावी, डवरी गोसावी जैसी जनजातियां सब बुद्ध से ही तो संबंधित हैं।

मिल-बांटकार खाने की परंपरा

आज भी शिकार में चाहे एक खरगोश मिले या एक मछली, सब मिल-बांटकर ही खाते हैं। माल चाहे शिकार का हो या फिर चोरी का, सभी को बांटना जरूरी है। काफिले के हर व्यक्ति को मिलना ही चाहिए। खाने से पहले कुछ देर मौज-मस्ती होती है। बकरे की नली तक तय होती है। परोसते समय पाटिल के अलावा किसी दूसरे की थाली में नली नहीं गिरनी चाहिए। नली पाटिल का सम्मान मानी जाती है। वह नायक की होती है। गलती से भी किसी दूसरे की थाली में नली आ जाए तो झगड़ा तय है। जो भी हो, हर चीज में सबका हिस्सा होता है। अगर किसी को न मिले तो वह नायक से शिकायत करता है। बुद्ध की आर्थिक समानता आखिर इससे अलग क्या होगी?

स्त्री-स्वतंत्रता

हमारी जनजाति में चार बच्चे होने के बाद भी कोई महिला अपने पति को छोड़ सकती है। 5 बच्चे होने के बाद भी पति-पत्नी में मनमुटाव हाने पर पत्नी चाहे तो पति को छोड़ा जा सकता है। लोगों को बड़ा आश्चर्य लगता है। महिला को अगर लगने लगे कि अब इसके साथ अपना गुजारा नहीं हो सकता, तो वह पति को छोड़ सकती है। मेरे पिता मेरी मां को रोज पीटा करते थे। वह सब चुपचाप सहती थी। मैं जब अमेरिका गया तो मुझसे सभी लोगों ने यही सवाल किया, 'तुम्हारी मां तुम्हारे पिता के साथ क्यों रही?' लौटने के बाद मैंने यही सवाल अपनी मां से किया। कहा, अमेरिका में सारी महिलाएं यही सवाल मुझसे पूछती थीं। मां का जवाब था – 'मैं तेरे पिता के हाथों पिटती रही तभी तो तू पढ़-लिख सका। अगर पिटती नहीं तो तेरे पिता दूसरी शादी कर लेते। और तेरी शिक्षा बीच में ही छूट जाती। बस बेटा, इसीलिए तेरे पिता के हाथ की मार खाती रही।'

पति को छोड़ने के लिए पंचायत की मंजूरी जरूरी होती है। हमारा संघ ही हमारा जीवन है। हमारा सारा जीवन हमारा संघ ही नियंत्रित करता है। संघ के आदेशों का उल्लंघन कर हम संघ में नहीं रह सकते। बुद्ध के समय से संघ है। विवाह के समय संघ के पास ही जाना होता है। मृत्यु के समय भी संघ के पास जाना पड़ता है। बुद्ध ने ऐसे ही संघ की तो बात की है।

मैं अपने समाज के लोगों से कहता रहता हूं। हमें कुछ नहीं छोड़ना है। शरीर में देवी-देवता का संचार होता है, उससे निजात पाना है। यात्रा में बकरियां काटी जाती हैं, उसे छोड़ देना है। वैदू समाज साल भर इधर-उधर भटकने वाला समाज है। बेटा या पति के बीमार पड़ने पर मन्नतें की जाती हैं। और वह भी इतनी कि साड़ी में बाईं तरफ नारियल तक की गांठ बांध ली जाती है। यात्रा पर जाने पर इन गांठों को गिना जाता है। जितनी गांठें बंधी होती हैं उतने ही बकरे काटे जाते हैं और मटन पकाया जाता है। पूरे गांव को दावत पर बुलाया जाता है। मैंने इतने आंदोलन किए। सोचा कि यह सब आडंबर कम होंगे, मगर यह क्या? देवी-देवता सास के शरीर में आना बंद होते हैं तो बहू के शरीर में आने लगते हैं। कुछ भी करो, यह सब बंद हाने का नाम ही नहीं लेता। इस पर कोई उपाय अभी खोजना बाकी है।

हमारे यहां किसी भी किस्म की पूजा हो, ब्राह्मण नहीं आता था। हमारे लोग नासमझ हैं। उन्हें समझाया जाना चाहिए। मगर इधर पिछले दस सालों में हमारे यहां भी पूजा-पाठ कराने ब्राह्मण आने लगा है। मैं परेशान, कि आखिर यह बला आई कहां से? गणपति की स्थापना के समय मेरी मां जितनी परेशान हुई थी उतना ही परेशान मैं भी हुआ। हमारे सारे पूजा-पाठ, शादी-ब्याह नायक ही करता है। हमारी शादियां रास्ते के एक तरफ ही हो जाती हैं। रास्ते से गुजरते समय आभास भी नहीं होता कि हमारे यहां कोई विवाह हो रहा है। मगर विवाह होते हैं। बच्चे भी होते हैं। संसार ऐसे ही चलता रहता है। हगनहटी में गंदगी को साफ किया जाता है। झाड़ू से बुहारा जाता है। पानी डाला जाता है और वहीं देवता का सिंहासन बन जाता है। इस सिद्धांत को हजारों साल से जो लोग मानते रहे हैं उन्हें अपनी नासमझी के चलते कभी यह सिद्धांत समझ में ही नहीं आया।

..और हो गया तलाक

किसी भी उम्र की महिला जब कहती है, 'अब मेरा पति के साथ अब गुजारा नहीं हो सकता।' काफिला कहता है, 'बहना, ऐसा मत कर। यह विवाह पंचायत

की मंजूरी से हुआ है। तू उसे मत छोड़' मगर महिला अगर दोबारा कहे, 'नहीं मुझे उसे छोड़ना ही है।' बस! एक पतली लकड़ी उठाई। उसको तोड़ा।.. और हो गया तलाक।

मेरे बहनोई की जब मृत्यु हुई मेरी बहन 25 साल की थी। तीन बच्चे थे। सवाल उठा, इन तीन बच्चों का क्या होगा? पंयायत ने फैसला सुनाया-तीनों बच्चे मामा की संपत्ति हैं। उन्हीं के पास रहेंगे। और तीनों बच्चे मेरे पास आ गए। तीनों बच्चों को शिक्षा-दीक्षा दिलाई। नौकरियां लगवा दी। मेरे पिता ने उनकी शादी करा दी।

'इस्टेट' (संपत्ति) के लिए हमारे यहां भी विवाद होते हैं, मारपीट तक की नौबत आ जाती है। हमारी इस्टेट क्या होती है-एक तांबे की थाली। एक पीतल की। खाना बनाने के लिए लगने वाले कुछ बर्तन, गोदड़ी, गधे, भेड़ें, यही सब। यही सब बांटना है। अपने आपको कुलीन और उच्च वर्ग का बताने वालों के बच्चे 18-20 साल के होने पर भी कमाने नहीं जाते। मगर हमारे यहां ऐसा नहीं है। हमारे यहां तो बच्चा अपने मुंह से मां से खाना मांगने लगा कि वह विवाह के योग्य समझा जाने लगता है। 'खाना दे न मां, कहने लगा यानी वह अपना पेट भर सकता है। पेट भर सकता है यानी विवाह की उम्र हो गई।' पेट पर कुकूं लगाने से विवाह करने तक अनेक रिवाज।

हम कौन है?

सवाल यह है कि आखिर हम हैं कौन? मुझे क्यों ऐसा लगा कि यही धम्म स्वीकार किया जाए? क्योंकि वह मेरा अपना है। वह दूसरों का हो ही नहीं सकता। मैं सबसे पहले इस घर का मालिक हूं। जब हम गांव के पास रहने लगे तो स्कूल में बच्चे को प्रवेश के लिए ले गए। पूछा गया-आपकी जाति क्या है? वडार। शिक्षक लिखता जाता है। हिन्दू वडार, हिन्दू कैकाड़ें, हिंदू डवरी, हिन्दू जोशी। अगर मैं हिन्दू हूं तो चातुवर्ण में मेरा स्थान क्यों नहीं होना चाहिए? मैं हिन्दू हूं तो मुझे ब्राह्मण होना चाहिए, मुझे क्षत्रिय होना चाहिए। मुझे वैश्य होना चाहिए, मुझे शूद्र होना चाहिए। मुझे अतिशूद्र होना चाहिए। अगर मैं इनमें से किसी भी वर्ण में हूं ही नहीं तो फिर मैं तुम्हारा कैसे हुआ?

सवाल फिर वहीं का वहीं है, हम कौन हैं? हम हिन्दू नहीं हैं। हमारी 42 जनजातियों में पिछले दरवाजे से अनेक जनजातियों ने घुसपैठ की है। उन्हें अब उसी तरह बाहर जाना होगा, जैसे वे भीतर आईं थी।

अस्पृश्यता तो काफी बाद में अस्तित्व में आई, मगर उसकी पराकाष्ठा हो

गई है। बाबासाहब (आंबेडकर) ने हमें बताया है, अस्पृश्यता क्यों अस्तित्व में आई, कैसे आई? बाबासाहब ने कहा, जो टोलियां आज युद्ध करती हैं वे कल भी युद्ध ही करती थीं। उन्हें कभी गांवों ने अपना हिस्सा नहीं बनाया। 'दे आर नॉट पार्ट ऑफ द विलेज सिस्टम' (वे ग्रामीण व्यवस्था का हिस्सा नहीं हैं) आखिर हम लोग कौन हैं? आज भी पारधी गांव का सदस्य नहीं होता। उसे गांव में शामिल नहीं किया गया है। इसलिए मैंने शरद पवार से कहा था, आपका गांव मुझे स्वीकार करने को तैयार नहीं है। इसके लिए आपको मुझे शुभकामनाएं देनी चाहिए, और उन्होंने मुझे शुभकामनाएं दी भी। जब गांव ही स्वीकार करने को तैयार नहीं है तो बेघरों की व्याख्या क्या होगी? बेघर यानी वही न जिसका अपना कोई घर नहीं है। मगर नहीं ऐसा नहीं है। कानून कहता है – जो व्यक्ति तीन साल से अधिक समय तक किसी एक गांव में रहता है और यदि उसके पास अपना कोई घर नहीं है तो वह हुआ बेघर। कलेक्टर कहता है, आप लोगों के पास घर नहीं है। यह मुझे मालूम है। मैं देख भी रहा हूं। मगर मैं आप लोगों को घर दे नहीं सकता! क्योंकि सरकार तीन साल तक बेघर होने का प्रमाणपत्र मांगती है। क्या कोई पटवारी, पाटिल मुझे ऐसा प्रमाणपत्र देगा? अरे वह तो मेरा नाम ही दर्ज नहीं करेगा। 58 साल बाद भी हम मतदाता नहीं हैं। हमारा कोई स्वतंत्र निर्वाचन क्षेत्र नहीं है। मैंने कलेक्टर महोदय से कहा, आप जरा ठीक से पड़ताल करें। अगर हम 'टनईबल' हैं तो टनईबल की सूची में डाल दें। हम अस्पृश्य हैं तो अस्पृश्यों की सूची में जगह दे दें। अगर दोनों में ही नही हैं तो ओबीसी में शामिल कर लें। कुछ तो करें। मगर वे कुछ भी नहीं करते।

जाधव को टिकट

बाबासाहब ने उत्तर सोलापुर से हमारे जाधव नाम के एक व्यक्ति को शेड्यूल कास्ट फेडरेशन का टिकट दिया था। यह अलग बात है कि हमारा उम्मीदवार चुनाव हार गया। मगर बाबासाहब ने हमें टिकट दिया तो था। हम उस वक्त शेड्यूल कास्ट में थे या नहीं? अरे, हमारे बाप के जाने के बाद हमारा संबंध खत्म हुआ। 1956 में बाबा साहब का निधन हुआ और 1957 के चुनाव में हम 'गायब' हो गए। अगर बाबासाहब होते तो इस तरह हमें कोई न गायब करता, न गड्ढे में डाल सकता था। 1956 में बाबासाहब गए और 57 में हमें उड़ा दिया गया। आखिर क्यों? यह सवाल मैं आज ही नहीं पूछ रहा हूं, बल्कि पिछले 25-30 सालों से पूछ रहा हूं। घुमंतु-विमुक्त लोगों की तीसरी सूची

'थाडे कमीशन' के कारण ही बन पाई। बाबासाहब न होते तो 'थाडे कमीशन' भी न बना होता। और घुमंतु-विमुक्त लोगों की तीसरी सूची भी न बनी होती। यह काम छत्रपति शिवाजी महाराज, राष्ट्रपिता महात्मा ज्योतिराव फुले, राजर्षि शाहू महाराज और डॉ. बाबासाहब आंबेडकर का नाम लेने वाले प्रगतिशील महाराष्ट्र में किया गया।

विदर्भ के 10 जिलों में हम शेड्यूल्ड कास्ट में हैं और बाकी महाराष्ट्र में हम सवर्ण हैं। किसने बनाया था ऐसा कानून? एक ही राज्य में एक व्यक्ति स्पृश्य भी और अस्पृश्य भी। क्या धर्म में ऐसी सुविधा है? एक शास्त्री महोदय से एक बार मेरी खूब बहस हो गई। आखिर हम किस वर्ग के लोग हैं? वे बोले, 'आप अवर्ण हैं।' शब्दों की कमी नहीं है। जाति ही अनेक शब्दों को हमारे जन्म से जोड़ देती है। मैं बोला, 'आखिर, निश्चित रूप से हम क्या हैं?' वह बोले, 'जैसे परधर्मिय लोग होते हैं। जैसे म्लेच्छ, मुसलमान, ईसाई। उसी तरह आप लोगों का वर्णन वेदों में किया गयाा है।'

इसलिए जिन लोगों ने हमें मनुष्य ही नहीं समझा। उनके मुंह पर थूक कर अब हम तथागत की शरण में चल पड़े हैं। जो हमें इन्सान नहीं समझती वह संस्कृति है? मैं इसे संस्कृति नहीं, विकृति कहता हूं। बाबासाहब ने उसे 'बदफैली' (दुश्चरित्र) कहा था। यह व्यवस्था मंदिर का निर्माण होने तक ही हमारे साथ मीठी-मीठी बातें करती है। उनके बाप-दादाओं ने कभी भारी-भारी पत्थर उठाए थे? उनके देवों को जन्म देने वाले भी हम ही लोग हैं। मंदिर में देवता की स्थापना होने तक हमारे साथ बड़ा अच्छा सलूक किया जाता है। ब्राह्मण आता है। पानी डालता है और कहता है 'चल बाहर जा'। क्या एक किले का निर्माण भी उन्होंने किया है? एक दुर्ग बनाया है? देश में एक भी मंदिर का निर्माण किया है? गांव का कोई व्यक्ति बता दे, जिसे इस संबंध में कुछ भी मालूम है? खजुराहो के मंदिर हों, ताजमहल या फिर अजंता की गुफाएं। उनका निर्माण किया होगा वडार पत्थर फोड़ने (संगतराश) वालों ने ही। संगतराशी करने वाली जनजाति है ये। वह जाति विस्थापित है। उसका कोई गांव नहीं है। कोई नाम नहीं है। कोई हत्या कर दे तो जेल में पत्थर तोड़ने की सजा दी जाती है। यानी अपराधी को पत्थर तोड़ने की सजा। हम तो जन्म से ही पत्थर तोड़ते रहते हैं। जाति का व्यवसाय ही है पत्थर तोड़ना। किसी ने कभी किया है यह व्यवसाय? तुम्हारा-हमारा कोई संबंध ही नहीं है। अगर कोई संबंध होता तो तुम्हारे मंदिर का जो निर्माता है उसे एक घर तो दिया ही होता। गांव के पाटिल का घर बनाते हैं हम लोग। घर बनने तक पाटिल भी मीठा-

मीठा बोलता है। और घर बनते ही हमें भगा देता है। कभी पाटिल को महसूस हुआ कि जिस देवता को वह रोज पूजता है उसका निर्माण किसी वडार ने अपनी मेहनत से खून-पसीना बहाकर किया है? कभी यह नहीं लगा कि उस वडार की पूजा की जानी चाहिए? इतना भव्य ताजमहल बनाया गया है। उसके शिल्पकार का कहीं नाम है कहीं? नहीं। नाम हो भी नहीं सकता। सड़क पर से गुजरती तो सभी लोगों की गाड़ियां हैं, मगर इसका निर्माण करने वाले कौन लोग होते हैं?

मैं जब छोटा था, तब शर्ट उतारकर रास्ता साफ करने का खेल खेलते-खेलते काला-कलूटा हो जाता था। हम खेलते भी कहां थे? डामर की सड़क पर। इसी डामर की सड़क के एक किनारे पर हमारे विवाह हो जाते हैं। बच्चों के जन्म हो जाते हैं। जेल में भी हमारा जन्म होता है।

हम सब एक हैं!

ऐसा अन्याय दुनिया में किसी भी धर्म ने, किसी के भी साथ नहीं किया होगा। इतना निकृष्ट दर्जे का व्यवहार हमारे साथ किया गया। इसलिए मैं कभी उनकी आलोचना नहीं करता। जब मैं पैंथर (दलित पैंथर) में था, तब आलोचना किया करता था। जिस पत्नी के साथ रहना ही नहीं है, उसके चरित्र के बारे में चर्चा ही क्यों की जाए? उसे छोड़ने का फैसला हमने कर लिया है। मैं अपने नए रास्ते की ओर बढ़ रहा हूं। हम जिस रास्ते पर चल रहे हैं वह जरा कठिन जरूर है, जिम्मेदारी भी बड़ी है। बाबासाहब ने जो इच्छा व्यक्ति की थी, उसे पूरा करने का प्रयास कर रहा हूं। मैं अपने लोगों को बताता रहता हूं कि हम ऐसा व्यवहार न करें, कोई ऐसा काम न करें, जिससे हमारे गुरू के आदेशों का उल्लंघन हो, उनका अपमान हो। प्रतिज्ञा करें कि हम अपने जीवन में ऐसा एक भी काम नहीं करेंगे, जिससे उनकी परायज हो। एक भी ऐसा काम न करें कि धम्म में आने वाले लोग वहीं ठिठक जाएं, रूक जाएं। मुझे हमेशा यह बताया जाता है कि 'उनके बीच' (बुद्ध के अनुयायियों के बीच) बहुत विवाद हैं। बहुत झगड़े हैं। तो क्या हम अपनी अलग दुकान खोल लेंगे? मेरा जवाब था, 'नहीं वहां जाकर हमें अपनी अलग दुकान नहीं खोलनी है।' हम अपनी कोई दुकान खोलेंगे भी नहीं। हां, मैं कभी भी आरपीआई (रिपब्लिकन पार्टी) में नहीं जाऊंगा। राजनीति में रहूंगा, मगर मैं तुम सबके साथ रहूंगा। धम्म में रहकर कोई विवाद, कोई झगड़ा नहीं करूंगा। हम क्या बाबासाहब के लिए लड़ते हैं? क्या बाबासाहब हमारे मतभेद का मुद्दा हैं? न, बाबासाहब हमारे

मतभेद का मुद्दा नहीं हैं। उसी तरह धम्म भी हमारे मतभेद का मुद्दा नहीं होना चाहिए, रामदास आठवले हों, गवई हों, लक्ष्मण माने हों, कोई भी हों। अब हम सब एक हैं! एक कतार में खड़े रहने वाले।

जागृति धीरे-धीरे

मातंग समाज के लोग विपुल संख्या में मेरे साथ आ रहे हैं। उन्होंने कहा, हमारे राजनीतिक नेता कुछ भी करें, हम तुम्हारे साथ आएंगे। अब हमें और इस कूड़ाघर में नहीं रहना है। मातंग समाज के साथ ही होलार समाज भी हमारे साथ आने को तैयार हो गया है। लोग धीरे-धीरे जागृत हो रहे हैं। ये वही लोग हैं जो सताए हुए हैं, ठगे हुए है। परेशान हैं। मैं धर्मांतरण करने वाला हूं। इसलिए कुछ लोग मुझसे नाराज हैं। ऐसे लोगों से शरदराव (पवार) ने बहुत अच्छा सवाल किया। उन्होंने पूछा-वह तुम्हारा क्या लेकर जा रहे हैं? आप लोगों ने उन्हें क्या दिया? वे किस ओर जा रहे हैं? तथागत की दिशा में। बुद्ध के रास्ते पर जा रहे हैं बाबासाहब के रास्ते पर चले हैं।

मैं तमाम गांवों के पाटिलों को बताना चाहता हूं कि मेरे आधे रिश्तेदार मराठा समाज में हैं। मैंने 35 साल पहले मराठा समाज की एक लड़की से विवाह किया था। बच्चे बड़े हुए, उन्होंने भी अंतर्जातीय विवाह किए, बेटे ने मराठा समाज की युवती से विवाह किया और बेटी ने माली समाज के लड़के से शादी की। लक्ष्मण माने ने जाति नाम के बंधन को एस.एम. जोशी के साथ ही राष्ट्र सेवादल में रहते हुए छोड़ दिया था। मेरे पीछे जाति का तमगा कहीं नहीं है। इसीलिए 42 जातियों का कामकाज, संगठन मैं चला सका हूं। अगर गलती से भी मेरे दिमाग में जाति का कीड़ा होता तो ये 42 जनजातियां मेरे पीछे कभी एक साथ खड़ी नहीं हो पातीं।

घर दिलाने का सपना

आज तक जो लोग बेघर रहे हैं, वे हमारे साथ चलने को तैयार हैं। ऐसे लोगों को उनका घर दिलाने का हमारा सपना है। जिम्मेदारी बहुत बड़ी है। इसलिए अब केवल बातों से काम नहीं चलेगा। अब हर किसी के मन में, गांव के कम से कम चार मकान तो खड़े करने ही होंगे। घर कोई स्लैब के नहीं बनाने हैं। मकान कच्चा ही होगा। और उसके लिए लगने वाला सामान यहां के प्रस्थापित लोग तो दे ही सकते हैं। केवल दिल बड़ा करना होगा। इन प्रस्थापित लोगों को उन लोगों से कहना होगा, तू यहीं रह। बच्चों को स्कूल भेज। हम तुझे

सहायता करेंगे।

इस समाज में शिक्षा का प्रतिशत शून्य है। 0.6 प्रतिशत तो शून्य ही हुआ न। यह देश इस समाज के एक प्रतिशत लोगों को भी शिक्षा नहीं दे सका। हमें अब उनकी प्राथमिक शिक्षा शुरू करनी है। उसके लिए हमें 'ज्ञान के वटवृक्ष' के नीचे जाना होगा। बाबासाहब जैसे वटवृक्ष के अलावा दूसरा कोई हमारे पीछे नहीं है। उन्होंने संविधान की रचना इसीलिए की कि सबको साथ लेकर चलेंगे। संविधान के फंडामेंटल राइटस पढ़ने के बाद समझ में आता है कि इस महान व्यक्ति ने सभी लोगों को मुक्ति दी। गुलामी को तिलांजलि दी। हजारों सालों से इस देश की महिलाएं गुलाम थीं। चाहे ब्राह्मणों की महिलाएं ही क्यों न हों। बाबासाहब ने एक झटके में सारी महिलाओं को मुक्त कर दिया।

बाबासाहब कहते थे, 'सामने ईश्वर भी आ जाए तो उसके चरणों पर मत गिरो। उससे पूछो इतने दिन कहां थे बता, इतने दिन तक किसके पीछे छिपकर बैठा था। उसका नाम बता। उन्हें हम देखते हैं।' दरअसल, हम देवी-देवता के चक्कर में पड़ने वाले लोग ही नहीं हैं। हम सौ प्रतिशत तुम्हारे साथ ही रहेंगे। आपको भी सौ प्रतिशत हमारे साथ ही रहना चाहिए। जो भी आएंगे, उनके साथ केवल भटके-विमुक्त, दलित, ओबीसी, बहुजन समाज के सारे लोगों को साथ लेकर चलना है। क्योंकि हमारा नायक देश का नायक है। उस नायक ने इस देश के हजारों सालों से वंचित समाज को उनके अधिकार दिलाए हैं।

बाप्या कैकाड़े का बेटा

ऐसे महानायक के साथ, उसके समुदाय में जाने का फैसला हमने किया है। ये फैसला कोई आसान नहीं है, बहुत मुश्किल है। आज मेरे शरीर पर जो वस्त्र हैं, वह मुझे बाबासाहब ने दिए हैं इसका आभास हर किसी को होना चाहिए। दूसरा कोई हमारा मुक्तिदाता नहीं है। आज भी मेरी गाड़ी के गांव में पहुंचते ही स्टैंड पर बैठी चंडाल-चैकड़ी कहती है – देख, बाप्या कैकाड़े का बेटा आया है। उनकी दृष्टि में इसका कोई महत्व नहीं है कि मै विधायक हूं, साहित्यकार हूं या सामाजिक कार्यकार्ता हूं। मेरे पिता का नाम था बापू। मगर वे उसे बापू नहीं कहेंगे। इतनी जोर से कहेंगे, बाप्या कैकाड़े का बेटा, कि मुझे साफ-साफ सुनाई दे। मैं उन्हें बताने वाला हूं कि बाप्या कैकाड़े की गाड़ी अब गांव में आ गई है। अभी भी कितने बापू कैकाड़े रास्ते के किनारे मर रहे हैं। अभी भी अनेक लक्ष्मण माने रास्ते के किनारे पड़े हैं। उन्हें मैं धम्म का रास्ता दिखाऊंगा। मैं अपने कुछ मित्रों के कारण ही खड़ा हो पाया हूं। यहां तक आ

सका हूं। मेरे मास्टर के कारण मैं लिख-पढ़ सका। जिसके कारण मैं खड़ा रहा सका, उनके प्रति मैं कृतज्ञता व्यक्त करता हूं।

जाति को जाना होगा

मेरी इच्छा बस यही है कि मेरा समाज मुख्य प्रवाह में आ जाए। गांव के पास की भूमि, हगनहटी में रहने वाले लोग फिर एक बार स्थापित हो जाएं, उन्हें नागरिकता मिल जाए। 58 साल बाद मतदान का अधिकार मिल जाए। फिर से लोकतांत्रिक प्रक्रिया में वे शामिल जा जाएं और जाति हमेशा के लिए नष्ट हो जाए। जाति से उच्च और जाति से ही नीच होना कितना भयंकर है, वैसे ही जाति से बहुसंख्यक और जाति के आधार पर ही अल्पसंख्यक होना भी लोकतंत्र की दृष्टि से बहुत मारक है। बहुत घातक है। जो जाति के आधार पर बहुसंख्यक हैं वे हमेशा बहुसंख्यक ही रहेंगे। जो जाति के आधार पर अल्पसंख्यक हैं वे हमेशा अल्पसंख्यक ही रहेंगे। बाबासाहब ने कहा था, अल्पसंख्यक जातियों को यह ध्यान में रखना है कि एक दिन उन्हें इस देश की बहुसंख्यक जाति बनना है। मेरा प्रयास 'बहुसंख्यक होने' का है। हमें अपनी जातिगत अस्मिता को अलग रखना होगा। बाबासाहब आंबेडकर ही हमारा एकमेव पिता है। वही एक हमारी शक्ति है। वही एक निशान और एक ही हमारी जाति। एक ही बहुसंख्यक जाति हमें बनानी है। इस देश में जो बहुसंख्यक हैं वही अल्पसंख्यक हैं और जो अल्पसंख्यक हैं वह बहुसंख्यक हैं। केवल मुट्ठीभर लोग ही प्रधानमंत्री बन सकते हैं। हमारे बहुसंख्यक समाज में से कोई प्रधानमंत्री नहीं बन सकता। उसका एकमात्र कारण है जाति। जाति उनकी प्रगति के आड़े आ खड़ी होती है। जिन लोगों को जाति छोड़नी है वही तथागत के रास्ते पर आएं।

अब इसके बाद महाराष्ट्र में गधों के काफिले, घोड़ों के काफिले, गाय-भैंस के समूह, नंदी बैलों के समूह पेट के लिए मारे-मारे नहीं फिरेंगे। पहले हम जटा काटा करते थे। मगर अब हम काफिलों को बंद कर देंगे। आइए, उनके जीवन को स्थिरता प्रदान करें। इसके बाद, भटके-विमुक्त लोगों को 'अपने पेट को हाथ में लेकर' घुमना न पड़े, हम इसकी व्यवस्था करें। हिंदुओं के सानिध्य के कारण अनुकरण का रोग हमें भी लग चुका है और अनेक रीति-रिवाज भटके-विमुक्त जातियों में घुस आए हैं। इन जातियों में अवस्थित आदिम साम्यवाद (primitive socialism) का मुख्य रूप से बखान करना, समतावादी समूहों की इस बुनियाद का उपयोग समता पर आधारित समाज के

निर्माण के लिए करना और उसके लिए तथागत भगवान गौतम बुद्ध का मार्ग स्वीकार करना ही अब मेरे धम्म प्रचार का मुद्दा है। उसके लिए संबंधों (primitive life) की पड़ताल गैर ब्राह्मणी तरीके से करनी जरूरी है। भारत के आदीवासी जीवन के इतिहास को नए सिरे से और आंबेडकर दृष्टि से प्रस्तुत करने की जरूरत है। आदिम जाति का अध्ययन कर ऐसा विश्लेषण पेश करने की जरूरत है जो तथागत भगवान गौतम बुद्ध के रास्ते पर जाने के लिए देश की आदिम जनजातियों और भटके-विमुक्त सभी का पथप्रदर्शन कर सके। विचारकों और संशोधकों को आंबेडकरी दृष्टि से सामग्री जुटाकार अपन पूर्व इतिहास लिखना होगा। यह कदाचित बाबासाहब का 'नवयान' होगा। वह 'हीनयान' नहीं होगा। वह 'महायान' नहीं होगा। वह 'वज्रयान' भी नहीं होगा। वह बाबासाहब का 'नवयान' होगा। वह 'ओरिजनल बुद्ध' की ओर जाने वाला और दुनिया का परिचय 'सोलह आने शुद्ध बुद्ध' से कराने वाला नवयान होगा।

- सितंबर, 2007

अध्याय – 20

पेरियार की दृष्टि में रामकथा

सुरेश पंडित

राम हिन्दुओं के लिये आदर्श महापुरुष ही नहीं परम पूजनीय देवता भी हैं। उनके जीवन को लेकर जितनी बड़ी संख्या में हिन्दी संस्कृत के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं में रामकाव्य लिखा गया है वह उनको अतिमानवीय तो प्रदर्शित करता ही है, दुनिया भर के सारे अनुकरणीय गुणों से सम्पन्न भी दिखाता है। यदि कोई समस्त श्रेष्ठ विशेषणों से विभूषित धीरोदात्त नायक की छवि को अविकल रूप में देखना चाहता है तो उसकी यह इच्छा राम पर लिखे किसी भी महाकाव्य को पढ़ कर पूरी हो सकती है। इसलिये उन पर लिखे गये काव्यों को न केवल भक्ति भाव से पढ़ा व सुना ही जाता है बल्कि उनके चरित्र की रंगमंच प्रस्तुति को भाव विभोर होकर देखा भी जाता है। लेकिन ऐसे भी लोग हैं और उनकी संख्या निश्चय ही नगण्य नहीं है, जो राम के इस महिमा मंडन से अभिभूत नहीं होते और उनकी सर्वश्रेष्ठता को चुनौती देते हैं। उन्हें लगता है कि राम को पुरुषोत्तम के रूप में प्रतिष्ठित करने की हठीली मनोवृत्ति ने जान बूझकर उनके आसपास विचरने वाले चरित्रों को बौना बनाया है, साथ ही उनका विरोध करने वालों को दुनिया की सारी बुराइयों का प्रतीक बनाकर लोगों की नजरों में घृणास्पद भी बना दिया है। ऐसे लोग जब पत्र-पत्रिकाओं या पुस्तकों के जरिये अपनी बात रखने लगते हैं तो उन्हें नास्तिक, धर्मद्रोही एवं बुराई के प्रतीक रावण का वंशज घोषित कर उनकी आवाज को दबाने की कोशिश की जाती है और अधिसंख्य हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं को आहत करने की कुचेष्टा बताकर प्रतिबन्धति कर दिया जाता है।

लेकिन सारे खतरों का मुकाबला करते हुए भी लोग अपनी बात कहने से चूकते नहीं। राम के आदर्श चरित्र का गुणगान करने वाली सैकड़ों रामकथाओं के बरक्स कई ऐसी किताबें आई हैं या आ रही हैं जो रामायण की अपने ढंग से

व्याख्या करती हैं और राम के विशालकाय व्यक्तित्व के सामने निरीह या दुष्ट बनाये गये चरित्रों की व्यथा कथा कहती हैं। राम के चरित्रगत दोषों को उजागर कर वे इन उपेक्षित, उत्पीड़ित लोगों के अपने प्रति हुए अन्यायों, अत्याचारों को सामने रखती हैं। ऐसी ही एक किताब का नाम है 'सच्ची रामायाण', जिसे 14 सितम्बर 1999 को महज इस वजह से इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने अस्थायी तौर पर प्रतिबंधित कर दिया था क्योंकि वह अधिकतर अन्य रामायणों की तरह राम के विश्ववन्द्य स्वरूप को ज्यों का त्यों प्रस्तुत नहीं करती।

इस रामायण के मूल लेखक हैं ई. वी. रामास्वामी पेरियार जो 1879 में जन्मे और 1973 तक जीवित रहे। वह एक सक्रिय स्वाधीनता सेनानी, कट्टर नास्तिक, प्रखर समाजवादी चिन्तक, नशाबन्दी के घनघोर समर्थक और क्रांतिकारी समाज सुधारक थे। उन्होंने, अस्पृश्यता, जमींदारी, सूदखोरी, स्त्रियों के साथ भेदभाव तथा हिन्दी भाषा के साम्राज्यवादी फैलाव के विरुद्ध आजीवन पूरे दमखम के साथ संघर्ष किया। कांग्रेस के राष्ट्रीयतावाद को वह मान्यता नहीं देते थे तथा गांधी जी के सिद्धांतों को प्रच्छन्न ब्राह्मणवाद बताते हुए उनकी तीखी आलोचना करते थे। वह द्रविड़ों के अविवाद्य रहनुमा तो थे ही दक्षिण में तर्क बुद्धिवाद के अनन्य प्रचारक व प्रसारक भी थे। संक्षेप में यदि उन्हें दक्षिण का अम्बेडकर कहा जाय तो शायद ही किसी को कोई आपत्ति हो। 1925 में उन्होंने 'कुडियारासु' (गणराज्य) नामक एक समाचार पत्र तमिल में निकालना शुरू किया। 1926 में 'सैल्फ रेस्पेक्ट लीग' की स्थापना की और 1938 में जस्टिस पार्टी को पुनर्जीवित किया। 1941 में 'द्रविडार कषगम' के झण्डे तले उन्होंने सारी ब्राह्मणेत्तर पार्टियों को इकट्ठा किया और मृत्युपर्यन्त समाजसुधार के कार्यों में पूरी निष्ठा के साथ जुटे रहे।

लगभग 50 साल पहले उन्होंने तमिल में एक पुस्तक लिखी जिसमें वाल्मीकि द्वारा प्रणीत एवं उत्तर भारत में विशेष रूप से लोकप्रिय रामायण की इस आधार पर कटु आलोचना की कि इसमें उत्तर भारत आर्य जातियों को अत्यधकि महत्व दिया गया है और दक्षिण भारतीय द्रविड़ों को क्रूर, हिंसक, अत्याचारी जैसे विशेषण लगाकर न केवल अपमानित किया गया है बल्कि राम-रावण कलह को केन्द्र बनाकर राम की रावण पर विजय को दैवी शक्ति की आसुरी शक्ति पर, सत्य की असत्य पर और अच्छाई की बुराई पर विजय के रूप में गौरवान्वित किया गया है। इसका अंग्रजी अनुवाद 'द रामायण : ए ट्रू रीडिंग' के नाम से सन 1969 में किया गया। इस अंग्रेजी अनुवाद का हिन्दी में रूपान्तरण 1978 में 'रामायण : एक अध्ययन' के नाम से किया।

उल्लेखनीय है कि ये तीनों ही संस्करण काफी लोकप्रिय हुए। क्योंकि इसके माध्यम से पाठक अपने आदर्श नायक-नायिकाओं के उन पहलुओं से अवगत हुए जो अब तक उनके लिये वर्जित एवं अज्ञात बने हुए थे। ध्यान देने योग्य तथ्य यह सामने आया कि इनकी मानवोचित कमजोरियों के प्रकटीकरण ने लोगों में किसी तरह का विक्षोभ या आक्रोश पैदा नहीं किया बल्कि इन्हें अपने जैसा पाकर इनके प्रति उनकी आत्मीयता बढ़ी और अन्याय, उत्पीड़न ग्रस्त पात्रों के प्रति सहानुभूति पैदा हुई।

लेकिन जो लोग धर्म को व्यवसाय बना राम कथा को बेचकर अपना पेट पाल रहे थे, उनके लिये यह पुस्तक आंख की किरकिरी बन गई। क्योंकि राम को अवतार बनाकर ही वे उनके चमत्कारों को मनोग्राह्य और कार्यों को श्रद्धास्पद बनाये रख सकते थे। यदि राम सामान्य मनुष्य बन जाते हैं और लोगों को कष्टों से मुक्त करने की क्षमता खो देते हैं तो उनकी कथा भला कौन सुनेगा और कैसे उनकी व उन जैसों की आजीविका चलेगी। इसीलिये प्रचारित यह किया गया कि इससे सारी दुनिया में बसे करोड़ो राम भक्तों की भावनाओं के आहत होने का खतरा पैदा हो गया है। इसलिए इस पर पाबन्दी लगाया जाना जरूरी है। और पाबन्दी लगा भी दी गई। लेकिन उसी न्यायालय ने बाद में अस्थायी प्रतिबंध को हटा दिया और अपने फैसले में स्पष्ट कहा – 'हमें यह मानना संभव नहीं लग रहा है कि इसमें लिखी बातें आर्य लोगों के धर्म को अथवा धार्मिक विश्वासों को चोट पहुंचायेंगी। ध्यान देने लायक तथ्य यह है कि मूल पुस्तक तमिल में लिखी गई थी और इसका स्पष्ट उद्देश्य तमिल भाषी द्रविड़ों को यह बताना था कि रामायण में उत्तर भारत के आर्य – राम, सीता, लक्ष्मण आदि का उदात्त चरित्र और दक्षिण भारत के द्रविड़-रावण, कुंभकरण, शूर्पणखा आदि का घृणित चरित्र दिखला कर तमिलों का अपमान किया गया है। उनके आचरणों, रीति रिवाजों को निन्दनीय दिखलाया गया है। लेखक का उद्देश्य जानबूझकर हिन्दुओं की भावनाओं को ठेस पहुंचाने के बजाय अपनी जाति के साथ हुए अन्याय को दिखलाना भी तो हो सकता है। निश्चय ही ऐसा करना असंवैधानिक नहीं माना जा सकता। ऐसा करके उसने उसी तरह अपनी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के संवैधानिक अधिकार का उपयोग किया है जैसे रामकथा प्रेमी आर्यों को श्रेष्ठ बताकर करते आ रहे हैं। इस तरह तो कल दलितों का वह सारा साहित्य भी प्रतिबंधित हो सकता है जो दलितों के प्रति हुए अमानवीय व्यवहार के लिये खुल्लम-खुल्ला सवर्ण लोगों को कठघरे में खड़ा करता है।'

पेरियार की इस पुस्तक को तमिल में छपे लगभग 50 साल और हिन्दी, अंग्रेजी में छपे लगभग तीन दशक हो चले हैं। अब तक इसके पढ़ने से कहीं कोई हिंसक प्रतिक्रिया नहीं दर्ज है। फिर अब ऐसी कौन सी नई परिस्थितियां पैदा हो गई हैं कि इससे हिन्दू समाज खतरा महसूस करने लगा है? यह कैसे हो सकता है कि संविधान लोगों को धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार तो दे परन्तु धर्म के बारे में कुछ भी पढ़ने व जानने के अधिकार पर अंकुश लगा दे। यह कैसे न्यायसंगत हो सकता है कि लोग रामायण, महाभारत, गीता आदि धार्मिक ग्रन्थों को तो पढ़ते रहें पर उनकी आलोचनाओं को पढ़ने से उन्हें रोक दिया जाय। जहां तक जनभावनाओं का सवाल है इसका इकरतफा पक्ष नहीं हो सकता। यदि राम और सीता की आलोचना से लोगों को चोट लगती है तो शूद्रों, दलितों व स्त्रियों के बारे में जो कुछ हिन्दू धर्म ग्रन्थों में लिखा गया है क्या उससे वे आहत नहीं होते? यह बात भी विचारणीय है।

वस्तुतः पेरियार की 'सच्ची रामायण' ऐसी अकेली रामायण नहीं है जो लोक प्रचलित मिथकों को चुनौती देती है और रावण के बहाने द्रविड़ों के प्रति किये गये अन्याय का पर्दाफाश कर उनके साथ मानवोचित न्यायपूर्ण व्यवहार करने की मांग करती है। दक्षिण से ही एक और रामायण अगस्त 2004 में आई है जो उसकी अन्तर्वस्तु का समाजशास्त्रीय विश्लेषण करती है और पूरी विश्वासोत्पादक तार्किकता के साथ प्रमाणित करती है कि राम में और अन्य राजाओं में चरित्रिक दृष्टि से कहीं कोई फर्क नहीं है। वह भी अन्य राजाओं की तरह प्रजाशोषक, साम्राज्य विस्तारक और स्वार्थ सिद्धि हेतु कुछ भी कर गुजरने के लिये सदा तत्पर दिखाई देते हैं। परन्तु यहां हम पेरियार की नजरों से ही बाल्मीकि की रामायण को देखने की कोशिश करते हैं।

वाल्मीकि रामायण में अनेक प्रसंग ऐसे हैं जो तर्क की कसौटी पर तो खरे उतरते ही नहीं। जैसे वह कहती है कि दशरथ 60 हजार बरस तक जीवित रह चुकने पर भी कामवासना से मुक्त नहीं हो पाये। इसी तरह वह यह भी प्रकट करती है कि उनकी केवल तीन ही पत्नियां नहीं थी। इन उद्धरणों के जरिये पेरियार दशरथ के कामुक चरित्र पर से तो पर्दा उठाते ही हैं यह भी साबित करते हैं कि उस जमाने में स्त्रियां केवल भोग्या थीं। समाज में इससे अधिक उनका कोई महत्व नहीं था। दशरथ को अपनी किसी स्त्री से प्रेम नहीं था। क्योंकि यदि होता तो अन्य स्त्रियों की उन्हें आवश्यकता ही नहीं होती। सच्चाई यह भी है कि कैकेयी से उनका विवाह ही इस शर्त पर हुआ था कि उससे पैदा होने वाला पुत्र उनका उत्तराधकिारी होगा। इस शर्त को नजरन्दाज करते हुए

जब उन्होंने राम को राजपाट देना चाहा तो वह उनका गलत निर्णय था। राम को भी पता था कि असली राजगद्दी का हकदार भरत है, वह नहीं। यह जानते हुए भी वह राजा बनने को तैयार हो जाते हैं। पेरियार के मतानुसार यह उनके राज्यलोलुप होने का प्रमाण है।

कैकेयी जब अपनी शर्तें याद दिलाती है और राम को वन भेजने की जिद पर अड़ जाती है तो दशरथ उसे मनाने के लिये कहते हैं – 'मैं तुम्हारे पैर पकड़ लेने को तैयार हूं यदि तुम राम को वन भेजने की जिद को छोड़ दो।' पेरियार एक राजा के इस तरह के व्यवहार को बहुत निम्नकोटि का करार देते हैं और उन पर वचन भंग करने तथा राम के प्रति अन्धा मोह रखने का आरोप लगाते हैं।

राम के बारे में पेरियार का मत है कि वाल्मीकि के राम विचार और कर्म से धूर्त थे। झूठ, कृतघ्नता, दिखावटीपन, चालाकी, कठोरता, लोलुपता, निर्दोष लोगों को सताना और कुसंगति जैसे अवगुण उनमें कूट-कूट कर भरे थे। पेरियार कहते हैं कि जब राम ऐसे ही थे और रावण भी ऐसा ही था तो फिर राम अच्छे और रावण बुरा कैसे हो गया?

उनका मत है कि चालाक ब्राह्मणों ने इस तरह के गैर ईमानदार, निर्वीर्य, अयोग्य और चरित्रहीन व्यक्ति को देवता बना दिया और अब वे हमसे अपेक्षा करते हैं कि हम उनकी पूजा करें। जबकि बाल्मीकि स्वयं मानते हैं कि राम न तो कोई देवता थे और न उनमें कोई दैवी विशेषताएं थी। लेकिन रामायण तो आरम्भ ही इस प्रसंग से होती है कि राम में विष्णु के अंश विद्यमान थे। उनके अनेक कृत्य अतिमानवीय हैं। जैसे उनका लोगों को शापमुक्त करना, जगह-जगह दैवी शक्तियों से संवाद करना आदि। क्या ये काम उनके अतिमानवीय गुणों से संपन्न होने को नहीं दर्शाते?

उचित प्यार और सम्मान न मिलने के कारण सुमित्रा और कौशल्या दशरथ की देखभाल पर विशेष ध्यान नहीं देतीं थी। बाल्मीकि रामायण के अनुसार जब दशरथ की मृत्यु हुई तब भी वे सो रही थीं और विलाप करती दासियों ने जब उन्हें यह दुखद खबर दी तब भी वे बड़े आराम से उठकर खड़ी हुई। इस प्रसंग को लेकर पेरियार की टिप्पणी है – 'इन आर्य महिलाओं को देखिये! अपने पति की देखभाल के प्रति भी वे कितनी लापरवाह थी।' फिर वे इस लापरवाही के औचित्य पर भी प्रकाश डालते हैं।

पेरियार राम में तो इतनी कमियां निकालते हैं किन्तु रावण को वे सर्वथा दोषमुक्त मानते हैं। वे कहते हैं कि स्वयं बाल्मीकि रावण की प्रशंसा करते हैं

और उनमें दस गुणों का होना स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार रावण महापंडित, महायोद्धा, सुन्दर, दयालु, तपस्वी और उदार हृदय जैसे गुणों से विभूषित था। जब हम बाल्मीकि के कथनानुसार राम को पुरुषोत्तम मानते हैं तो उसके द्वारा दर्शाये इन गुणों से संपन्न रावण को उत्तम पुरुष क्यों नहीं मान सकते? सीताहरण के लिए रावण को दोषी ठहराया जाता है लेकिन पेरियार कहते हैं कि वह सीता को जबर्दस्ती उठाकर नहीं ले गया था बल्कि सीता स्वेच्छा से उसके साथ गई थी। इससे भी आगे पेरियार यह तक कहते हैं कि सीता अन्य व्यक्ति के साथ इसलिये चली गई थी क्योंकि उसकी प्रकृति ही चंचल थी और उसके पुत्र लव और कुश रावण के संसर्ग से ही उत्पन्न हुए थे। सीता की प्रशंसा में पेरियार एक शब्द तक नहीं कहते। अपनी इस स्थापना को पुष्ट करने के लिये वह निम्न दस तर्क देते हैं –

1. सीता के जन्म की प्रामाणिकता संदेहास्पद है। उन्हें भूमिपुत्री प्रचारित करते हुए यह कहा जाता है कि राजा जनक को वह पृथ्वी के गर्भ से प्राप्त हुईं थीं। जबकि पेरियार का कथन है कि वह वास्तव में किसी बदचलन स्त्री की सन्तान थी जिसे उसने अपना दुष्कर्म छुपाने के लिये फेंक दिया था। बदचलन स्त्री की सन्तान का भी वैसा ही होना अस्वाभाविक नहीं है। इस सम्बंध में पेरियार स्वयं सीता के शब्द उद्धृत करते हैं – 'मेरे तरुणाई प्राप्त कर लेने के बाद भी कोई राजकुमार मेरा हाथ मांगने नहीं आया क्योंकि मेरे जन्म को लेकर मुझ पर एक कलंक लगा हुआ है।' इसी बात को आगे बढ़ाते हुए वह कहते हैं – 'जनक सीता की आयु 25 वर्ष की हो जाने तक कोई उपयुक्त वर नहीं तलाश पाये। हारकर उन्होंने अपनी व्यथा से ऋषि विश्वामित्र को अवगत करवाया और सहायता की याचना की। तब विश्वामित्र सीता की आयु से काफी छोटे राम को लेकर आये और सीता ने उनसे विवाह करने में तनिक भी आपत्ति नहीं की। इससे प्रमाणित होता है कि सीता हताश हो किसी को भी पति के रूप में स्वीकार करने के लिये व्याकुल थी।'

2. पेरियार का दूसरा तर्क भरत और सीता के संबंधों को लेकर है। जब राम ने वन जाने का निर्णय कर लिया तो सीता ने अयोध्या में रहने से बिल्कुल इन्कार कर दिया। इसका कारण यह था कि विवाह के कुछ दिनों बाद से ही भरत ने सीता का तिरस्कार करना शुरू कर दिया था। राम स्वयं भी सीता से कहते हैं कि तुम भरत की प्रशंसा के लायक नहीं हो। आगे सीता फिर कहती है – 'मैं भरत के साथ नहीं रह सकती क्योंकि वह मेरी अवज्ञा करता है। मैं क्या करूं? वह मुझे पसन्द नहीं करता। मैं उसके साथ कैसे रह सकती हूं।'

सीता की ये स्वीकारोक्तियां भी उसके चरित्र को सन्देहास्पद बनाती हैं। आखिर भरत सीता को क्यों नापसन्द करते थे। यह सवाल सीधा सीधा सीता के चरित्र पर उंगली उठाता है।

3. सीता हीरे जवाहरात के आभूषणों के पीछे पागल रहती है। राम जब उसे अपने साथ वन ले जाने को तैयार हो जाते हैं तो उसे सारे आभूषण उतार कर वहीं रख देने को कहते हैं। सीता अनिच्छापूर्वक ऐसा करती तो है पर चोरी छुपे कुछ अपने साथ भी रख लेती है। रावण जब उसे हर कर ले जाता है तब वह उनमें से एक-एक उतार कर डालती जाती है। अशोक वाटिका में भी वह अपनी मुद्रिका हनुमान को पहचान के लिये देती है। तात्पर्य यह कि आभूषणों के प्रति उसका इस हद तक मोह यह तो स्पष्ट करता ही है कि वह इनके लिये अपने पति की आज्ञा की भी अवहेलना कर सकती है यह भी जताता है कि वह इनके लिये अनैतिक समझौते भी कर सकती है।

4. सीता मिथ्याभाषिणी है। वह उम्र में बड़ी होकर भी राम को तथा रावण को अपनी उम्र कम बताती है। उसकी आदत उसके चरित्र पर शंका उत्पन्न करती है।

5. सीता को वन में अकेला इसीलिये छोड़ा जाता है ताकि रावण उसे आसानी से ले जा सके। वह स्वयं भी राम को स्वर्ण मृग के पीछे और लक्ष्मण को राम की रक्षा के लिये भेजती है जिससे वह अकेली हो और स्वेच्छा से काम करे।

6. सीता लक्ष्मण को बहुत कठोर शब्दों में फटकारती है और यहां तक कह देती है कि वह उसे पाना चाहता है। इसीलिये राम को बचाने नहीं जाता। उसके इस तरह के आरोप उसकी कलुषित मानसिकता को प्रकट करते हैं।

7. एक बाहरी व्यक्ति (रावण) आता है और सीता के अंग प्रत्यंगों की सुन्दरता का, यहां तक कि स्तनों की स्थूलता व गोलाई का भी वर्णन करता है और वह चुपचाप सुनती रहती है। इससे भी उसकी चारित्रिक दुर्बलता प्रकट होती है।

8. सीता का अपहरण कर ले जाते समय वह रावण को अनेक प्रकार का शाप देती है। यदि वह सचमुच सती पतिव्रता होती तो रावण को तभी भस्मीभूत हो जाना चाहिये था। लेकिन वह तो जैसे ही रावण के महल में प्रविष्ट होती है उसका रावण के प्रति प्रेम बढ़ने लगता है।

9. जब रावण सीता से शादी करने के लिये निवेदन करता है तो वह मना तो करती है लेकिन आंखें बन्द करके सुबकने भी लगती है। पेरियार उसके इस

व्यवहार पर शंका जताते हैं।

10. वह सीता के रावण के प्रति आकर्षित होने के दो प्रमाण और देतें हैं – (क) चन्द्रावती की बंगाली रामायण से एक घटना का वह उल्लेख करते हैं – राम की बड़ी बहन कुंकुवती उन्हें धीरे से यह बताती है कि सीता ने कोई तस्वीर बनाई है और वह उसे किसी को दिखाती नहीं है। उस तस्वीर को वह छाती से लगाये हुए है। राम स्वयं सीता के कमरे में जाते हैं और वैसा ही पाते हैं। वह तस्वीर रावण की होती है। (ख) सी.आर.श्रीनिवास अयंगार की पुस्तक 'नोट्स ऑन रामायण' में भी सीता रावण की तस्वीर बनाते हुए राम के द्वारा रंगे हाथों पकड़ी जाती है।

अन्त में पेरियार उस प्रसंग का वर्णन करते हैं जब अयोध्या में राम सीता से अपने सतीत्त्व को साबित करने के लिये शपथ खाने को कहते हैं। वह ऐसा करने से मना कर देती है और पृथ्वी में समा जाती है। रामभक्त इसे सीता के सतीत्व की चरमावस्था घोषित करते हैं जबकि पेरियार कहते हैं कि अपने को सच्चरित्र प्रमाणित न कर पाने के कारण ही सीता जमीन में गड़ जाती है।

ऐसे राम और ऐसी रामायण कथा आदर व श्रद्धा के लायक बन सकते हैं? यह सवाल है पेरियार का।

दरअसल पेरियार ने इसे एक ऐसे लम्बे निबंध के रूप में लिखा है जिसमें पहले रामायण पर उनके विचार दिये गये हैं और बाद में उसके हर चरित्र की आलोचना की गई है।

रामायण के बारे में वह बड़ी साफगोई से कहते हैं कि रामायण वास्तव में कभी घटित नहीं हुई। वह तो एक काल्पनिक गल्प मात्र है। राम न तो तमिल थे और न तमिलनाडू से उनका कोई सम्बन्ध था। वह तो धुर उत्तर भारतीय थे। इसके विपरीत रावण उस लंका के राजा थे जो तमिलनाडू के दक्षिण में है। यही कारण है राम और सीता न केवल तमिल विशेषताओं से रहित हैं बल्कि उनमें देवत्व के लक्षण भी दिखाई नहीं देते। महाभारत की तरह यह भी एक पौराणिक कथा है जिसे आर्यों ने यह दिखाने के लिये रचा है कि वे जन्मजात उदात्त मानव हैं जबकि द्रविड़ लोग जन्मना अधम, अनाचारी हैं। इसका मुख्य उद्देश्य ब्राह्मणों की श्रेष्ठता, स्त्रियों की दोयम दर्जे की हैसियत और द्रविड़ों को निन्दनीय प्रदर्शित करना है। इस तरह के महाकाव्य जानबूझकर उस संस्कृत भाषा में लिखे गये जिसे वे देवभाषा कहते थे और जिसका पढ़ना निम्न जातियों के लिये निषिद्ध था। वे इन्हें ऐसी महान आत्माओं द्वारा रचित प्रचारित करते हैं जो सीधे स्वर्ग से दुनिया का उद्धार करने के लिये अवतरित हुई थी। ताकि

इनकी कथाओं को सच्चा माना जाय और इनके पात्रों व घटनाओं पर कोई सवाल न उठाये जायें। आर्यों ने जब प्राचीन द्रविड़ भूमि पर आक्रमण किया तब उनके साथ दुर्व्यवहार तो किया ही उनका अपमान भी किया और अपने इस कृत्य को न्यायोचित व प्रतिष्ठा योग्य बनाने के लिये उन्होंने इन्हें ऐसे राक्षस बनाकर पेश किया जो सज्जनों के हर अच्छे कामों में बाधा डालते थे। श्रेष्ठ जनों को तपस्या करने से रोकना, धार्मिक अनुष्ठानों को अपवित्र करना, पराई स्त्रियों का अपहरण करना, मदिरापान, मांसभक्षण एवं अन्य सभी प्रकार के दुराचरण करना इन्हें अच्छा लगता था। इसलिये ऐसे आततायियों को दंडित करना आर्य पुरुषों की कर्तव्य परायणता को दर्शाता है। अब यदि तमिलजन इस तरह की रामायण की प्रशंसा करते हैं तो वे अपने अपमान को एक तरह से सही ठहराते हैं और स्वयं अपने आत्मसम्मान को क्षति पहुंचाते हैं।

शिक्षित तमिल जब कभी रामायण की चर्चा करते हैं तो उनका आशय 'कम्ब रामायण' से होता है। यह रामायण वाल्मीकि की संस्कृत में लिखी रामायण का कम्बन कवि द्वारा तमिल में किया गया अनुवाद है। लेकिन पेरियार मानते हैं कि कम्बन ने भी वाल्मीकि की रामायण की विकारग्रस्त प्रवृत्ति और सच्चाई को छुपाया है और कथा को कुछ ऐसा मोड़ दिया है जो तमिल पाठकों को भरमाता है। इसलिये वे इस रामायण की जगह आनन्द चारियार, नटेश शास्त्रियार, सी.आर. श्रीनिवास अयंगार और नरसिंह चारियार के अनुवादों को पढ़ने की सिफारिश करते हैं।

लेकिन अफसोस है पेरियार भी रावण की प्रशंसा उसी तरह आंख मूंदकर करते हैं जिस तरह वाल्मीकि ने राम की की है। वह वाल्मीकि पर यह आरोप लगाते हैं कि उन्होंने स्त्रियों की न केवल अवहेलना की है बल्कि उन्हें हीन दिखाने की कोशिश भी की है। लेकिन वह स्वयं भी सीता की मन्थरा व शूर्पणखा की तरह अवमानना करते हैं। क्योंकि वह एक आर्य महिला है। क्या आर्य होने पर स्त्री स्त्री नहीं रहती? इस तरह पेरियार कई जगह द्रविड़ों का पक्ष लेते हुए रामायण के आर्य चरित्रों के साथ अन्याय भी करते हैं। अनेक कमियों के बावजूद यह पठनीय है। क्योंकि इससे तस्वीर का एक और पहलू सामने आता है।

- अक्टूबर-नवंबर, 2019 (संयुक्तांक)

अध्याय – 21

गीता : ब्राह्मणवाद की पुनर्स्थापना का षड्यंत्र

प्रमोद रंजन

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।।

गीता के रचयिता ने उपरोक्त श्लोक कृष्ण की ओर से कहा है। मतलब, 'मैं कृष्ण ही वर्णव्यवस्था का रचयिता हूं। मैंने ही गुण और कर्म देखकर चार वर्णों की रचना की। मैं उस सब का कर्ता हूं, पर तुम मुझे अकर्ता ही जानो।' यह श्लोक बताता है कि वर्णव्यवस्था किसी ब्राह्मण की रचना नहीं है, यदुकुल के कृष्ण ने इसे रचा है। अगर हम आध्यात्मिक व्याख्याओं के क्षद्म में न फंसे तो देख सकते हैं कि इस श्लोक में गीता का रचयिता यह भी कह रहा है कि वर्ण व्यवस्था के निर्माण जैसा 'महान' कार्य कोई गैर ब्राह्मण नहीं कर सकता। कुरूक्षेत्र के मैदान में गीता का उपदेश साक्षात् विष्णु देते हैं, यदुवंशी कृष्ण तो निमित्त मात्र हैं। इसलिए कृष्ण कहते हैं 'तुम मुझे अकर्ता ही जानो' ! गीता ऐसे ही छलपूर्ण विरोधाभासों से भरी काव्य-रचना है, जिसकी रचना का उद्देश्य ब्राह्मण मिथकों की पुनर्स्थापना था।

पहली सहस्त्राब्दि के पूर्वार्द्ध में प्राख्यात बौद्ध विचारकों नागार्जुन, असंग, वसुवंधु व अन्य गैर ब्राह्मण चिंतकों के प्रभाव के कारण खतरे में पड़े ब्राह्मणत्व को उबारने के लिए गीता की रचना की गई। यही काम भक्तिकाल (16 वीं शताब्दी) में तुलसीदास ने रामचरित मानस की रचना कर किया। भक्तिकाल में यह खतरा शूद्र कवियों कबीर, रैदास आदि की ओर से था। जिस तरह रामचरित मानस कोई मौलिक रचना न होकर रामायण की पुनर्व्याख्या है उसी

तरह गीता अद्वैत वेदांत की। शिल्प और दर्शन की दृष्टि से यह नागार्जुन के 'सौंदरानंद' की नकल है।

यह मानने का पर्याप्त आधार है कि इन दिनों गीता और तुलसीदास कृत रामचरित मानस की पुनर्प्रतिष्ठा की जो कोशिशें चल रही हैं, उनके पीछे दलितों, पिछड़ों की ओर से ब्राह्मणवाद को मिल रही चुनौती से निबटने और ब्राह्मणवाद को मजबूत करने का षड्यंत्र है। इलाहाबाद उच्च न्यायालय के जज एस. एन. श्रीवास्तव ने 30 अगस्त, 2007 को अपने फैसले एक में कहा है कि गीता को राष्ट्रीय धर्मशास्त्र बनाया जाना चाहिए।

गीता को राष्ट्रीय धर्मशास्त्र घोषित करने की यह कवायद महज एक न्यायाधीश की सनक नहीं अपितु उसी बड़े षडयंत्र का हिस्सा है। न्यायालयों के प्रति पर्याप्त सम्मान के बावजूद यह शंका उस समय प्रमाणित होती है जब हम इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायाधीश एस.एन. श्रीवास्तव द्वारा गीता को धर्मशास्त्र घोषित किए जाने के फैसले और मीडिया में इसकी खबर की तारीखों को देखते हैं।

श्रीवास्तव ने यह फैसला 30 अगस्त, 2007 को दिया। लेकिन मीडिया में यह खबर 11 सितंबर को आई। इस बीच 4 सितंबर का श्रीवास्तव सेवानिवृत भी हो गए। यह एक सामान्य सार्वजिक फैसला था, जिसके लिए किसी स्टिंग आपरेशन की आवश्यकता नहीं थी। पर्याप्त सनसनी तत्व वाली यह खबर 11 दिनों तक क्यों दबी रही? सामान्यतः बनारस के जिस पुजारी मुखर्जी की याचिका पर यह फैसला हुआ था, वह अथवा उसके वकील को ही यह खबर गदगद भाव से तुरंत मीडिया तक पहुंचा देनी चाहिए थी। लेकिन यह खबर 11 तारीख को फ्लैश हुई। 12 सितंबर को विश्व हिन्दू परिषद द्वारा सेतु समुद्रम् परियोजना के विरोध में भारत बंद का आह्वान किया गया था। इस खबर के मीडिया में आने और 'भारत बंद' की तारीख में गहरा संबंध है। भारत बंद से ठीक एक दिन पहले इस खबर के फ्लैश होने से गीता के उपरोक्त लोक की भांति ही एक तीर से कई निशाने सधे। पहला तो यह कि श्रीवास्तव के सेवानिवृत हो जाने के कारण उनपर कार्रवाई का खतरा कम हो गया। दूसरा यह कि भारत बंद के हंगामे के कारण मीडिया में इस खबर को उछाले जाने की संभावना समाप्त हो गई। यदि यह खबर अधिक चर्चित होती तो निहित राजनीतिक कारणों से इसका पुरजोर विरोध होता और न्यायाधीश पर कारवाई हो सकती थी। ऐसे में इस फैसले का कोई मूल्य न रह जाता। इसलिए साँप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे वाली चालाकी की गई। इस चालाकी के सफल

होने पर उच्च न्यायालय का यह फैसला के ब्राह्मणवाद के पक्ष में एक थाती बन जाएगा, जिसका उपयोग वे मामला ठंडा जाने के (संभवतः वर्षों) बाद करेंगे। यही उनकी मंशा है क्योंकि वे जानते हैं कि हिन्दू धर्म के दलितों, पिछड़ों और अन्य धर्मालंबियों से राजनैतिक स्तर पर मिल रही प्रबल चुनौतियों के बीच अभी गीता जैसे धर्म ग्रंथ को, जो शूद्रों और स्त्रियों को दोयम दर्जे का मानता है और विधर्मियों के सफाये का संदेश देता है, पुनर्स्थापित करना संभव नहीं है। उनका स्वप्न इस लक्ष्य को सीढ़ी दर सीढ़ी हासिल करने का है। यदि भारतीय संविधान के मूल तत्व सेकुलरिज्म की धज्जियां उड़ाने वाले इस फैसले के विरूद्ध आपराधिक मामला दर्ज नहीं होता तो निश्चित रूप से वे षड़यंत्र के इस सोपान पर सफल रहेंगे। इसलिए यह अनायास नहीं है कि जज श्रीवास्तव द्वारा दिए गए फैसले को 11 दिनों तक दबाए रखा गया और उससे पहले उनके रिटायर हो चुकने की खबर तक नहीं लगने दी गई। इस तथ्य पर भी गौर करें कि धर्मनिरपेक्षता का मुखौटा लगाए ब्राह्मणवाद के समर्थकों की ओर से इस फैसले को नजरअंदाज करने देने जोरदार वकालत की गई।

ब्राह्मणवाद की पुनर्स्थापना के षडयंत्र की सफलता की संभावना इस कारण भी बढ़ जाती कि गैर ब्राह्मण तबकों की राजनीतिक स्तर पर सक्रियता संसदीय व्यवस्था में कुछ महत्व पाने भर की है और इससे अधिक चिंताजनक यह कि सांस्कृतिक स्तर पर इनकी सक्रियता नगण्य है। सो, जैसी उम्मीद थी, गैर-ब्राह्मण तबके में सामाजिक स्तर पर भी इस फैसले पर बेहद कम प्रतिक्रिया हुई। यदि उनमें सांस्कृतिक चेतना का विकास हुआ होता तो अपमानजनक शब्दों में उनका जिक्र करने वाले, उन्हें एक मनुष्य के रूप में दूसरे, तीसरे और चौथे दर्जे में रखने वाले ग्रंथ को राष्ट्रीय धर्मशास्त्र घोषित किए जाने का जबरदस्त विरोध होता। जबकि हुआ इसके विपरीत, एक जातीय संगठन, अखिल भारतीय यादव महासभा का बयान इस फैसले के लिए इलाहाबाद न्यायालय के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए समाचार पत्रों में छपा। जिसमें गीता को राष्ट्रीय धर्मग्रंथ बनाने के लिए न्यायालय की मुक्त भाव से प्रशंसा की गई तथा न्यायालय को धन्यवाद दिया गया। इस बयान पर सिर्फ ईसा की वह सुविख्यात पंक्ति-जिसमें उन्होंने कहा था, 'उन्हें माफ करना, वे नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं!' *(अक्टूबर-नवंबर, 2007, संयुक्तांक)*

अध्याय – 22

मार्क्स को याद करते हुए

राजू रंजन प्रसाद

आमतौर पर माना जाता है कि मार्क्सवाद के तीन प्रमुख स्रोत हैं – ब्रिटिश अर्थशास्त्र, जर्मन दर्शनशास्त्र और फ्रांसीसी समाजवाद। हिन्दी साहित्य के मान्य मार्क्सवादी आलोचक डा. नामवर सिंह ने कुछ साल पहले पटना में एक व्याख्यान में कहा था कि एक चौथा स्रोत भी है – ग्रीक ट्रेजडी यानी साहित्य। डा. खगेन्द्र ठाकुर के अनुसार पांचवें स्रोत के रूप में विज्ञान के उस समय तक के विकास को भी माना जा सकता है, खासकर के डारविन के द्वारा जीवों के विकास के नियम की खोज को। मैं इन बातों को थोड़ा सुधारकर तथा मितव्ययी होते हुए कहना चाहता हूं कि अब तक के उपलब्ध ज्ञान की कोई ऐसी शाखा न थी जिससे मार्क्स को अप्रभावित बताया जाना संभव है। मार्क्स उन्नीसवीं शताब्दी के निःसंदेह बड़े अध्येता थे। ब्रिटिश म्यूजियम की शायद ही कोई पुस्तक होगी जो मार्क्स की पेंसिल से रंगी जाने को बची हो। मार्क्स आधुनिक विश्व का सबसे आश्चर्यजनक और रोमांचकारी ऐतिहासिक व्यक्तित्व हैं।

पूंजीवाद ने केवल एक विश्व-व्यवस्था ही नहीं पैदा की बल्कि मार्क्स जैसा अप्रतिम और अभूतपूर्व लेखक भी पैदा किया जो पूरी दुनिया पर एक साथ टिप्पणी करता था, पूरी दुनिया के इतिहास में हस्तक्षेप करता था। यह मार्क्स का और उदीयमान पूंजीवाद का ऐतिहासिक महत्व था। स्वयं पूंजीवाद के इस महत्व को समझे बगैर मार्क्स एवं मार्क्सवाद को समझना आसान नहीं हो सकता। लगता है, हम मार्क्सवादियों ने इस चीज को समझने में कहीं कोई भूल की है। इस तथ्य को हमारे समय के एक प्रतिबद्ध मार्क्सवादी चिंतक की वैचारिक उलझन से समझा जा सकता है। खगेन्द्र ठाकुर पूछते हैं 'मेरा प्रश्न है कि ब्रिटिश अर्थशास्त्र, जर्मन दर्शनशास्त्र और फ्रांसीसी समाजवाद का जो स्वरूप उस समय था, वह नहीं होता तो क्या मार्क्सवाद का विकास नहीं

होता?' उत्तर भी स्वयं ही देते हैं – 'मैं' समझता हूं कि इस प्रश्न के उत्तर में कोई भी नहीं कह सकता कि उन स्रोतों के बिना मार्क्सवाद का विकास नहीं होता। मार्क्स-एंगेल्स के विचारों का विकास केवल पूर्ववर्ती विचारों से नहीं, बल्कि मूलतः उनके अपने समय के सामाजिक स्वरूप और मानवीय संबंधों के अमानुषीकरण का भी परिणाम था जिसने उन्हें नये विचारों की खोज के लिए बेचैन कर दिया।' खगेन्द्र जी मार्क्स की यह उक्ति शायद भूल रहे हैं कि 'कोई भी समस्या स्वयं तभी खड़ी होती है जब उसके समाधान की, भौतिक परिस्थितियां पहले से या तो मौजूद हों या कम से कम निर्माण के क्रम में हों।' शायद इसीलिए वे मार्क्स के पूर्ववर्ती विचारों की महत्ता को कमतर साबित कर (लगभग अस्वीकार की हद तक) मार्क्स के 'नये विचारों' को स्थापित करना चाहते हैं। अपने विचारों के नयेपन का इतना अधिक भ्रम मार्क्स को भी न था। कोई भी व्यक्ति ऐसा केवल तभी कह सकता है जब वह इतिहास की विकासमानता और निरंतरता को न समझ पाने की स्थिति में हो। ऐसी स्थिति मार्क्सवाद विरोधी स्थिति है, यह मार्क्स के मूल सिद्धांतों का उल्लंघन करती है। लगता है, विकास और निरंतरता का बोध मार्क्स को ज्यादा था, मार्क्सवादियों को कम है। मार्क्स ने बहुत ही विनम्रतापूर्वक कहा था कि हीगेल का दर्शन जो सिर के बल खड़ा था, मैंने उसे महज पैर के बल कर दिया है। यह मान लेने से मार्क्स का महत्व कम नहीं हो जाता। 'नये विचार' गढ़ने का दायित्व भी तो मार्क्स को इतिहास ही ने प्रदान किया था।

विडंबना कहिए कि मार्क्स को पढ़ा तो बहुत गया किंतु समझा कम ही गया। मार्क्स के विचारों को मार्क्सवादी विवेक के बगैर रट्टा मारा गया। एक बार मैंने अपने एक मार्क्सवादी मित्र से चर्चा के दौरान कहा कि मैं मार्क्स को एडिट करता हुआ पढ़ता हूं तो शीघ्र ही उनकी नजर में मैं वामपंथी भटकाव का शिकार हो गया। लोग यह भूल जाते हैं कि मार्क्स के विचार जीवन-पर्यंत विकसित व परिवर्धित होते रहे हैं। लेकिन इस बात का कोई यह मतलब न निकाले कि मार्क्स आज की बदली हुई परिस्थितियों में अप्रासंगिक हो गये हैं।

कम्युनिस्ट घोषणापत्र का महत्व इस बात में है कि उसमें मार्क्स की लगभग सभी स्थापनाएं ठोस एवं बीज रूप में हैं। सन् 1872 ई. में जर्मन संस्करण की भूमिका लिखते हुए एंगेल्स ने स्वीकार किया था कि 'पिछले पच्चीस सालों में परिस्थिति चाहे कितनी भी बदल गई हो, इस घोषणापत्र में निरूपित आम सिद्धांत आज भी उतने ही सही हैं, जितने कि पहले थे। ..लेकिन घोषणापत्र तो एक ऐतिहासिक दस्तावेज बन गया है जिसमें परिवर्तन का अब हमें कोई

अधिकार नहीं रह गया है।' कम्युनिस्ट घोषणापत्र ऐतिहासिक दस्तावेज अपनी प्राचीनता की वजह से नहीं बना है बल्कि इसलिए कि ऐतिहासिक महत्व का है।

मार्क्सवादी और गैर-मार्क्सवादी दोनों ही थोड़ा-बहुत अंतर के साथ मार्क्स के ऊपर यह आरोप लगाते हैं कि उन्होंने सामाजिक परिवर्तन में भौतिक शक्तियों की भूमिका पर अनावश्यक रूप से ज्यादा जोर दिया है। मार्क्स ने ठीक-ठीक शब्दों में आधार एवं अधरिचना की बात कही थी और यह भी कि आर्थिक मूलाधार में परिवर्तन से, समस्त वृहदाकार ऊपरी ढांचे में भी देर-सबेर रूपांतरण हो जाता है। मार्क्स यह स्पष्ट करना भी न भूले थे कि इतिहास के एक लंबे दौर में अधरिचना भी एक भौतिक शक्ति का रूप धारण कर लेती है। इसलिए मार्क्स पर लगाया गया यह आरोप कि उन्होंने आर्थिक शक्तियों को ही निर्णायक माना है, बेबुनियाद है। यह सही है कि मार्क्स ने भौतिक शक्तियों पर तुलनात्मक रूप से ज्यादा जोर दिया है। ऐसा तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों की वजह से हुआ है। मार्क्स को कई स्तर और मिजाज का लेखन करना पड़ता था। तत्कालीन स्थितियों से मुकाबला करने के लिए उन्होंने एक अलग शैली और भाषा विकसित कर ली थी। उनकी शैली पर टिप्पणी करते हुए एंगेल्स ने पूंजी (खंड-2) की भूमिका में लिखा है 'बोलचाल के रूप बहुत ज्यादा, अक्सर रूक्ष और हास्यपूर्ण शब्दावली। मार्क्स के साहित्य का अच्छा खासा हिस्सा गालियों से भरा है। कभी-कभी मन में आता है कि मार्क्स की गालियों का संकलन कर एक रोचक पुस्तक तैयार की जा सकती है।'

जिन लोगों को मार्क्स के सामाजिक-राजनीतिक परिवेश की समझ है वे भौतिक शक्तियों पर जोर वाली बात आसानी से समझ और पचा पाते हैं। भारत में नेहरू लिखते हैं, 'इस व्यर्थ बात को तूल देकर कहा जाता है कि मार्क्स ने जीवन के आर्थिक पहलू ही को अधिक महत्व दिया है। उसने ऐसा जरूर किया है, क्योंकि यह आवश्यक था और लोग इसे भुला देने की तरफ झुक रहे थे, लेकिन उसने दूसरे पहलुओं की कभी अवहेलना नहीं की है और उन ताकतों पर ज्यादा जोर दिया है जिनकी वजह से लोगों में जान आ गई है और घटनाओं को रूप मिला है।' जून 1931 में लार्ड लोथियन ने लंदन-स्कूल आव इकनॉमिक्स के सालाना जलसे के मौके पर अपने भाषण में कहा था – 'हमलोग बहुत दिन से जो सोचने के आदी हो गए हैं क्या उसकी अपेक्षा मौजूदा समय की बुराईयों की मार्क्स द्वारा की गई तजवीज में कुछ ज्यादा सच्चाई नहीं है? मैं मानता हूं कि मार्क्स और लेनिन की भविष्यवाणियां अत्यंत कठोर रूप

से सच हो रही हैं। जब हम पश्चिमी दुनिया की तरफ, जैसी की वह है और उसकी हमेशा की तकलीफों की ओर निगाह डालते हैं, तो क्या यह साफ मालूम नहीं देता कि हमें उसके मूल कारणों को अब तक हम जिस हद तक पहुंचने के आदी हो गए हैं उससे कहीं अधिक गहराई के साथ जरूर ढूंढ़ निकालना चाहिए? और जब हम ऐसा करेंगे, हम देखेंगे कि मार्क्स की तजवीज बहुत कुछ सही है।' आज 'सभ्यता-संघर्ष' के दिनों में भी मार्क्स की तजवीज उतनी ही प्रामाणिक और प्रासंगिक है।

पूंजीवादी एवं प्राक-पूंजीवादी समाजों का विश्लेषण कर मार्क्स कम्युनिष्ट घोषणापत्र में इस नतीजे पर पहुंचे थे कि अभी तक आविर्भूत समस्त समाज का इतिहास (अर्थात् समस्त लिपिबद्ध इतिहास) वर्ग-संघर्षों का इतिहास रहा है। आधुनिक पूंजीवादी समाज ने, जो सामंती समाज के ध्वंस से पैदा हुआ है, वर्ग-विरोधों को खतम नहीं किया किंतु इसने समस्त समाज को सीधे-सीधे पूंजीपति और सर्वहारा वर्गों में बांटकर इसने वर्ग-विरोधों को सरल बना दिया है। उत्पादन के औजारों में लगातार क्रांतिकारी परिवर्तन और उसके फलस्वरूप उत्पादन के संबंधों में, और साथ-साथ समाज के सारे संबंधों में क्रांतिकारी परिवर्तन के बिना पूंजीपति वर्ग जीवित नहीं रह सकता। पारंपरिक उद्योग की जगह ऐसे नये-नये उद्योग ले रहे हैं, जिनकी स्थापना सभी सभ्य देशों के लिए जीवन-मरण का प्रश्न बन जाती है; ऐसे उद्योग आ रहे हैं जो उत्पादन के लिए अब अपने देश का कच्चा माल इस्तेमाल नहीं करते उत्पादन के तमाम औजारों में तीव्र उन्नति और संचार साधनों की विपुल सुविधाओं के कारण पूंजीपति वर्ग सभी राष्ट्रों को, यहां तक कि बर्बर से बर्बर राष्ट्रों को भी सभ्यता की परिधि में खींच लाता है।

भारतीय इतिहास के अध्ययन एवं अनुभव से हम जानते हैं कि कच्चे माल की लूट एवं तैयार माल की अबाधति खपत के लिए अंग्रेजों ने इस देश को अपना उपनिवेश बनाया था। कच्चे माल की लूट ने देशी कारीगरों-कलाकारों के लिए आजीविका का संकट पैदा कर दिया। भारत के शहरों के कारीगर रोजगार-मुक्त हो देहातों को पलायन करने लगे। औपनिवेशिक शासन के दिनों में भारत का देहातीकरण जिस व्यापक पैमाने पर हुआ, इतिहास में शायद ही कोई दूसरी मिसाल हो। शहर से देहात की ओर पलयान से कृषि-उत्पादन में ठहराव आया और जनसंख्या-वृद्धि का दबाव महसूस किया गया। जहां-जहां उपनिवेश कायम हुए, कुछ न कुछ ऐसा अवश्य घटा। माल्थस जैसे साम्राज्यवाद के पैरोकार चिंतक ने देश की गरीबी का कारण जनसंख्या वृद्धि

को बताया जबकि मार्क्स इसे साम्राज्यवादी लूट का परिणाम बता रहे थे। आधुनिक भारतीय राजनीति के पितामह कहे जाने वाले आरंभिक अर्थशास्त्री दादाभाई नौरोजी ने 'संपदा अपहरण का सिद्धांत' (प्राख्यात ड्रेन थ्योरी) विकसित कर मार्क्स के विचारों की पुष्टि की थी। नौरोजी ने भारत की लूट से संबंधित बातें भारत में वैकल्पिक अर्थशास्त्र विकसित करने वाली किताब 'इंडियाज पॉवर्टी एंड अन ब्रिटिश रूल इन इंडिया' में कह थी। उदारीकरण एवं वैश्वीकरण के नाम पर आज फिर एक वर्ग विदेशी पूंजी की आवश्यकता पर बल दे रहा है। उनके मंसूबों की सही समझ के लिए मार्क्स का अध्ययन आवश्यक है। मार्क्स के विश्लेषण के आलोक में उनकी भी राजनीति समझी जा सकती है जो अंग्रेजों के भारत में देर से आने और शीघ्र चले जाने का रोना रोते हैं। नंदीग्राम पुलिस संरक्षण में किया गया नरसंहार भी कोई अलग काहनी नहीं कहता। मार्क्स को आज पढ़ते हुए इन घटनाओं के अंतर्संबंध तलाशे जा सकते हैं।

यह सच है कि स्थितियां बदली हैं। उन्नीसवीं-बीसवीं शती में सस्ते श्रम की पूर्ति साम्राज्यवादी देश उपनिवेशों से मजदूरों अथवा गुलामों को ले जाकर करते थे। उक्त काल में भारत के कोने-कोने से मजदूरों का जत्था गया था। ऐसा करना आज लाभकारी नहीं रहा। उन तमाम देशों में जहां बड़ा और खुला बाजार है, उसी देश की धरती पर सस्ते श्रम आदि तमाम संसाधनों का उपभोग करते हुए उद्योग धंधे विकसित करना लाभकारी माना जा रहा है। देशी सरकारें विदेशी कंपनियों को लगभग मुफ्त संसाधन मुहैया करा रही हैं। भारत जैसे राष्ट्र-राज्य की संप्रभु और लोक कल्याणकारी सरकारें लोक कल्याणकारी नीतियों को घाटे की नीति बताकर विदेशी कंपनियों की एजेंटी कर रही हैं और 'बुद्धिजीवियों' को विमर्श का एक नया विषय दे दिया गया है – 'राष्ट्र-राज्यों का भविष्य।' सभी आत्मतुष्ट और गदगद् भाव से आंखें मूंदकर डूब-उतरा रहे हैं। सरकार की पैंतरेबाजी में शामिल और भारत की कम्युनिस्ट पार्टियों के दफ्तरों को एन.जी.ओ. में तब्दील कर देनेवाले मार्क्सवादी चेलों को शायद कभी मार्क्स याद आ जाएं!

- मई, 2007

अध्याय – 23

दण्डकारण्य : जहां आदिवासी महिलाओं के लिये जीवन का रास्ता युद्ध है

क्रांतिकारी आदिवासी महिला मुक्ति मंच

हमारा दण्डकारण्य एक विशाल भूभाग है। कभी हम आदिवासी यहां के बहुसंख्यक निवासी थे। लेकिन बाहरी लोगों के शासन के प्रारंभ (14वीं शताब्दी ई0) जो कि पिछले सात सौ सालों का लंबा काल है, से हमारी आदिवासी जनसंख्या क्रमशः कम होती चली गई। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के आक्रमण के दौरान तथा 'स्वतंत्रता के बाद' इस दर में वृद्धि हुई। कुछ स्थानों पर हम अल्पसंख्यक भी हो गये हैं। हमारा दण्डकारण्य पूर्व तथा दक्षिण में सिलेरू, गोदावरी तथा प्राणहिता नदी, उत्तर में रायपुर तथा पश्चिम में चंद्रपुर की सीमा से लगा हुआ है। महाराष्ट्र, छत्तीसगढ़ तथा उड़ीसा के कुछ भागों में फैला व्यापक जंगल इसे विशिष्ट क्षेत्र बनाता है। इस क्षेत्र में विभिन्न परंपराओं की कई आदिवासी प्रजातियां रहती हैं। इनमें से अधिकांश दोरला, मारिया तथा मुरिया आदिवासी हैं। हम अपनी भाषा में स्वयं को 'कोयतूर' कहते हैं। हमारी भाषा कोया है। अकादमिक पुस्तकों में हमारा उल्लेख 'गोंड' के रूप में मिलता है। पचपन हजार वर्ग किलोमीटर से भी ज्यादा विस्तृत इस व्यापक क्षेत्र में हमारी जनसंख्या आधे करोड़ से ज्यादा है।

आदिवासियों में महिला तथा पुरुषों का अनुपात लगभग समान है। बाहरी शासकों ने – जो केवल हमारा शोषण और यहां डकैती करते हैं – कभी हमारे विकास के बारे में नही सोचा। हमारे श्रम का सस्ते में शोषण तथा हमारे जंगलों से लूट में ब्रिटिश शासन के समय से ही प्रतिवर्ष लगातार वृद्धि हो रही है। यह कभी कम नहीं हुआ। उन्होंने हमें घने आंतरिक जंगलों तक सीमित कर दिया। इससे गुजरने वाला हर दिन हमारे जीवन में असहनीय होता गया। ताजा आंकड़े बताते हैं कि दक्षिणी बस्तर के दंतेवाड़ा में साक्षरता दर 25 प्रतिशत से ज्यादा

नहीं है तथा महिलाओं में तो 17 प्रतिशत से भी कम है। कुपोषण से मरने वाले हमारे बच्चों की संख्या, जीवित बच जाने वालों से कहीं ज्यादा है। सरकारी आंकड़े स्वयं बताते हैं कि यहां शिशु मृत्यु दर बहुत उच्च है। एक महिला के लिए बच्चे को जन्म देने के बाद जीवित बचा रहना दूसरा जन्म जैसा होता है। अपना शरीर ढकने के लिए हमारे पास कपड़े नहीं हैं। हमारे पास पर्याप्त भोजन नहीं है कि हम दो जून अपना पेट भर सकें। हमारा जीवन उत्पादन के लिए लगातार संघर्ष है। पुर्नत्पादन प्रक्रियाओं ने हमें जर्जर बनाकर छोड़ दिया है। हालांकि हम पूरा दिन काम करते हैं फिर भी हम आगे नही बढ़ पाते। हमारे दिन का अधिकांश समय घरेलू कामों, वन उत्पादों के संग्रहण, कृषि कार्य आदि में गुजरता है। यहां तक कि गर्भवती महिला, वृद्ध महिला या तीन साल से ऊपर की बच्ची हो, किसी को कोई राहत नहीं है। कड़ी मेहनत के बावजूद, भूमंडलीकरण की पृष्ठभूमि में हम अपनी रोज की रोटी खरीद पाने में असमर्थ हैं। जिससे किसी अन्य जगह भागने को मजबूर हैं। हमारे लिए अपने परिवार को संभालना कठिन होता जा रहा है। हम लड़ रहे हैं और गंवा रहे हैं। एक दिन अपने जीवन संघर्ष में विजयी होने की आशा के साथ हम लड़ रहे हैं और अपनी जान गंवा रहे हैं।

हिंसा से जूझना हमारे जीवन का एक अंग है। घरेलू हिंसा की तुलना में राज्य-हिंसा का मुकाबला करना बहुत कठिन होता जा रहा है। परंपरागत हिंसा के बावजूद आदिवासी परंपरा में यह (हिंसा) पूरी तरह असहनीय है। कम से कम वे जीवन की आशा को नहीं मारते। सामान्यतः वे आपके अपने आदमियों से किये गये असंख्य समझौतों को नहीं तोड़ते। राज्य हिंसा हमारे जीवन को शारीरिक, मानसिक (मनोवैज्ञानिक), यौन (लिंग संबंधी), राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक स्तर पर बर्बाद कर रही है। इसी कारण पहले हम राज्य हिंसा से लड़े और जीते। हमारा अस्तित्व इसीलिए है और हम लगातार चुनौतियों का सामना कर रहे हैं। श्रम से भरे हमारे जीवन में वैज्ञानिक चिंतन को स्थगित कर, सत्ता में बैठी सरकारें हमारे स्वास्थ्य से खेलती रहती हैं। हममें से अधिकतर यह तक नहीं जानते कि संविधान के अनुसार हमारे लिए निःशुल्क शिक्षा व निःशुल्क स्वास्थ सेवाओं का प्रावधान है। विकास से हजारों किलोमीटर दूर विशालकाय घने जंगलों में बिखरे गांवों के आदिवासी किसी शिक्षा या स्वास्थ्य सेवा के बारे में सोच तक नहीं सकते। कब कौन सी महामारी फैल जायेगी कोई नहीं जानता। कोई नहीं जानता कि कोई मामूली बीमारी या दर्द किसी की जान का कब खतरा बन जाएगा। हम अभी भी सिकल सेल जैसी

बीमारी से मर रहे हैं। जो अभी भी असाध्य बनी हुई है। फिर भी लोग कहते हैं कि इस दुनिया का बहुत विकास हुआ है। उपयुक्त भोजन की कमी तथा अस्वच्छ वातावरण से होने वाली बीमारियां जैसे टीबी तथा कोढ़ प्रतिवर्ष फैल रही है। हमारी गरीबी तथा बुरी आदतों जैसे धूम्रपान, शराब और अब उपभोक्तावादी साम्राज्यवादी संस्कृति के प्रहार के कारण कई हानिकारक तंबाकू, मादक द्रव्य, गुटखा आदि का प्रचलन तेजी से हो रहा है और ये लगातार फैल रहे हैं। हमारे जीवन को तबाह कर रहे हैं। जो कोई भी हम लोगों के बारे में जानता है, उसे यह बताने की कोई जरूरत नहीं है कि आदिवासी जीवन इन सभी के खिलाफ एक संघर्ष है। परिणाम स्वरूप बैगा और अबुझमाड़ मारिया उस आदिवासी समुदाय का हिस्सा है जो छत्तीसगढ़ में आज लुप्त होती जा रही है।

हमारा परिवेश हमेशा विस्फोटों से गूंजता रहता है। हमारे विशाल दण्डकारण्य क्षेत्र में असंख्य खदानें तथा अमूल्य खनिज संपदा है। अगर आदिवासियों का कोई शुभचितंक इस देश की महत्वपूर्ण खदानों तथा खनिज संसाधनों और बड़ी परियोजनाओं को गिनना तथा मापना चाहे तो लगभग सभी की सभी आदिवासी क्षेत्रों में ही मिलेंगी। यह तथ्य पहले की अपेक्षा आज ज़्यादा महत्वपूर्ण है। केंद्र तथा राज्य सरकारों द्वारा दलाल, नौकरशाह, पूंजीपति तथा बहुराष्ट्रीय कंपनियों से सैकड़ों समझौते पत्रों पर हस्ताक्षर किए गए हैं जो हमारे आस्तित्व के लिए खतरा हैं। बैलाडीला, सूरजगढ़, चारगांव, रावघाट, नगरनार, पल्लेमाडी तथा कुव्वेमारा में विस्फोटों से हमारी जमीन को छिन्न-भिन्न कर दिया गया है। हमारे पड़ोसी कलिंगनगर, राउरकेला, झारखण्ड और छोटानागपुर को भी इसी तरह अलग-थलग किया जा रहा है। इन खदानों ने न केवल हमारे वातावरण को प्रदूषित किया है बल्कि इन परियोजनाओं ने 90 लाख से ज़्यादा आदिवासियों को बेघर कर दिया है। इससे केवल हमारी जनसंख्या ही नहीं प्रभावित हुई है बल्कि हमारे सह-आस्तित्व में रहने वाले सभी जीवित प्राणियों को नुकसान पहुंचा है। धीरे धीरे वे नष्ट हो रहे हैं। वनस्पतियों की दुर्लभ प्रजातियां लुप्त होती जा रही हैं। उपरोक्त अलगाववादी परिस्थितियों के कारण हम अपने आस्तित्व तथा अपनी जनता के बहुमुखी विकास के लिए युद्ध करने को बाध्य हैं। इस नारे के साथ कि – 'जल, जंगल, जमीन हमारी है! हमारी है!

संघर्ष का विवरण

आधुनिक राज्य के शासन का दखल जैसे-जैसे हमारे जीवन में बढ़ रहा है वैसे वैसे ही हमारा संघर्ष तेजी से फैल रहा है। जब हम इस तथ्य को याद करते

हैं कि आदिवासियों की ओर से ही ब्रिटिश साम्राज्यवादियों पर पहली गोली चलाई गई थी तो हम तुरंत ही अपने दण्डकारण्य में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ महान विद्रोह के इतिहास को याद करते हैं। 1825 ई.के प्रारंभ में पारलकोट जनविद्रोह के नेता गेंद सिंह के नेतृत्व में आदिवासी महिला पुरुषों ने ब्रिटिश-मराठा सेना के खिलाफ छापामार युद्ध का ऐलान किया। इसे परास्त कर दिया गया था। तब से 1910 ई. तक विभिन्न जगहों में स्थानीय स्तर पर जन विद्रोह हुए। इसमें भारत में प्रथम स्वाधीनता संग्राम के दौरान 1857 ई. में हुआ कोया विद्रोह उल्लेखनीय है। हमारे वीर बाबूराव सेडमेक तथा वेंकटराव जैसे आदिवासी बहादुर योद्धाओं ने विदेशी शासन को पराजित किया और अपने जीवन को बलिदान कर फांसी के फंदे को चूम लिया। 1910 ई. का भूमकाल विद्रोह अविस्मरणीय है। इस महान विद्रोह में ब्रिटिश लोगों की गोलियों से सैकड़ों आदिवासी शहीद हुए। ब्रिटिश हुकूमत के सैनिकों ने इस विद्रोह के दमन के लिए हमारे जंगलों में भयंकर आतंक मचाया। सैकड़ों महिलाओं, बच्चों और बूढ़ों को अपनी जान गंवानी पड़ी। कई पीढ़ियों के गुजरने के बाद भी कुटुल, दरवेड़ा, कचपाल, छोटा डोंगर, ओड़चा, गीदम तथा कोंडागांव के लोग नरसंहार, अत्याचार, लूट, प्रताड़ना, जिंदा जलाया जाना, संपत्ति के नुकसान आदि को तथा निर्दयी ब्रिटिश लोगों के सैकड़ो साल पहले किए गए अपराध को आज तक नहीं भूल पाये हैं। उनके सैनिक बहुत अधिक संख्या में तैनात थे। महान नेता गुंडाधुर आज भी लोगों को लगातार प्रेरित कर रहे हैं और संघर्ष का पर्याय बन चुके हैं। इसके पचास साल बाद, 1960 ई. के प्रारंभ में 'आजाद भारत' में नेहरू की सेनाओं ने बस्तर के राजा प्रवीरचंद्र भंजदेव और उनके अनुयायियों को निर्दयतापूर्वक मार दिया क्योंकि वे वास्तविक आदिवासी मांगों के लिए लड़ रहे थे। इस तरह हम ऐतिहासिक नजरिये से देखते हुए पाते है कि पिछले दो सौ साल प्रारंभ में साम्राज्यवादी तथा बाद में भारतीय शासक वर्ग के खिलाफ हमारे आदिवासी संघर्ष का इतिहास है। यह कोई साधारण संघर्ष नहीं है। यह एक युद्ध है। यह जीवन के लिए एक संघर्ष है। हम भी आधुनिक राज्य तथा इसके विशाल औजारों तथा शस्त्रों से लड़ रहे हैं। हमारे पूर्व की पीढ़ी 'पेडियार' (योद्धा) थी। वह एक जनयुद्ध था। सभी महिला तथा पुरुष इस जनयुद्ध का अंग थे। वे सभी युद्ध में हार के बाद समाप्त हो गए। लेकिन हम नहीं थके हैं। दो-ढाई दशकों से हम स्पष्ट क्रांतिकारी राजनीति के दिशा-निर्देशों के अन्तर्गत लड़ रहे हैं।

1980 से हमारे इलाके में परिवर्तन की नयी हवा का प्रवेश हुआ। हमारी पिछली पीढ़ी द्वारा भुला दिया गया शब्द 'दण्डकारण्य' हमारे जंगलों, झोपड़ियों

और हमारे दिलों में दुबारा गूंजने लगा। हमने पहली बार 'जंगलों पर आदिवासियों का अधिकार है!' नारा सुना इसलिए हमें शोषण और दमन के खिलाफ लड़ना होगा और इसे ख़त्म करना होगा। हमने संघर्ष और सत्ता के बीच के अंर्तसंबध को समझा। सुबह से शाम तक श्रम से भरे हमारे दुष्कर जीवन को कहां छला गया, यह हमने समझा। यद्यपि 1964 ई. में नेहरू की सेना द्वारा जब गोली चली तो हमें समझ में आया था कि 1947 ई. में हुए सत्ता हस्तांतरण ने हमारे जीवन को नहीं बदला है। भारतीय शासक वर्ग की नीतियां, जिनके लिए यह तथ्य है कि '1980 से हम संगठित हो रहे हैं', असहनीय है हमारे दृष्टिकोण को और दृढ़ बना रही है।

हमारा युद्ध जंगलों पर अधिकार के लिए है!

स्वतंत्रता के पहले से हमें अपने जंगलों से बेदखल कर दिया गया था। हम ब्रिटिश कानून के बंदी बन गये। ब्रिटिश लोगों ने पहली बार 1853 ई. में हमारे जंगलों में प्रवेश किया था और हम उनके कानून के शिकार बन गये। पिछले डेढ़ सौ वर्षों में इन जंगलों पर और कई कानून थोपे गये और जंगलों की जमीन हमारे हाथों से छीन ली गई। यह महज संयोग नहीं है कि अर्ध-सामंती तथा अर्ध-औपनिवेशिक चरित्र वाले भारतीय शासक वर्ग ने 1980 ई. में जंगलों को राज्य सूची से केन्द्र सरकार की गोद में सौंप दिया। संथालों द्वारा बहुत दूर एक जगह नक्सलबाड़ी में 1967 ई. में भड़की जंगल चिंगारी को बुझाने के लिए यह एक कुख्यात अध्यादेश था। इसके कारण वैधानिक तरीके से जंगल की जमीन मिल जाने की हमारी उम्मीद राख में मिल गई। अगर पहले हम यह सोचें कि भारत जैसे कृषि प्रधान देश में जहां की 70 प्रतिशत जनता किसान है तो वहां मुख्य मुद्दा ज़मीन का है तब यह स्पष्ट हो जाता है कि 8 प्रतिशत की आदिवासी आबादी का मुख्य मुद्दा भी जमीन ही है। 1980 ई. के केंद्रीय अध्यादेश के अनुसार आदिवासी कृषि जमीन को सरकारी पट्टा से खारिज कर दिया गया। वास्तव में हमें इसके पहले भी जंगल की जमीन का अधिकार पूर्वक प्रयोग करने की स्वतंत्रता नहीं थी। जंगल की जमीन में खेती का अर्थ है शोषक सरकारी वन विभाग के साथ युद्ध करना। हमारे द्वारा जंगल की जमीन पर खेती करने की भनक अगर वन विभाग को लगी तो वे हम पर गिद्ध की तरह झपट्टा मारेंगे। घरों को जलाना, महिलाओं से बलात्कार, भयंकर पिटाई, लघु संपत्ति जैसे मुर्गियां, बकरियां, सुअर, ईप्पा (फूलों से निकाला गया द्रव्य), ताड़ी (पेड़ों से निकाला गया द्रव्य) या कुछ पैसों आदि का लूटना 1980 के दशक से

लगातार जारी है। इसके अलावा दानवी कानूनों का प्रयोग कर किसानों को गिरफ्तार करके बंधक बना लिया जाता है। अब तक इस तरह के हजारों मामले अदालतों में लंबित हैं। जमीन और खेती के बिना किसानी का कोई जीवन नहीं है। इस तरह के कठोर दमन के बावजूद हम जमीन के लिए लड़े। यह हमारा मुख्य संघर्ष था। जब उन्होंने हमारी बोई हुई जमीन को नष्ट करने की कोशिश की तो हमने उन्हें रोका। जब उन्होंने खेती करने से रोकने की कोशिश की तो हमने उन्हें बांध दिया और हम सभी आदिवासी महिला और पुरुषों ने मिलकर खेत जोत लिया। इससे हमारा आत्मविश्वास बढ़ा। हमने शोषणकारी सरकारी पट्टा के बारे में ध्यान देना बंद कर अपनी खेती की। हमने घोषणा की कि वन विभाग के किसी अधिकारी – जो हमें शैतानों की तरह परेशान करता है – को जंगल के भीतर नहीं घुसना चाहिए। हमने देखा कि बच्चों की नई पीढ़ी उनके दमन के छाया में बड़ी नहीं हो रही है। पिछले पच्चीस वर्षों में हमने दो लाख एकड़ जंगल की जमीन का इस्तेमाल खेती के लिए किया है।

यहां हम संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन सरकार द्वारा लाये गये वन विधेयक कानून की चर्चा करना चाहेंगे। हमारे देश में पिछले दो ढाई दशक से आदिवासी इलाकों में जनता के जर्बदस्त संघर्षों के कारण सरकार यह कह रही है कि वह आदिवासियों द्वारा खेती की जा रही जमीन का पट्टा देगी। निश्चित रुप से यह किसी प्रेम या सहानुभूति से नहीं किया जा रहा है। हमें यह महसूस करना चाहिए कि इस प्रक्षेपित विधेयक के पीछे एक बहुत बड़ी साजिश है। कई राज्य सरकारों ने कारपोरेट क्षेत्र के साथ समझौते किये हैं। और बड़े पूंजीपतियों को उत्खनन तथा खनिजों को निचोड़ने के लिए वृहद पैमाने पर जंगल की जमीन सौंपी जा रही है। परिणाम स्वरूप कई आदिवासी समुदायों का अस्तित्व खतरे में पड़ गया है। हम वैसे भी नागरनार (बस्तर) कलिंग नगर, राउरकेला (उड़ीसा) बैलाडिला तथा अन्य जगहों के परिणाम भुगत रहे हैं। इस कारण हमें इन समझौतों का विरोध कर इन्हें रोकना चाहिए। हम उनके इस दुष्प्रचार का पर्दाफाश करेंगे कि इन औद्योगिक विकासों से अदिवासियों का विकास होगा। शोषक सरकारी कानूनों के खिलाफ एक जमीनी युद्ध लड़कर हम सब इसका विरोध करेंगे।

वनउत्पाद और वनसंपदा हमारी है

हमारे आदिवासी जीवन की तुलना ईंधन से की जा सकती है। वन क्षेत्रों में बड़ी-बड़ी परियोजनाओं के कारण लाखों आदिवासी विस्थापित हो रहे हैं। लेकिन हमें कहीं कोई सिंचित जमीन नहीं मिल रही है। हलांकि हम विभिन्न

उद्योगों के लिए कच्चे माल की निरंतर अपूर्ति करते हैं, फिर भी एक दिन में एक मील चलना हमारे लिए असंभव होता जा रहा है। थोड़ा-सा भी हमारा प्राकृतिक संसाधन हमारे लिए नहीं है। परिणाम स्वरुप हम अन्न संग्रहण के लिए वन उत्पादों को इकट्ठा करते हैं जो आदिमानव की स्मृति है। सरकार ने वन उत्पादों का मनमाने ढंग से विभाजन कर दिया और कहा कि हम केवल लघु वन उत्पादों का ही संग्रहण कर सकते हैं। बड़े वन उपजों पर हमारे अधिकार को छीन लिया गया। हालांकि सरकार ग्राम सभाओं पर खूब लफ्फाजी करती है लेकिन व्यवहार में उनका कभी सम्मान नही किया गया। जो लोग 73वें संविधान संशोधन को एक क्रांति के रूप में प्रचारित करते हैं उन्हें अब आंखें खोलकर देखना चाहिए कि वे किस भ्रम में हैं। हम वन उत्पादो का संग्रहण कई सीमाओं में रहकर करते हैं।

एक ओर जहां हम उन उत्पादों को इकट्ठा करने में अपनी रीढ़ तोड़ रहे हैं उससे ज्यादा उन पर अधिकार के लिए लड़ रहे हैं। जिन ढेर सारे वन उत्पादों को लूटकर बाहर ले जाया जाता है उनका संग्रहण भी हम ही करते हैं। इसके लिए हमें बहुत कम पैसा दिया जाता है। तेंदू पत्ता के संग्रहण, पेड़ों की कटाई, पत्तल बनाने के लिए एकत्र की जाने वाली पवुरू पत्तियों आदि के लिए बहुत कम दर पर भुगतान किया जाता है। हमारा शोषण करने वाले पूंजीपतियों को मालिकाना अधिकार मिला हुआ है। इसी तरह संग्रहित वन उत्पादों को लेकर जब हम बाजार जाते हैं तो हमारा भंयकर शोषण होता है। इस साम्राज्यवादी युग में कुछ भी स्थानीय नहीं बचा है। सब कुछ विश्व बाजार से जुड़ा हुआ है। भूमंडलीकरण की नीतियों के कारण खुदरा व्यापारी बाहर हो रहे हैं और ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं बचा है जहां बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने प्रवेश न किया हो। अकेले बस्तर से 1100 करोड़ रुपये प्रति वर्ष से ज्यादा कमाने के लिए बड़े बड़े निगमित घराने गला काट प्रतियोगिता कर रहे हैं। केवल उन्हें रोक कर ही हम जंगलों पर अधिकार के संघर्ष को विजयी बना सकते हैं। लोहा, मैग्नीज, कोयला, चूनापत्थर, ग्रेनाईट, बॉक्साईट, डोलामाईट, टीन, किंबरलाईट तथा कोरंडम के अलावा सोना तथा हीरा भी यहां प्रचूर मात्रा में पाया जाता है। कम्प्यूटर युग में, जहां कच्चे माल को निकालकर औद्योगिक वस्तुओं में तब्दील किया जाता है। वहां मानव जीवन इससे अलग नहीं बचा रह सकता। इसी कारण टाटा, एस्सार, जिंदल, निक्को, रिलायंस, गोदावारी इस्पात, रायपुर लीड्स आदि स्पर्धारत हैं। वैसे भी हमारे जीवन को उन्होंने हर जगह लूटा है। जो कुछ बचा है उसका भी शोषण करने के लिए राज्य सरकारों के साथ घुल

मिल रहे हैं और हमारे इलाके में सड़क बना रहे हैं जो कि खनिज संसाधनों से भरा हुआ है। वे हमसे औद्योगिक विकास से स्वर्ग लाने का दावा कर रहे हैं। आदिवासियों के बीच की विशिष्ट मध्यकालीन सामंती ताकतें पूरी तरह उनका सहयोग कर रही हैं। वे सभी निर्दयी तथा फासीवादी दमनकारी ताकतों को जंगलों में भर रहे हैं। जो लोग अपने आस्तित्व के लिए लड़ रहें हैं उन्हें वे अलग-थलग कर रहे हैं। नागरनार और कलिंग नगर हमारे सामने सबसे ताजा उदाहरण हैं। कुव्वेमारा, चारगांव तथा रावघाट – जहां जनता के प्रतिरोध के कारण उन्हें अपना शोषण बंद करना पड़ा – हमारे लिए आदर्श हैं। उनके लाभ के लिए हम अपने इलाकों पर उन्हें अधिकार करने तथा अपने आपको मारने की इजाजत नहीं देंगे। हम अपने अस्तित्व के लिए लड़ेंगे। पिछले पच्चीस वर्षों के संघर्ष को और तेज करने का हमारा संकल्प है। हम प्रतिज्ञा करते हैं कि, 'हम आपस में नही लड़ेंगे और इस देश की सभी आदिवासी तथा अन्य शोषित जनता के साथ मजबूत एकता क़ायम करेंगे।'

जनता की संस्कृति को पतनशील बनाने वाले सरकारी पर्यटन को बंद करो!

दण्डकारण्य का अविभाजित बस्तर 'छत्तीसगढ़ कश्मीर' के नाम से जाना जाता है। इस क्षेत्र में घने जंगल विशिष्ट वनस्पतियां, पक्षियों की विशिष्ट प्रजातियां, जल प्रपात, प्राचीन गुफायें, मानव ऐतिहासिक प्रगति को समझने में सहायक मूल्यवान प्राचीन निर्मितियां, मंदिर तथा धार्मिक प्रचार केंद्र पाये जाते हैं। इस क्षेत्र का हस्तशिल्प विश्व विख्यात है। भारत तथा विदेशों से कई पर्यटक यहां घूमने आते हैं। विभिन्न मानव समुदायों के आपसी विकास को समझने के लिए ये सब सहायक हैं। शोषक सरकार का एक मात्र महत्वपूर्ण काम यहां गलाकाट प्रतियोगिता करके रुपये को डॉलर में तब्दील करना है। इन खूबसूरत जगहों को राष्ट्रीय उद्यान, वन्य जीव सुरक्षागृह, बाघ संरक्षण केंद्र आदि जैसे नाम दिये गये हैं। पर्यटकों को लुभाने के लिए इनके बारे में अभूतपूर्व तरीके से प्रचार-प्रसार किया जाता है। मौज मस्ती भरी सुविधा प्रदान करने के लिए यहां सितारा होटल तथा अन्य सैरगाह भवनों का निर्माण किया जा रहा है। सरकार इसकी स्वयं सबसे बड़ी प्रर्वतक है।

राज्य हिंसा के खिलाफ विद्रोही जनता

1980 तक हमारा जीवन असहनीय था। हमें क्रूर राज्य के दमन का सामना

करना पड़ता था। हमें पूरी दुनिया से कटकर अपनी सीमित दुनिया में जिंदा लाश बनकर रहना पड़ता था। बिना किसी विकास के शोषण, दमन तथा जमींदारों, साहूकारों, ठेकेदारों, बड़े पूंजीपतियों, सरकारी अधिकारियों तथा अपराधियों की अधीनता के कारण हमारा श्रमयुक्त जीवन बरबाद हो गया था। इन सब मामलों के लिए 1980 हमारे जीवन का अहम मोड़ था। मनुष्य के रूप में अभिमान के साथ अपना सर उठाकर कैसे जिया जाय हमने सीखा और इतिहास में पहली बार संगठित होने लगे। भारी संख्या में आदिवासी महिला और पुरुष जनसंगठनों से जुड़ने लगे। एक अलग महिला संगठन का निर्माण किया गया। हजारों गांवों में संगठन बनने लगे। सैकड़ों सदस्यों वाले संगठन विभिन्न स्तर पर नेतृत्वकारी भूमिका में आए। पचास हजार से ज्यादा की सदस्यता के साथ महिला संगठन की इकाई काम कर रही है।

ऐसा एक भी संघर्ष नहीं है जिसको हम संगठित महिलाओं ने नहीं लड़ा हो। सामाजिक और राजनीतिक तथा दैनिक जीवन से जुड़े कई मुद्दों के लिए हमने संघर्ष किया। इनमें से कई में हमने सफलता हासिल की। महिला और पुरुष बराबर हैं, समान मजदूरी के लिए समान भुगतान, महिलाओं पर पितृसत्तात्मक हिंसा बंद करो आदि नारों के साथ हमने आत्मसम्मान के लिए संघर्ष किया। परिणामतः हमारे क्षेत्र में महिलाओं को संपत्ति में बराबर की भागीदारी तथा समान काम के लिए समान भुगतान मिलने लगा। अब महिलाओं पर पहले जैसा अत्याचार हिंसा तथा अधीनता नहीं है। घरेलू हिंसा में बहुत कमी आई है। महिलाओं की राय का सम्मान किया जाने लगा है। ग्रामीण समाज में लिए जानेवाले सभी निर्णयों में महिलओं की भागीदारी होने लगी है। लेकिन यह सारे परिवर्तन इच्छाविहीन रहकर नहीं हुए हैं। दंडकारण्य में होनेवाला प्रत्येक बदलाव लड़ाई के बाद ही हासिल किया गया है। इस संघर्ष प्रक्रिया में हमें टाडा और पोटा जैसे कुख्यात दानवी कानूनों के अंतर्गत बहुत परेशान किया गया। हम अभी भी इनसे जूझ रहे हैं। एक निर्दोष आदिवासी महिला पौड़ीबाई (मषेली, देवोरिथा, गोंदिया जिला, महाराष्ट्र) को टाडा के अंतर्गत पकड़ा गया और छह साल तक जेल में सड़ाया गया। छूटने के कुछ दिन बाद ही बीमारी के कारण उसने दम तोड़ दिया। इन शोषक सरकारों के द्वारा आदिवासियों के साथ कैसे क्रूर व्यवहार किए जाते हैं यह इस तथ्य से आसानी से समझा जा सकता है कि कैसे झूठा आरोप साबित करके चैतीपल्लो नामक महिला को उम्र कैद दी गई जो पहली महिला उम्रकैदी थी। वह महाराष्ट्र के गढ़चिरौली जिले के भैरमगढ़ ताल्लुका के मल्लमपुदुर गांव की रहनेवाली थी। धूर्त पुलिस ने

दावा किया कि निर्दोष चैतीपल्लो 1991 में लाहिड़ी पुलिस थाने पर आक्रमण में शामिल थी। परिणामस्वरूप टाडा न्यायालय द्वारा अक्टूबर 2004 में फैसला सुनाया गया, जिससे उन्हें अपने एक वर्ष छोटे बच्चे के साथ 18 साल तक सीखचों के पीछे रहने को बाध्य किया गया।

गिरफ्तारी और कैद के अलावा महिलाओं को पुलिस को अन्य कई घृणित हिंसाओं का सामना करना पड़ता है। प्रताड़ना, यौन उत्पीड़न तथा मानसिक उत्पीड़न आदि आंदोलनरत इलाकों की महिलाओं के लिए सामान्य बात बनती जा रही है। इतना ही नहीं जिन चार महिलाओं ने अन्य महिलाओं का विश्वास हासिल किया तथा जो नेतृत्वकारी भूमिका में थी उन्हें देवरी पुलिस द्वारा 1993 में गिरफ्तार किया गया था तब से आज तक वे गायब हैं। संघर्षरत महिलाओं को गोलीबारी में मार देने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। दिसंबर 2002 के अंत में हजारों आदिवासी महिला तथा पुरुषों ने अपनी महत्वपूर्ण मांगों के लिए पर्णशाला (खमाम जिला आंध्रप्रदेश) की सड़कों पर प्रदर्शन किया। खूंखार आंध्रप्रदेश पुलिस ने उनपर गोली चलाई जिसमें कुछ प्रदर्शनकारी मारे गये थे। जो महिलाएं पुलिस की क्रूरता तथा अत्याचारों का विरोध करती हैं उन्हें मार दिया जाता है और प्रचारित किया जाता है कि उन्होंने नक्सलियों को मार गिराया है। बारहवीं लोकसभा चुनाव के पहले मार्च 2004 में दांतेवाड़ा के भैरमगढ़ के ब्लॉक पल्ले गांव की बुदिरी के साथ पुलिसवालों ने बलात्कार किया और फिर उन्हें मार डाला। इससे दुनिया के सामने संसदीय लोकतंत्र का असली चेहरा बेशर्मी से उजागर हुआ। युवतियां इस तथ्य को जानती हैं कि राज्य हिंसा हम पर फासीवादी तरीके से थोपी जा रही है जबकि राज्य शांति व अहिंसा के मंत्रों का उपदेश भी दे रहा है और खोखला गांधीवाद खाली हाथों से पराजित नहीं किया जा सकता। इसके लिए दंडकारण्य सशस्त्र संघर्ष के अंग के रूप में हथियार उठाना ही होगा। वे (दंडकारण्य के) लोग हमारे समर्थन में दृढ़ता से खड़े हैं। हम उनकी बहादुरी का अभिवादन करते हैं। उनके बलिदान 'आधा आकाश हमारा है' की खुशियां ला रहे हैं। दंडकारण्य के क्रांतिकारी आंदोलन को पूरी तरह छिन्न-भिन्न करने का प्रयत्न – जो गिरफ्तारी, अत्याचार, हिंसा, कत्ल, गुमशुदगियां आदि से प्रमाणित होता है, हमारे आंदोलन को नहीं रोक सकता। जून 2005 में सेना द्वारा दमन की शुरूआत हुई थी जो 'सफाई अभियान' के रूप में जाना जाता है। वह अभी भी चल रहा है उसका नाम है सल्वा जुडूम।

सल्वा जुडूम

सल्वा जुडूम 18 जून 2005 को आरंभ किया गया था। तब से ही आदिवासी लोगों को मारा जा रहा है। मीडिया के द्वारा इसे गलत और व्यापक तरीके से प्रचारित किया गया कि यह एक स्वतः स्फूर्त शांति मार्च है। शासक वर्ग संपूर्ण विश्व को पूरी तरह से एक अलग तस्वीर दिखा रहा है कि गांधी जी के रास्ते के अनुसार इस शोषणकारी व्यवस्था के खिलाफ यह शांतिपूर्ण क्रांति है। एक वर्ग को उखाड़ने तथा उसकी राजनीतिक ताकत को छीनने के लिए एक वर्ग द्वारा युद्ध किया जा रहा है। दंडकारण्य के निर्माण के इतिहास का अध्ययन वर्गसंघर्ष के इतिहास का अध्ययन है। हम जब तक इसको नहीं समझेंगे सेना, पुलिस, अर्धसैनिक बल, भारतीय सरकार के प्रमुख विभागों के उच्चाधकारी, सरकारी अधिकारी, मंत्रालय, विपक्षी कांग्रेस पार्टी के शांति व हिंसक तरीकों द्वारा चलाये जा रहे इस दमन अभियान को नहीं समझ सकते। वास्तव में यह एक दमनकारी सैन्य अभियान है। यह जनता का सामूहिक संहार है। यह आखिर दंडकारण्य में ही क्यों हो रहा है?

वर्तमान समय में दंडकारण्य के बारे में बात करने का तात्पर्य है भ्रूण रूप में उभरती जनता की शक्ति के बारे में बात करना। दंडकारण्य के बारे में जानने का मतलब है हर जगह स्थानीय सामंती वर्चस्व के खिलाफ जनता द्वारा सर्वाधिक जनवादी तरीके से संपूर्ण आजादी के साथ एक नये विकल्प की तथा एक नई व्यवस्था के निर्माण के बारे में जानना। इसको (सल्वा जुडूम को) पीछे से भारत के बड़े पूंजीपतियों का सहयोग मिल रहा है। यह समस्या उनके तात्कालिक एजेंडा से संबंधित हितों से जुड़ी है इसलिए सल्वा जुडूम की शुरूआत हुई। जो मानवाधिकार संगठन हमारे क्षेत्र में आए सभी ने पर्याप्त प्रमाण दिखाया कि सल्वा जुडूम का मतलब हत्या, अत्याचार, लोगों को जिंदा जलाना, महिलाओं पर क्रूर आक्रमण, शोषण, संपत्ति का नुकसान, खेती तथा घरों का जलाना है। लगभग सौ साल पहले भूमकाल विद्रोह (1910) के दमन के लिए ब्रिटिश शासन द्वारा भेजी गई मद्रास रेजीमेंट के भयंकार उत्पात मचाने तथा नरसंहार करनेवाले लोग अभी भी बचे हैं। बच्चों और बूढ़े लोगों को भी नहीं बख्शा गया है। गर्भवती महिलाएं मारी जा रही हैं। इस दमन अभियान में महिलाओं को क्रूर दमन का सामना करना पड़ रहा है। बलात्कार के अलावा ऐसी महिलाओं की संख्या-जो अपने पति को खो चुकी हैं और बच्चों को जन्म दे रही हैं – में लगातार वृद्धि हो रही है। अनाथ बच्चों की संख्या बढ़ रही है। पिछले आठ महीने में लाइसेंसधारी गुंडों (पुलिस) तथा सल्वाजुडूम के गुंडों

द्वारा सौ से भी ज्यादा महिलाओं का बलात्कार किया गया है। स्थानीय पुलिस द्वारा अतिरिक्त बल के साथ मिलकर विस्तृत पैमाने पर पुलिस शिविर लगाया गया है। इन शिविरों में जिन्हें नक्सलवादियों द्वारा प्रभावित लोगों के लिए राहत शिविर के नाम से जाना जाता है उनके (पुलिस तथा सल्वाजुडूम के गुंडों) आक्रमण से डरे हुए लोग रह रहे हैं। ये शिविर यातना शिविरों की याद दिलाते हैं। इन शिविरों में कई औरतों का बलात्कार किया गया है और अब वे गर्भवती हैं। अब तक अठारह सौ घरों को जलाया जा चुका है। चार करोड़ से ज्यादा की लघु संपत्ति का (मुर्गियां, बकरी, घर, खेती आदि) नुकसान हो चुका है और 150 से ज्यादा लोग मारे गए हैं। सल्वा जुडूम के नाम पर यह विध्वंस हमारी कोया समुदाय को पूरी तरह अलग-थलग करने के लिए है। वे हमारी झोपड़ियों से शांति, खुशहाली, संबंध, सहयोग, आदर और न्याय को बर्बाद कर रहे हैं। हम अपनी यातना, त्रासदी, क्रोध, अन्याय, बर्बरता और कठिनाइयों के साथ बचे हुए हैं। अब आप हमारी झोपड़ियों से कर्सद गीत (मृत्युगान) के अलावा कोई दूसरा गीत नहीं सुन सकते। आप केवल वही साज सुन सकते हैं जो हम अंत्येष्टि संस्कार के समय बजाते हैं। आप केवल वही नृत्य देख सकते हैं जो मृत्यु के बाद लोगों को श्रद्धांजलि देते समय किया जाता है। यह एक भयावह स्थिति है। इनसे बाहर आने के लिए हमारे पास अपने युद्ध को और तेज करने के अलावा और कोई विकल्प नहीं है। वर्तमान में हम पूरी तरह युद्ध में व्यस्त हैं। हमारे शरीर दुश्मनों की गोलियों से छलनी हैं। हमारे गिरते हाथों से हथियार लेने के लिए प्रत्येक दिन नई शक्तियां उभर रही हैं जबकि दुश्मन हमारे भाई और बहनों का मानवीय कवच के रूप मे इस्तेमाल कर रहा है और उन्हें मार दे रहा है। हम उनके बलिदान हुए चेहरे के सामने कसम खाते हैं कि हमारा युद्ध नहीं रूकेगा। 22 नवंबर को पेड़ाकोरमा में कामरेड बुदिरी की मौत हो गई। जब पुलिस ने उन्हें मानवीय सुरक्षा चक्र के लिए इस्तेमाल किया। वह चार बच्चों की मां थी। हम उन्हें क्रांतिकारी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। इस जनयुद्ध में लगे लोगों को बचाने में लगे अपने बच्चों को हम विनम्र श्रद्धांजलि देते हैं, जिन्होंने अपनी जान गंवा दी। इस युद्ध में बहुत सारे लोग घायल हुए हैं। उनके लिए दवाई और स्वास्थ्य सुविधाओं की कमी हो रही है। हमारी परंपरागत कोया आयुर्वेदिक चिकित्सा उपचार की मुख्य दवा है जो लोगों को बचा रही है। हम महिलाएं कुछ अतिरिक्त समस्याओं से जूझ रही हैं। इन अक्रमणों के दौरान हम बचपन से प्रौढ़ावस्था तक की सारी समस्याओं को सुलझा रही हैं। युद्ध हमें सब कुछ सिखा रहा है। हमें इस बात की खुशी है कि

यह सेमीनार इस वक्त हो रहा है और इस विचार को खारिज कर हो रहा है कि महिलाओं की प्रकृति युद्ध के खिलाफ है। युद्ध हमारे जीवन का रास्ता बन गया है। हमारे क्षेत्र में आइए, हमारे साथ सहयोग करिए, हम सब मिलकर लड़ाई लड़ेंगे, हमारे दुश्मन एक हैं, हमारे उद्देश्य एक हैं, हमारे संघर्ष, हमारे रास्ते एक ही हैं। (अंग्रेजी से अनुवाद : अनामिल)

(17-18 मार्च, 2007 को रांची में 'क्रांतिकाकरी आदिवासी महिला मुक्ति मंच' के सेमिनार में प्रस्तुत)

- मई, 2007

अध्याय - 24

जनयुद्ध और दलित-प्रश्न

कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ नेपाल (माओवादी)

*सामाजिक सुधार कभी भी मजबूतों की कमजोरियों द्वारा नहीं बल्कि हमेशा कमजोरों की ताकत द्वारा किये जाते हैं - **कार्ल मार्क्स***

(Social reforms are never carried out by the weakness of the strong; but always by the strength of the weak) - ***Karl Marx to working class: quoted in Francis wheen***

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। किन्तु आज 21वीं सदी में भी जाति व्यवस्था कायम है जिसमें तथाकथित ऊंची जातियों द्वारा दलितों को अछूत बना दिया गया है। इसलिए, दलितों की स्थिति मनुष्य कौन कहे, जानवरों से भी बदतर है। दलितों पर अत्याचार दक्षिण एशिया की विचित्र परिघटना है। यह पुरातन और घृणित जाति व्यवस्था से रूग्ण हिन्दू समाज की देन है।

ऐतिहासिक रूप से जाति व्यवस्था श्रम विभाजन का उत्पाद है, जिसमें मानसिक श्रम करने वाले ब्राह्मण, युद्ध करनेवाले क्षत्रिय, व्यापार करने वाले वैश्य तथा शारीरिक श्रम करने वाले शूद्र के रूप में वर्गीकृत किये गये। ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी के दौरान, ऋगवैदिक काल में, इस तरह के श्रम विभाजन ने न तो कठोर रूप और न ही वर्ग रूप प्राप्त किया था। परिणामतः, हर व्यक्ति को हर समय मनोनुकूल व्यवसाय चुनने की स्वतंत्रता थी। लेकिन वैदिक काल के आने पर, कृषि के विकास ने जड़बद्ध और बंद जाति व्यवस्था को जन्म दिया जिससे लोग अपनी पुश्तैनी जाति को पीढ़ी दर पीढ़ी ग्रहण करने लगे। इससे मानसिक श्रम करने वाले ब्राह्मणों तथा शारीरिक श्रम करने वाले शूद्रों को समाज व्यवस्था में क्रमशः सबसे ऊंचा तथा सबसे नीचा स्थान मिला।

समय के साथ शूद्र, जातियों और उप जातियों में बंटते चले गये तथा उनके बीच ऊंच-नीच की व्यवस्था कठोर तथा जड़बद्ध होती गयी। ईसा पूर्व पहली शताब्दी के आस-पास मनु ने वर्णाश्रम व्यवस्था को संहिता में बांधा। आज वही शूद्र दलित कहे जाते हैं।

इस तरह प्राकृतिक अर्थव्यवस्था के अंदर दलित पहले वंचित वर्ग थे जो शारीरिक श्रम करते थे लेकिन जिनको अपने श्रम का फल तथा उत्पादन का साधन रखने का अधिकार नहीं था।

एक गैर सरकारी आंकड़े के अनुसार दलित नेपाल की कुल आबादी के बीस प्रतिशत हैं। अस्सी प्रतिशत दलित गरीबी रेखा के नीचे जीते हैं। ज्यादातर भूमिहीन हैं तथा दूसरों की जमीन पर रहते हैं। अतः हमेशा उखाड़े जाने के भय में वे जीते हैं।

आर्यों के नेपाल प्रवेश से पहले मुख्य रूप से यहां मंगोलियन, पहाड़ी क्षेत्र में, तथा आस्ट्रो-द्रविड़ मैदानी तराई क्षेत्र में निवास करते थे। 11वीं सदी ईस्वी सन में मुस्लिम आक्रमण से बचने के लिए उत्तर भारत के हिन्दू नेपाल चले आये तथा साथ में जाति-व्यवस्था भी लेते आये। नेपाल के गैर-हिन्दू समुदायों में भी जात-पांत फैला तथा दलितों को समाज से बहिष्कृत किया गया। भौगोलिक दृष्टि से नेपाल के दलित पहाड़ी तथा तराई या मधेशी दलित में बंटे हुए हैं। राष्ट्रीयता की दृष्टि से नेपाली दलितों के तीन भाग हैं, पहाड़ी, नेवाड़ी (अर्थात काठमांडू घाटी के दलित) तथा मधेशिया दलित, जिनमें नेवाड़ी तथा मधेशिया दलित उत्पीड़ित राष्ट्रीयता में आते हैं। तीनों में मधेशी दलितों की माली हालत सबसे खराब है। मधेशी दलितों में 70 प्रतिशत आबादी भूमिहीन है, उनके बीच जातिभेद भी बहुत हैं जिसके चलते उनमें एकता की भी उतनी ही कमी है। तराई क्षेत्र में मजबूत सामंतवाद के कारण वे समाज से ज्यादा बहिष्कृत हैं। वे राष्ट्रीयता के आधार भी सताये जाते हैं क्योंकि पुरानी राज व्यवस्था में उनमें से ज्यादातर लोगों को नागरिकता प्राप्त नहीं है। पुरानी राजव्यवस्था सभी मधेशियों को भारतीय समझता है।

यह अजीब लगता है कि 21वीं सदी में भी प्राचीन परंपराओं का हिन्दू राजा राजकीय हिन्दू धर्म को बचाने के लिए मध्ययुगीन अत्याचार को स्वीकृति प्रदान करता है। दलित मुद्दा गैर सरकारी संस्थाओं के लिए डॉलर कमाने का एक जरिया है, संशोधनवादी वामंपथ के लिए दलित भावनाओं को दूहकर वोट बैंक की राजनीति करना है तथा क्रांतिकारी कम्युनिस्टों के लिए यह व्यवहार में परिणत होने का इंतजार करता हुआ एक सिद्धांत बना रहा है।

एनजीओ और दलितप्रश्न

यह उल्लेखनीय है कि दक्षिण एशिया के संदर्भ में जाति प्रथा सामंतवाद का महत्वपूर्ण तत्व है। सामंती तथा साम्राज्यवादी दोनों ताकतें अपने फायदे में जाति व्यवस्था का इस्तेमाल करती हैं। सामंती ताकतें जाति व्यवस्था को धर्मों को आपस में तथा धर्म के भीतर वर्गों को आपस में लड़ाने के लिए इस्तेमाल करती हैं। साम्राज्यवादी ताकतें दलित मुद्दे का इस्तेमाल उत्पीड़ित जनता को विभाजित करने में करती हैं। वे जाति व्यवस्था को अक्षुण्ण रखते हुए इसे पृथक पहचान रूप में रेखांकित करती हैं और आर्थिक उदारीकरण को सभी समस्याओं का हल बताती हैं।

उत्पीड़क शासक वर्ग शोषितों की तुलना में बहुत ज्यादा वर्ग चेतन होते हैं क्योंकि उन्हें एक विशाल आबादी पर शासन करना होता है। ऐसा वे शोषित वर्गों को बांट कर तथा उनमें से कुछ को एनजीओ के माध्यम से रोटी का टुकड़ा फेंककर करते हैं। जो समुदाय जितना ज्यादा गरीब होता है, उनके लिए एनजीओ को उतना ही ज्यादा फंड आवंटित कराया जाता है। इसलिए दलित मुद्दे तथा दलितों के भीतर दलित औरतों के मुद्दे एनजीओ तथा अंतर्राष्ट्रीय एनजीओ के लिए खूब बिकाऊ होते हैं। इन सभी योजनाओं का उद्देश्य दलितों के वर्गीय चेतना को कुंद करने के लिए क्रांतिकारी कम्युनिस्टों को उनसे दूर रखना होता है। ऐसा करने के उनके विभिन्न तरीके हैं।

दलितों को ब्राह्मण-विरोधी, मनु-विरोधी तथा ओबीसी-विरोधी के रूप में इतना ज्यादा प्रचारित किया जाता है कि दलित पहचान संकीर्णतावादी चरित्र ग्रहण कर लेता है। ब्राह्मण संस्कृति से लड़ने के नाम पर वह दलित ब्राह्मणवाद व्यवहृत करने लगता है जिसके तहत अपनी पहचान खोने के डर से स्त्री-पुरूषों को दूसरी जातियों, धर्मों तथा समुदायों में विवाह करने से रोकते हैं। उत्पादन संबंधों एवं दलितों-गैर-दलितों के बीच सांस्कृतिक संबंधों के सामंती चरित्र पर चोट करने की जगह राष्ट्रीय/अंतर्राष्ट्रीय एनजीओ गैर-दलितों के साथ झगड़ों से बचने के नाम पर अलग पानी का नल, मंदिर, समुदायिक भवन आदि बनाकर उनके अलगाव को और ज्यादा बढ़ावा देते हैं। दलितों में एकता मजबूत करने के लिए विभिन्न दलित जातियों का जमात बनाने की जगह वे अलग-अलग दलित जाति का अलग संगठन बनाने के लिए प्रोत्साहित करते हैं और फिर ज्यादा-से-ज्यादा फंड पाने के लिए उनमें प्रतियोगिता पैदा करते हैं। इसका परिणाम होता है कि अपेक्षाकृत शिक्षित और उन्नत दलित जातियां ज्यादा फंड पाने में सफल होती हैं, जिससे दलितों के बीच विभाजन होता है।

इस पूरी प्रक्रिया के दौरान मध्यवर्गीय अवसरवादी दलित नेता भी तैयार किये जाते हैं जिनका इस्तेमाल संसदीय राजनीति के तहत वर्गीय शासन को चलायमान रखने के लिए किया जाता है।

कई राष्ट्रीय अंतर्राष्ट्रीय एनजीओ हिन्दू फासिस्टों के साथ मिलकर साम्प्रदायिक दंगे भी भड़काते हैं। भारत में गुजरात के गोधरा में 2002 में हिन्दू-मुसलमानों के बीच जो दंगे हुए वह इसका एक उदाहरण है। ऐसा पाया गया कि कई हिन्दू फासिस्ट एनजीओ दलित पहचान के संकट को उनमें मुसलमानों से भय तथा उनके खिलाफ हिंसा करने के लिए प्रेरित करने में इस्तेमाल करते हैं।

अंत में अंध कम्युनिस्टों, जो वर्गीय शोषण को इतनी प्रमुखता देते हैं कि उन्हें दलित शोषण दिखायी नहीं पड़ता है, की विफालता को भी ये एनजीओ अपने पक्ष में भंजाते हैं। इन गैर सरकारी संगठनों (एनजीओं) ने उत्तर आधुनिक विचारधारा के जहर का इस्तेमाल कर संभावित कम्युनिस्ट दलितों को अपने में मिला लिया।

इन तमाम विश्लेषणों का यही निष्कर्ष है कि क्रांतिकारी कम्युनिस्ट दलित उत्पीड़न को दक्षिण एशिया क्षेत्र में क्रांतिकारी आंदोलन के रणनीतिक एवं मूलभूत मुद्दे के रूप में अंगीकार करें।

कम्युनिस्ट और दलित प्रश्न

1949 में नेपाल की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना के समय से दलित प्रश्न ब्राह्मण और क्षत्री ऊंची जातियों के कम्युनिस्ट कैडरों की परीक्षा लेता रहा है कि वे कहां तक सच्चे कम्युनिस्ट बन पाये हैं। इस परीक्षा को उन्होंने दलितों के घरों में प्रवेश कर तथा उनके साथ दारू पीकर उत्तीर्ण करना चाहा। लेकिन उनका यह भोला सांस्कृतिक विद्रोह शायद ही कभी दलितों से विवाह करने या पार्टी में उन्हें नीति निर्धारक पदों पर बैठाने तक पहुंच पाया।

दलित प्रश्न पर नेपाली कम्युनिस्ट आंदोलन की तीन धारायें हैं। पहली, संशोधनवादी, दूसरी, नव-संशोधनवादी तथा तीसरी क्रांतिकारी धारा। संशोधनवादी दलित प्रश्न को विशुद्ध रूप से आर्थिक-सामाजिक सवाल समझते हैं, जिसका समाधान संसदीय कानूनी प्रक्रिया से क्रमिक सुधार द्वारा होना है। वे इसे एक पृथक मुद्दे के रूप में देखना चाहते हैं। संसदीय रास्ते के राही यूनाइटेड मार्क्सवादी-लेनिनवादी पार्टी (यूएमएल) इस धारा का प्रतिनिधित्व करता है। नव संशोधनवादी, दलित सवाल को वर्गीय सवाल का दर्जा देकर

ज्यादा क्रांतिकारी होने की कोशिश करता है किन्तु अभी समय नहीं आया है के नाम पर वर्ग संघर्ष से दूर भागता है। समय के साथ वे एक नये रूप वाले संशोधनवादी बन जाते हैं। दूसरी संसदीय पार्टी यूनिटी सेंटर मसाल इस धारा की है। क्रांतिकारी धारा दलितो के शोषण को जातिगत शोषण के रूप में लेती है जो वर्गीय शोषण की महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति है। यह जाति संघर्ष (Caste struggle) को वृहत वर्ग संघर्ष (Class struggle) के साथ जोड़ता है। नेपाल की कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) इसी धारा की पार्टी है। यह न केवल अपने दलित मोर्चा को महत्व देता है बल्कि संघर्ष के विशिष्ट स्वरूप को विकसित करने की अनुमति तथा जनता के नये राज्य में विशेष अधिकार भी देता है। यह दलितों के सैन्यीकरण पर बल देकर उनको जन सेना में शामिल होने के लिए प्रोत्साहित भी करता है।

क्रांतिकारी कम्युनिस्ट दलित प्रश्न को गंभीरता से क्यों लें, इसके कई कारण हैं। सबसे पहला और सबसे महत्वपूर्ण कारण है कि उनके जीवन की वस्तुगत परिस्थितियां उन्हें कम्युनिस्ट सिद्धांत का स्वभाविक मित्र बना देती हैं। विश्व के परिवर्तन का सवाल विशेष रूप से क्रांतिकारी कम्युनिस्टों के लिए महत्वपूर्ण है। माओवादी पार्टी महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति (GPCR) को बहुत महत्व देता है जिसका नारा 'विद्रोह करना सही है' दलितों को विशेष तौर पर आकर्षित करता है।

दलित समाज का सबसे प्रमुख अंतर्विरोध यह है कि वे समाज के लिए बहुत से उपयोगी कार्य जैसे गलियों, नालियों, पखानों की सफाई, कूड़े-कचड़े, मरे जानवरों को इकट्ठा करके जगह पर पहुंचाना, जूतों-बैगों आदि की मरम्मत करना आदि करते हैं किन्तु उसी समाज से बहिष्कृत होते हैं। इसके चलते दलितों में अपने आप से अलगाव (Self-alienation) होता है जो उनके तनाव मुक्ति के लिए नशा करने का, दलित औरतों के वेश्यावृति के धंधे में फंसने का कारण बनता है। उनके समाज का दूसरा अंतर्विरोध यह है कि दलित जातियों में आपस में ऊंच-नीच, छुआछूत, पवित्र-अपवित्र की समस्या बनी रहती है जो उन्हें विभाजित तथा कमजोर बनाता है। इस तीखे अलगाव को पुरानी राजसत्ता के खिलाफ, उनको नास्तिक बनाकर, विद्रोह में बदला जा सकता है, उनमें महान सर्वहारा चेतना भरी जा सकती है तथा नये क्रांतिकारी राज्य के प्रति उनको निष्ठावान बनाया जा सकता है।

दलित आंदोलन, राजनीतिक दृष्टि से, सामंतवाद विरोधी होता है तथा इसलिए नये जनवादी आंदोलन में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका बनती है। दलितों

के ऊपर थोपे गये सभी धार्मिक, कर्मकांडों तथा दासता की बेड़ियों को पूंजीवाद खत्म करता है। कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में पूंजीवादी क्रांति जितनी ज्यादा पूर्ण होगी, आगामी सामाजिक क्रांति के लिए उतना ही ज्यादा अनुकुल वातवारण तैयार होगा। क्योंकि नवजनवादी क्रांति का मुख्य काम प्रतिक्रियावादी ताकतों के ऊपर तानाशाही लागू करना तथा शोषितजनों के लिए लोकतंत्र की स्थापना करना होगा, इसलिए सभी शोषितजनों में दलित ही क्रांतिकारी कम्युनिस्टों के सबसे नजदीकी मित्र होंगे। ऐसा इसलिए है कि प्रतिक्रयावादियों के ऊपर जो अभी भी मध्ययुगीन शोषण के तौर-तरीके अपना रखे हैं तानाशाही शासन प्रणाली की सबसे फौरी जरूरत दलितों को है। पुरानी पतनशील संस्कृति उनकी ऐतिहासिक दासता पर टिकी हुई है इससे छुटकारा पाने के लिए सेल्यूलर, लोकतांत्रिक वातावरण तथा आधुनिक दृष्टिकोण की उन्हें जरूरत है। सामंती ताकतों ने उनके काम को कभी कोई सम्मान नहीं दिया है जिसका इतना ज्यादा सामाजिक महत्व तथा आर्थिक मूल्य है।

दलित आंदोलन का मजबूत साम्राज्यवाद विरोधी चरित्र रहा है जो नव जनवादी आंदोलन को मजबूती प्रदान करेगा। साम्राज्यवाद राष्ट्रीय पूंजीवाद के विकास में रोड़ा है जो न केवल दलितों से उसका मूल पेशा छीन ले रहा है बल्कि अपने हुनर को विकसित करके देश के संगठित उद्योग में शामिल होने से भी रोक रहा है। साम्राज्यवाद उनके प्राकृतिक संसाधनों की भी लूट करता है जिसके माध्यम से उत्पादन करके वे अपनी जीविका चलाते आये हैं।

दलित ऐतिहासिक रूप से मेहनतकश जनता रही है, इसलिए क्रांतिकारी कम्युनिस्टों को उनमें सर्वहारा दृष्टिकोण भरना चाहिये। नवजनवादी क्रांति सीमित प्राकृतिक अर्थव्यवस्था, जिसमें दलितों का हुनर कैद होकर रहता है, को तोड़ने में मदद देकर उनके शहरीकरण, औद्योगीकरण का रास्ता तैयार कर कालांतर में राजसत्ता का समाजीकरण करता है। यह समाज में जातिभेद को खत्म करने का आधार तैयार करेगा।

दलितों को यह भी जानना होगा कि तथाकथित सकारात्मक कार्रवाई (Affirmative actions) सकारात्मक विभेद, पक्षपाती कार्रवाई, भेदभाव विरोधी कानून, आरक्षण आदि विशेष प्रावधान, जो दलितों की स्थिति में सुधार लाने के लिए पुराने राज्य ने बनाये हैं, उनको लागू करने के लिए बल प्रयोग के बिना निरर्थक साबित होंगे। गरीब और भूमिहीन दलितों को जानना होगा कि दलितों के लिए पृथक निर्वाचन, पृथक बस्ती, पृथक पहचान या इस शोषणकारी व्यवस्था में दलितों की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति

अंततः अभिजात मानसिकता के दलित पैदा करेंगे जो शीर्ष वर्गीय राज्य सत्ता में समाहित कर लिये जायेंगे। हिन्दू धर्म के खिलाफ विद्रोह में बौद्ध धर्म, ईसाइयत या अन्य किसी धर्म को स्वीकार करने से दलित न केवल अपनी समस्या के समाधान को लंबित रखेंगे बल्कि अपने आप को धार्मिक राजनीति के झमेले में फंसा देंगे, जो कि प्रतिगामी होगा। इसके अलावा कोई भी देख सकता है कि हिन्दुओं के अलावे बाकी सभी धर्म-इसलाम, ईसाई, बौद्ध, सिक्ख आदि कम से कम भारतीय संदर्भ में जाति व्यवस्था को ढो रहे हैं।

वर्ग संघर्ष एकीकृत दलित संघर्ष के साथ जुड़ाव वाले वर्ग संघर्ष एवं विद्रोह करने के अधिकार को संस्थाबद्ध करके ही जाति आधारित समाज व्यवस्था एवं दलित-पिछड़ा के जीवन को बदला जा सकता है।

यदि कम्युनिस्ट दलित प्रश्न को एक स्वतंत्रत एकीकृत मुद्दे के रूप में संबोधित नहीं करते हैं तो दलित समुदाय के भीतर विद्यमान अवसरवादी तत्व दलित मुद्दे को पहचान की राजनीति में घटा कर रख देंगे जिससे साम्प्रदायिक, संकीर्णतावादी राजनीति को ही प्रोत्साहन मिलेगा और दलित अंततः घुटन भरे जाति शोषण के शिकार तथा साम्राज्यवादी-सामंती ताकतों के हाथ का औजार बनकर रह जायेंगे।

(2)

नेपाल में जनयुद्ध की विशेषता यह है कि नेपाल की कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) दलितों और औरतों समेत नेपाल के सभी पीड़ित वर्गों को लामबंद करने में सफल रही है। दलितों पर हो रहे अत्याचार सबसे ज्यादा गंभीर और गहराई तक परंपरा-आबद्ध होते हैं। नेपाल की कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) ने दलित शोषण को विशेष प्रकार के शोषण का दर्जा देते हुए दलितों को दलित लिबरेशन फ्रंट के अंतर्गत संगठित किया। दलित मुद्दों पर नीतियां बनाने के लिए पार्टी की केन्द्रीय समिति के अधीन दलित विभाग काम करता है। सीपीएन (एम) ने इस सवाल पर कई महत्वपूर्ण प्रस्ताव पारित किऐ हैं जिनमें पार्टी, सेना तथा राज्य संगठनों में दलितों को प्रतिनिधित्व का खास अधिकार देना शामिल है।

संसदीय तथा अर्द्धसंसदीय तंत्र द्वारा दिये जाने वाले आरक्षण के अधिकार तथा नवजनवादी राजसत्ता द्वारा दिये जा रहे विशेष अधिकारों के बीच के अंतर को समझना महत्वपूर्ण है। आरक्षण हमेशा ही प्रबुद्ध बुर्जुआ वर्ग द्वारा दी जाने वाली एक सहूलियत होती है। इससे दलित हमेशा उनकी दया पर जीते हैं। ऐसे अधकिार; दलितों के बीच से बुर्जुआ पैदा करने, यदि दलित बुर्जुआ पहले से

मौजूद नहीं हैं, या दलित बुर्जुआ की परंपरा को आगे बढ़ाने के लिए, यदि दलित बुर्जुआ पहले से मौजूद है, दिये जाते हैं। ऐसे आरक्षण अधिकार सभी क्षेत्रों में नहीं बल्कि कुछ विशेष क्षेत्रों में ही दिये जाते हैं। इसके विपरीत, दलित अपने विशेष अधिकार वर्ग संघर्ष, खास दलित संघर्ष तथा विद्रोह करने के अधिकार को संस्थागत रूप देने के लिए किये गये संघर्ष की ताकत से प्राप्त करते हैं। ये विशेष अधिकार सभी क्षेत्रों में लागू किये जाते हैं, और गरीब दलितों पर विशेष जोर देते हैं तथा सामंती तथा साम्राज्यवादी प्रतिक्रियावादी ताकतों पर तानाशाही के साथ लागू किये जाते हैं।

नेपाल के जनयुद्ध में दलितों द्वारा उत्साहपूर्वक भाग लेने का प्रमाण है कि जनयुद्ध का पहला शहीद ग्यारह वर्षीय दलित गोरखा छात्र दिल बहादुर रामतेल था जो पुलिस की गिरफ्त से स्कूल के हेडमास्टर को छुड़ाने के लिए अन्य छात्रों के साथ 27 फरवरी, 1996 को गया तथा मारा गया। जनयुद्ध के पिछले दस वर्षों में सैंकड़ों दलितों ने अपने आप को कुर्बान किया है। इनमें दलित मुक्ति मोर्चा के महासचिव कामरेड प्रेम बराइली तथा केन्द्रीय समिति के सदस्य कामरेड चिता बहादुर, कामरेड शंकर दरलामी, कामरेड बाल बहादुर तथा कामरेड रामकुमार शामिल हैं। कालिकोट की चालीस प्रतिशत आबादी दलित है। यह कभी दलितों पर अत्याचार का गढ़ हुआ करता था, ऊंची जाति में गिने जाने वाले ठाकुर उनसे घंटों बेगारी खटवाते थे तथा ऊंची जाति के लोगों के घरों के अहाते में उनके घुसने पर रोक थी। आज जनवादी राज्य के अधीन कई क्षेत्रों, जिलों तथा इलाकों में दलित प्रधान हैं। स्वयात्त क्षेत्रीय जनपरिषद में दलितों की बीस प्रतिशत भागीदारी है। ग्राम जन समिति तथा जिला जन समिति में लगभग 20-25 प्रतिशत दलितों की भागीदारी है। देश भर में दलितों पर होने वाले अत्याचारों में 75 प्रतिशत तथा आधारभूत क्षेत्रों में 90 प्रतिशत की कमी आयी है।

2004 की रिपोर्ट के अनुसार मध्य कमांड के अधीन विशेष क्षेत्र (ऐसे सात क्षेत्र पूरे देश भर में है) में पचास हजार आठ सौ दलितों को सदस्यता दी गयी है, जन मुक्ति सेना (पीएलए) में 1775 दलित हैं, 1996 में जनयुद्ध की शुरूआत से अब तक 207 दलितों की शहादतें हुई हैं। इस इलाके में दलितों के सत्रह मॉडल गांव कायम हैं जिनमें 90 प्रतिशत आबादी ने दलितों के साथ भेदभाव खत्म कर दिये हैं।

माओ के कथन 'क्रांति को ग्रहण करो तथा उत्पाद को बढ़ाओ' को दलितों पर सोच समझकर लागू किया गया है। इस क्रम में उन्हें राजनीतिक, सामाजिक,

आर्थिक, सैनिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में सक्रिय किया गया है। नव जनवादी राज्य में उनको विशेष अधिकार दिये गये हैं, उनके कौशल को युद्ध उद्योग में काम में लाया गया है। स्थानीय स्तर पर देशी तथा स्वचालित बंदूकों, ग्रेनेड आदि बनाने तथा मरम्मत करने में, पीएलए के सैनिकों के लिए वर्दियां बनाने, सांस्कृतिक दलों के लिए पोशाक, बैग, झोला आदि तैयार करने तथा चमड़ा उद्योग में दलितों के कौशल को लगाया गया है।

मिलीट्री क्षेत्र में एक बड़ा परिवर्तन आया है। पुराना राज्य मिलीट्री में उनको भर्ती करने से बचता था। पीएलए और मिलिशिया ने दलितों को अपने आक्रोश को जाहिर करने के लिए मंच दिया है। जनयुद्ध ने क्रांतिकारी विचारधारा तथा गोला-बारूद-हथियार से दलितों को लैस करके उन्हें प्रतिरोध की क्षमता से लैस किया है। आज वे प्रतिक्रियावादी शोषक वर्ग पर तानाशाही व्यवहृत करने के लायक हैं। वे पीएलए में शामिल होकर रोमांचित होते हैं क्योंकि इस क्षेत्र में तेज गति से परिवर्तन घटित होते हैं। अस्पृश्यता पीएलए में एक अपराध है तथा यहां अंतरजातीय विवाहों की संख्या तेजी से बढ़ी है। दलितों के सामाजिक बहिष्कार को खत्म करने के प्रयास दो स्तरों पर किये जा रहे हैं, पहला जनता के स्तर पर, तथा दूसरा, प्रतिक्रियावादी वर्गों के स्तर पर। जनता के स्तर पर अंतरजातीय विवाह तथा अंतरजातीय भोज आयोजित किये जाते हैं तथा जाति संबंधी सभी अंतर्विरोध एकता, संघर्ष एवं रूपांतरण के द्वारा हल किये जाते हैं। मामला जब प्रतिक्रियावादी वर्गों का होता है तो पहले उन्हें चेतावनी दी जाती है तथा जनअदालत के द्वारा अस्पृश्यता के खिलाफ कार्रवाई की जाती है। इसके अंतर्गत छुआछूत मानने वालों के घरों में जबर्दस्ती घुसकर उनके नल आदि छुए जाते हैं। दलित मुक्ति मोर्चा, नेपाल ने अस्पृश्यता को अपराध घोषित कर दिया है। सांस्कृतिक क्षेत्र में, दलितों में जहां-जहां नशाखोरी की आदत मौजूद है वहां औरतों तथा मोर्चा के संयुक्त प्रयास से नशाखोरी को खत्म किया जाता है। दलितों को सफाई का महत्व समझाया गया है। गाने, बजाने तथा नाचने के उनके परंपरागत पेशे को क्रांतिकारी सांस्कृतिक क्षेत्र में काम में लाया गया है। क्रांति के सभी क्षेत्रों में दलितों की बढ़ती भागीदारी तथा युद्ध उद्योग में उनके कौशल के इस्तेमाल के चलते दलितों में आत्मविश्वास का संचार हुआ है। आंदोलन के भीतर एवं बाहर उनको इज्जत दी जाती है।

दलित मुक्ति मोर्चा शहीद गेट, विश्रामालाय तथा जले हुए घरों आदि को बनाने का काम भी करता है। जहां संशोधनवादी वाम पार्टियां मंदिर प्रवेश की लड़ाई लड़ने के लिए दलितों को प्रोत्साहित करती हैं, वहीं सीपीएन (एम)

दलितों को हिन्दू मंदिरों तथा सामंतों की जमीन पर कब्जे में कर सामंतवाद तथा धर्म के आर्थिक आधार को कमजोर करने के लिए प्रेरित करती है। एक उदाहरण के रूप में पश्चिम नेपाल के अरधाकांची जिले में चतरागंज गांव को लें जहां 2004 में गांव के मंदिर के जमीन को कब्जे में लिया गया। जब्त किये गये जमीनों के बंटवारे में भी दलितों को वरीयता दी जाती है। स्थानीय दूध डिपो का बहिष्कार किया जाता है तथा उनके खिलाफ कार्रवाई की जाती है, यदि वे दलितों से प्राप्त दूध को लेने से मना करते हैं। वर्तमान सामंती आर्थिक आधार को बदलना जरूरी है जिससे नयी व्यवस्था में इन नूतन परिवर्तनों को जारी रखा जा सके।

जनयुद्ध और दलित स्त्री का सवाल

जनयुद्ध ने दलित औरतों की स्थिति को भी जबर्दस्त तरीके से बदल डाला है। वे तीन तरह के अत्याचारों को सहती आ रहीं थीं – वर्ग, जाति और पितृसत्ता। वे नियमित रूप से अपने पियक्कड़ निराश पतियों के हाथों घरेलू हिंसा को झेल रहीं थीं। पुलिस एवं ऊंची जातियों के साथ दलितों के झगड़े में पुलिस एवं ऊंची जातियों से बलत्कृत हो रहीं थीं। उनकी छवि चरित्रहीन तथा सेक्स वस्तु की बना दी गयी है जिसको ऊंची जातियों एवं वर्गों के द्वारा इस्तेमाल कर फेंक दिया जा सकता है। दलितों में सबसे निचले पायदान पर अवस्थित बाड़ी जाति के औरतों की स्थिति सबसे दयनीय है जहां बेटियों के लिए ग्राहक ढूंढ़ने का काम मां-बाप ही करते हैं। दलित शोषण गहराई से धर्म, कर्मकांड तथा सामाजिक व्यवहार में धंसा हुआ है, इसलिए दलित औरतों को सबसे ज्यादा जाति शोषण सहना पड़ता है। दलित पुरूषों के विपरीत दलित स्त्रियां प्रायः उत्पादक श्रम से कटी रहती हैं तथा उनकी स्थिति मुख्य रूप से बच्चे पैदा करने तथा घर की देखभाल करना होता है। उन पर प्रायः डायन-जोगिन का आरोप लगाकर हमला किया जाता है तथा कभी-कभी उन्हें मानव मल खाने के लिए मजबूर किया जाता है। उनकी बेरहमी से पिटायी की जाती है, कभी-कभी तो पत्थर मारते-मारते उनको मार दिया जाता है। मधेशी दलित औरतों पर ऐसे जुल्म सबसे ज्यादा ढाये जाते हैं।

जनयुद्ध ने उन्हें नयी पहचान तथा नयी ताकत दी है। 1998 में कालीकोट जिले में पुलिस से ग्रामीण औरतों द्वारा हथियार छीनने की ऐतिहासिक घटनाओं में शामिल सभी औरतें दलित थीं। वे आज जन समितियों, जनमोर्चों आदि में महत्वपूर्ण पदों पर हैं तथा पीएलए में कमांडर तथा उप-कमांडर हैं। सांस्कृतिक

जन संगठनों में भी वे महत्वपूर्ण पदों पर हैं। पीएलए के पश्चिमी कमांड की बटालियन कमांडर कल्पना दलित हैं और वह शहीद कामरेड योधा, जो कालिकोट के दलित ब्रिगेड के उप-कमांडर थे, की पत्नी हैं।

पूर्ण दलित लिबरेशन के रास्ते में बाधाएं

प्रायः कहा जाता है कि सामाजिक क्रांति आर्थिक क्रांति से ज्यादा समय लेती है। यह बात पुरातन और जड़बद्ध दलित शोषण के साथ और भी सत्य है। दलितों ने नौ सालों के जनयुद्ध में जो पाया है वह निश्चय ही एक परिघटना है। जाति बंधनों को तोड़ने के मामले में नेपाल के दलित आज भारतीय दलितों से काफी आगे हैं। तथापि कुछ कठिनाइयां हैं जिनका दलितों की पूर्ण मुक्ति के लिए समाधान किया जाना है। पार्टी के अंदर भी कुछ मामले आते रहते हैं जिनमें दलित कैडरों को उस तकलीफदेह अनुभव से गुजरना होता है जब ऊंची जातियों के पार्टी कैडरों के परिवारों में उनको स्वीकृति नहीं मिलती, खासकर जनयुद्ध के विस्तारित क्षेत्रों में। इसी तरह नेपाल के कतिपय क्षेत्रों में पार्टी के दलित हमदर्दों की शिकायत होती है कि ऊंची जातियों के पार्टी संगठनकर्ताओं को दलितों के बीच काम करने में हिचकिचाहट होती है। पुराने राजसत्ता के दमन चक्र के तेज हाने पर कोई विकल्प नहीं होने पर ही वे दलितों के घरों में आश्रय लेते हैं। ऐसी कमियों को पार्टी के अन्दर नियमित दुरूस्तीकरण की प्रक्रिया को चलाकर दूर किया जा सकता है। यौन अपराध की तरह दलितों के साथ भेदभाव के खिलाफ कठोर कार्रवाई करने की मांग दलित कैडर पार्टी में जोरदार तरीके से उठाते रहे हैं। जनता के स्तर पर दलित मुक्ति मोर्चा के सक्रिय हस्तक्षेप तथा संगीन मामलों में जन अदालत की कार्रवाइयों के चलते दलितों के साथ सामाजिक भेदभाव में कमी आयी है। जनयुद्ध के विस्तारित इलाके में गैर-माओवादी दलितों के साथ बराबरी का व्यवहार करने में अभी भी हिचकिचाहट है। जबकि माओवादी दलित कैडरों को ऊंची जातियों के घरों में प्रवेश पर कोई दिक्कत नहीं आती है किन्तु उसी गांव के गैर-माओवादी दलितों को कभी-कभी भेदवभाव सहना पड़ता है। सीपीएन (एम) तथा दलित मुक्ति मोर्चा के सामने यह चुनौती है कि गैर-माओवादी तथ माओवादी दलितों के बीच इस भेद को कैसे खत्म करें। कई मामलों पर, उत्पीड़ित समूहों को भी प्रबुद्ध ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों की अपेक्षा दलितों के मामले में ज्यादा दकियानूसी पाया गया है।

दलित माओवादी कैडरों के साथ कुछ मनोगत समस्यायें भी हैं यद्यपि उनका

खूब सशक्तिकरण भी हुआ है। उनमें हीनभावना है, सत्ता के प्रति गुलामी का भाव है तथा अपने ही समुदाय को विभाजित करने की प्रवृत्ति है, जो कि ऊंची जाति के लोगों के द्वारा उन्हें लंबे समय तक गुलाम बनाये रखने के कारण है। पार्टी में इसकी अभिव्यक्ति इस तरह होती है कि वे अपनी जाति पहचान छुपाते हैं या केवल विशुद्ध दलित मुद्दों पर अपना ध्यान केंद्रित करते हैं, अपने ज्ञान का विस्तार नहीं करते तथा नेतृत्व की जिम्मेदारी उठाने से कतराते हैं। इस तरह की प्रवृतियों के खिलाफ दलितों को खुद आलोचना-आत्मलोचना की प्रक्रिया में जाना होगा जिससे खुद को बदल सकें। गुलामी की मानसिकता से मुक्त होने का समय है। ऊंची जातियों के लिए भी समय है कि वह दलितों के प्रति अपनी मानसिकता को बदलें।

निष्कर्ष

"कम्युनिस्ट क्रांति पारंपरिक संपत्ति संबंधों से सबसे क्रांतिकारी ढंग का संबंध विच्छेद है; स्वाभाविक रूप से इसके विकास की प्रक्रिया में पारंपरिक विचारों से सबसे क्रांतिकारी ढंग का संबंध विच्छेद शामिल है।" - कार्ल मार्क्स : कम्युनिस्ट मनिफेस्टो

जनयुद्ध के शुरू होने के बाद दलित शोषण रणनीतिक मुद्दा बनने लगा। दलित मुक्ति में बाधक पुराने हिन्दू राज्य को हमले का निशाना बनाकर दलित मुक्ति मोर्चा, नेपाल ने सही दावा किया है कि सामंत-विरोधी तथा साम्राज्यवाद-विरोधी जनवादी राज्य की स्थापना किये बगैर दलित मुक्ति एक मिथक है। दलित मोर्चे ने विचारधारा, संगठन तथा संघर्ष के बीच द्वंद्वात्मक रिश्ते को सही पकड़ा है। वे आज क्रांति के तीनों अंगों में विद्यमान हैं; पार्टी, जन मुक्ति सेना तथा संयुक्त जन मोर्चा।

दक्षिण एशिया के क्रांतिकारी कम्युनिस्टों को दलित प्रश्न को रणनीतिक महत्व देना होगा क्योंकि आज दक्षिण एशिया क्रांति की आंधी का केंद्र बन चुका है। मनोगत रूप से क्रांति की संभावना का दोहन करने के लिए इस क्षेत्र के सबसे ज्वलंत सवाल पर ध्यान ले जाना होगा। दलित शोषण इस क्षेत्र की ऐसी ही एक समस्या है जिसका इस क्षेत्र की जनता के लिए बड़ा आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक महत्व है। इस उपमहाद्वीप की माओवादी पार्टियों को दलित समुदाय को सबसे विश्वस्त शोषित समूह मानकर अपने साथ लाना होगा। इसके लिए औरतों का या दूसरे जन संगठनों की तरह दलितों का अलग से जन संगठन बनाना होगा। क्रांतिकारी कम्युनिस्टों को समझना

होगा कि लंबी अवधि में इससे वर्गीय मुद्दे मजबूत ही होंगे न कि कमजोर; जैसा कि कुछ कठमुल्ले कम्युनिस्टों का विचार होता है। ठोस परिस्थिति का ठोस विश्लेषण के सिद्धांत को लागू करके ही दक्षिण एशिया के संदर्भ में मार्क्सवाद-लेनिनवाद माओवाद की रक्षा की जा सकती है, उसको लागू तथा विकसित किया जा सकता है। दलित सवाल ऐसे ही कदमों की मांग करता है। शोषण के विभिन्न मुद्दों, खासकर दलित मुद्दों, को संबोधित करने से माओवादी पार्टियां अपनी मोनोलिथिक छवि को तोड़ती है तथा समाज में व्याप्त सभी प्रवृतियों को समाहित करने वाली एक व्यापक छवि बनाती है। इससे उत्पीड़ित समुदायों में कम्युनिस्ट नेतृत्व के फैलने में मदद होती है। जैसा कि लेनिन ने कहा था, 'सामाजिक जनवादियों का आदर्श ट्रेड यूनियन का सेक्रेट्री नहीं होना चाहिये, उसका आदर्श तो जनता के प्रतिनिधियों का ऐसा ट्रिब्यून होना चाहिये, जो अन्याय, अत्याचार एवं उत्पीड़न की प्रत्येक घटना के खिलाफ प्रतिक्रिया कर सके, वह घटना चाहे जहां, जिस वर्ग तथा जनता के हिस्से के साथ घटित हो।' ('क्या करें,' 1902)

अंत में, कम्युनिस्टों को केवल दलित उत्पीड़न नहीं बल्कि पूरी जाति व्यवस्था की खिलाफत करनी चाहिये क्योंकि यह शोषकों और शोषितों के बीच तीव्र वर्गीय ध्रुवीकरण को रोकता है। दक्षिण एशिया में दलितों को माओवादी पार्टियों के साथ संगठित होना चाहिये क्योंकि प्रतिक्रियावादी ताकतों के ऊपर बलप्रयोग की सख्त जरूरत है और साथ ही उन्हें उत्पादन के विकसित साधन, धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक वातावरण तथा विकसित दृष्टिकोण की जरूरत है जिससे वे पिछड़ी संस्कृति से बाहर निकल सकें। दूसरे उत्पीड़ित समुदायों से उत्पीड़ित होने के बावजूद दलितों को इन समुदायों से एकता करनी होगी जिससे शोषक वर्गों के खिलाफ संयुक्त रूप से लड़ा जा सके। इन समुदायों के बीच के अंतर्विरोध को अविरोधी तरीके से हल करना होगा। केवल माओवादी पार्टियां जिनके पास विकसित वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा जनपक्षीय राजनीतिक लाइन तथा क्रांतिकारी व्यवहार है तथा जो उत्पीड़ित जनसमुदाय में नास्तिकता, सामूहिक तथा वैश्विक दृष्टिकोण भर सकते हैं, इस अंतर्विरोध को हल कर सकते हैं। दलितों को समझना होगा कि उनकी पूर्ण मुक्ति दूसरे उत्पीड़ित समुदायों की मुक्ति के साथ जुड़ा हुआ है। यह मुक्ति सर्वहारा के अधिनायकत्व तथा लगातार क्रांति की सफलता पर निर्भर करती है। यह महत्वपूर्ण है कि सभी उत्पीड़ित समुदायों का सशक्तिकरण तथा उनके बीच सहयोग केवल सर्वहारा के नेतृत्व में संभव है क्योंकि सर्वहारा की कोई लैंगिक, जाति, धार्मिक तथा

राष्ट्रीय पहचान नहीं होती है सिवाय वर्गीय पहचान के। जहां इसके पास खोने के लिए जंजीरों के अलावा कुछ नहीं होता है।

अंत में उन उत्पीड़ित समुदायों को जो अभी भी दलितों को दबाते हैं हम मार्क्स के उस कथन को याद दिलाते हैं जो उन्होंने प्रथम इंटरनेशनल में कहा था : 'जो जनता दूसरों को गुलाम बनाती है वह अपने लिए जंजीरों को खुद ही रचती है।'

[सीपीएन (एम) के मुख पत्र 'द वर्कर' 10 मई, 07 से साभार। अनुवाद-जन विकल्प टीम]

- जून और जुलाई, 2007 अंक में धारावाहिक प्रकाशित

अध्याय - 25

हाशिये के लोग और पंचायती राज अधिनियम

लालचंद ढिस्सा

सत्ता, शक्ति और प्रबन्धन के विकेन्द्रीकरण और जैव विविधता का सीधा सम्बन्ध होना चाहिए। जब तक ऐसा नहीं होगा, तब तक हाशिये के आदमी के शोषण की सम्भावना बनी रहेगी। क्योंकि 1950 यानी कि संविधान के लागू होने तक विद्यमान सत्ता, शक्ति और प्रबन्धन के विकेन्द्रीकरण का ही परिणाम है, देश की चौथाई से अधिक जनसंख्या का मानवेत्तर सामाजिक स्तरीकरण, प्रस्थिति तथा शोषण। आज देश की जनसंख्या के एक महत्वपूर्ण हिस्से की दशा में बहुत सुधार हुआ है तो उसका कारण है सत्ता, शक्ति और प्रबंधन का तथाकथित केन्द्रीकरण। यह देश विविधताओं से भरा है, कई रंग, कई रूप, तरह-तरह के लोग, तरह-तरह की भाषा बोलियां, तरह-तरह का स्वाद, तरह-तरह की खूशबू और न जाने क्या-क्या है? इसलिए विकेन्द्रीकरण की जब भी बात होगी, विविधता का प्रश्न अवश्य उठेगा। यह ध्यान रखना होगा कि विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया में कहीं शक्तिहीन, अल्पसंख्यक, कमजोर और हाशिये की जाति-प्रजातियों के साथ अन्याय तो नहीं हो रहा है। विशेषकर उन समूहों या समुदायों के अस्तित्व और हित का ध्यान रखा जाना अनिवार्य होगा जो आज भी हाशिये पर हैं। क्योंकि यह देखा गया है कि अनेक बार जाने-अनजाने ऐसे बहुत से कार्य हो जाते हैं जिसके परिणाम कुछ लोगों के लिए अनर्थकारी हो जाते हैं। एक अच्छे और नेक उद्देश्य को लेकर किया गया कार्य कैसे कुछ समुदायों या समूहों के लिए अभिशाप बन जाता है, इसका उदाहरण है जनजातियों के अस्तित्व और हितों को सुरक्षित रखने के लिए बनाया गया केन्द्रीय (संसद) विधान-पंचायत उपबंध (अनुसूचित क्षेत्रों पर विस्तार) अधिनियम 1996।

उपरोक्त विधान ने अनुसूचित जनजातिय समाजों (गैर आदिम) के अन्दर

बहुत बड़े प्रश्न खड़े किये हैं। इसके परिणामस्वरूप गैर आदिम जनजातिय समाजों के लिए बहुत बड़े हिस्से को उनके प्रजातांत्रिक एवं संवैधानिक अधिकारों से भी वंचित होना पड़ा है। आदिम जनजातिय समुदायों के संदर्भ में तो ये वैधानिक प्रावधान सही और उचित हो सकते हैं लेकिन गैर आदिम जनजातिय समाजों के लिए यह अधिनियम अभिशाप बन गया है। इस अधिनियम के साथ जुड़े हुए व्यक्तियों एवं अभिकरणों ने इस बात की कल्पना तक नहीं की होगी कि उनका यह कदम एक विशेष वर्ग के लिए इतना अनर्थकारी प्रमाणित होगा। उन गैर आदिम जनजातिय समाजों में जहां पर हिन्दू धर्म के तर्ज पर सामाजिक स्तरीकरण विद्यमान है, के दलितों को पूर्ण रूप से प्रभुवर्ग के शोषण के लिए उपलब्ध करवा दिया गया है। भारत के अनुसूचित जनजातिय समाजों के एक करोड़ से भी अधिक दलितों को, जो आज भी हाशिये पर हैं, इस अधिनियम के चलते पंचायतों में प्रतिनिधित्व तक प्राप्त नहीं है। केंद्रीय (संसद) विधान पंचायत उपबंध (अनुसूचित क्षेत्रों पर विस्तार) अधिनियम 1996 को हिमाचल प्रदेश के अनुसूचित क्षेत्रों के संदर्भ में 1997 में हिमाचल प्रदेश विधानसभा ने समाविष्ट कर लिया। परिणामस्वरूप अनुसूचित क्षेत्र जिला किन्नौर के 28% दलित (1991 की जनगणना के अनुसार) के लिए अनुसूचित जाति का आरक्षण वर्ष 2000 के पंचायत चुनावों से समाप्त कर दिया गया। फलस्वरूप 2001 की जनगणना में उनकी जनसंख्या में भारी कमी दर्ज की गई और जो 1991 में 19153 थी वह 2001 में 7625 रह गई। इसी प्रकार अन्य क्षेत्रों का भी हाल इससे अच्छा नहीं है। ज्ञातव्य है कि अनुसूचित क्षेत्र लाहौल के संदर्भ में पंचायत प्रधानों के पदों में आरक्षण नहीं रखने संबंधित अधिसूचना को हि.प्र. उच्च न्यायालय में चुनौती दी जा चुकी है, और न्यायलय के निर्णय की प्रतीक्षा की जा रही है। इसलिए इस मामले में अधिक कहना उचित नहीं होगा क्योंकि मामला न्यायालय के विचाराधीन है।

यह सब क्यों हुआ? इसके दो करण हैं – पहला कारण यह है कि इस देश के हर आदमी, विशेषकर तथाकथित शिक्षित और अगड़ों को लगता है कि वे हर तरह से पूर्ण हैं, ज्ञान-विज्ञान आदि से। दूसरा सदियों से चली आ रही षड़यंत्र की आदत, जिससे आज भी निजात नहीं पाई जा सकी है। जिसके चलते तथाकथित बुद्धिजीवियों, विद्वानों, नेताओं, नौकरशाहों, प्रभूवर्ग एवं निहित स्वार्थों ने ऐसा माहौल बनाया जिससे कि जनजातिय, आदिवासी, कवायली, गिरिजन, वनवासी, अनुसूचित जनजाति आदि (न जाने कितने नाम दिये जा

चुके हैं) के बारे में आम आदमी के दिमाग में एक भयंकर और कौतूहलपूर्ण विचार आ जाता है। जनजातीय व्यक्ति के रूप में दिमाग में ऐसे जानवर की तस्वीर बन जाती है जिसे 'शोकेस' में डालकर रखा जा सकता हो। पंचायती राज अधिनियम विशेषकर पंचायत उपबन्ध (अनुसूचित क्षेत्रों पर विस्तार) अधिनियम 1996 के लागू होने से इस प्रकार की विसंगतियां क्यों पैदा हुईं? इसका कारण है बुद्धिजीवियों, नीतिनिर्धारकों, व्यवस्थापकों द्वारा समस्त अनुसूचित जनजातिय समाज या समूहों को समजातीय (Homogeneous) समझना और निहित स्वार्थों तथा इन समाजों एवं समूहों के प्रभु जातियों एवं शोषकों के द्वारा अनुसूचित जनजातिय समाजों एवं समूहों को समजातीय (Homogeneous) एवं एकाश्मी (Monolithic) प्रस्तुत करना, जो आदिम जनजातियों के संदर्भ में तो उचित हो सकता है, लेकिन गैर आदिम जनजातियों के संदर्भ में इस प्रयोग से अनर्थ हो रहा है। इन गैर आदिम जनजातियों में हिन्दू समाज की तरह ही जाति प्रथा प्रचलित है और छुआ-छूत, असमानता और शोषण भी उसी तरह रहा है। लेकिन संविधान के लागू होने के बाद जहां हिन्दू, बौद्ध तथा सिख समाज के दलितों को सामाजिक न्याय के नाम पर कुछ संवैधानिक सुरक्षाएं तथा सुविधाएं मिलीं वहीं जनजातीय दलितों या अछूतों को समाज के प्रभू वर्गों के समकक्ष बनाकर उनके साथ सामाजिक अन्याय किया गया। इसी कारण आज उनकी दशा तुलनात्मक दृष्टि से पहले से बदतर हो गई है।

अनुसूचित जनजातियों, आदिवासियों, वनवासियों, गिरिजनों आदि के नामों से जाने जाने वाले समूहों, समुदायों और समाजों के बारे में जन साधारण के अन्दर कई भ्रान्तियां हैं। मैदानी ईलाकों का आदमी इन सबको एक ही समझने की गलती कर बैठता है। यहां तक कि बुद्धिजीवी वर्ग भी इनके अंतरों को गहराई से समझने की कोशिश ही नहीं करते। यहां पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि इनमें एक या सभी समूह, समुदाय या समाज अनुसूचित जनजाति के तो हो सकते हैं, लेकिन सभी एक ही जनजाति के नहीं हो सकते। संविधान की पांचवीं या छठी अनुसूचि में सम्मिलित जो भी समूह, समुदाय या समाज हैं, वे सबके सब अनुसूचित जनजाति में तो आते है परन्तु सब के सब आदिवासी या आदिम जनजाति के नहीं है। जनजातियों के प्रति साधारणतया तथाकथित सभ्य समाज का दृष्टिकोण और कार्यपद्धति संदेहपूर्ण रही है। ऐतिहासिक काल से ही तथाकथित सभ्य लोगों ने जनजाति के लोगों को ठग कर या डरा-धमकाकर अपने स्वार्थ हल किये हैं। इनको चिड़ियाघर के जानवरों की तरह प्रदर्शन की

वस्तु बना कर पेश किया जाता रहा है, जो आज भी इनमें से ही कुछ की मदद से लगातार चल रहा है। स्वतंत्र भारत के संविधान के बनने, लागू होने और उसमें किए गए इन जनजातियों के हित रक्षा के प्रावधानों के रहते, तथाकथित सभ्य समाज के ठेकेदारों, स्वस्थापित विद्वानों, समाजसुधारकों, राजनेताओं, प्रशासकों तथा विशेषज्ञों ने इन अनुसूचित जनजातियों के प्रस्तुतिकरण में अपने-अपने स्वार्थों का ध्यान रखा है। इसी के कारण आज इन अनुसूचित जनजातियों के अन्दर भी अनेक समस्याएं और अन्तर्विरोध पैदा हुए हैं। इसी को सामने रखते हुए अनुसूचित जनजातियों के स्थापित मानकों, विधानों, अवधारणा तथा प्रस्थिति के ऊपर यह लेख लिखा गया है।

यहां जनजाति (Tribe) और अनुसूचित जनजाति (Scheduled Tribe) के बारे में जानना आवश्यक है। जनजाति (Tribe) एक नृवैज्ञानिक अवधारणा है, जबकि अनुसूचित जनजाति (Scheduled Tribe) एक संवैधानिक नामावली है। आदिम या आदिवासी अवधारणा को अंग्रेजी के एबोर्जिन (Aborgin) या ट्राईब (Tribe) नामावली के हिन्दू रूपांतर के तौर पर अधिक निकट माना जा सकता है, जबकि अनुसूचित जनजाति एक संवैधानिक नामावली है जो उन सभी समूहों, समुदायों तथा समाजों के लिए प्रयुक्त होती है जो भारत के संविधान के पांचवीं और छठी अनुसूचि में सम्मिलित हैं। जैसा कि हमने ऊपर लिखा है अनुसूचित जनजाति, एक 'सिंगल' समुदाय या समाज नहीं है। इस में समूह, समुदाय और समाज तीनों शामिल हैं। यहां पर इस बात को समझना आवश्यक है कि अनुसूचित जनजातियों का संवैधानिक तथा नृवैज्ञानिक वर्गीकरण क्या है?

क) संवैधानिक (Constitutional) आधार पर अनुसूचित जनजाति के तीन वर्ग हैं :

1. अनुसूचित (क्षेत्र) जनजातियां।
2. अधिसूचित जनजातियां।
3. यायावर जनजातियां।

1. अनुसूचित (क्षेत्र) जनजातियां [Scheduled (Area) Tribes] इस वर्ग में वे समूह, समुदाय और समाज आते हैं जो क्षेत्र विशेष से सम्बन्ध रखते हैं, जिन्हें भौगोलिक तथा विशिष्ट सांस्कृतिक आधार पर अनुसूचित जनजाति घोषित किया गया हो। हिमाचल प्रदेश में इसके उदाहरण हैं लाहौल-स्पिति, किन्नौर, पांगी, भरमौर क्षेत्र और स्वंगला, बौध, किन्नौरा, पंगवाला, गद्दी (चम्बा जिला के भरमौर जनजातिय क्षेत्र के गद्दी समाज) आदि।

2.) अधिसूचित जनजातियां (Denotified Tribes) इस वर्ग में वे समूह, समुदाय और समाज आते हैं जिन्हें उनकी विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान तथा पिछड़ेपन के कारण अनुसूचित जनजाति घोषित किया गया हो। उदाहरण – हिमाचल प्रदेश में खम्पा, गद्दी (भरमौर के बाहर, जिला चम्बा तथा कांगड़ा आदि के गद्दी समाज) आदि।

3.) यायावर जनजातियां (Nomadic Tribes) इस वर्ग में वे समूह, समुदाय और समाज आते हैं जिन्हें उनके पिछड़ेपन, सांस्कृतिक विशिष्टता तथा यायावरी के कारण, जनजाति घोषित किया गया हो। इसका उदाहरण हिमाचल प्रदेश के गुज्जर आदि हैं।

ख) नृवैज्ञानिक (Anthropological) आधार पर अनुसूचित जनजातियों को दो वर्गों में बांटा जा सकता है –

1. आदिम जनजातियां।
2. गैर आदिम जनजातियां।

1. आदिम जनजातियां (Primitive Tribes) : इस वर्ग में वे अनुसूचित जनजातियां आती हैं जो समाजशास्त्र के समुदाय की परिभाषा में आती हैं। सभी आदिम जनजातियां परम्परा से प्रकृति पूजक होती हैं। जिसका अर्थ यह है कि उनमें हिन्दू समाज की तरह जन्म पर आधारित सामाजिक स्तरीकरण या जातिप्रथा (ऊंच-नीच) प्रचलित या मान्य नहीं है अपितु उनकी अपनी एक अलग धार्मिक पहचान तथा सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था है। भारत सरकार के जनजातिय मामलों के मंत्रालय के अनुसार भारत में सिर्फ 75 आदिम जनजातियां दर्ज हैं।

2. गैर आदिम जनजातियां (Non-Primitive Tribes) : गैर आदिम जनजातियों में वे सब जनजातियां शामिल हैं जो समाजशास्त्र के समाज और समूह की परिभाषा की परिधि में आती हैं। अर्थ यह है कि इस प्रकार की अनुसूचित जनजातियों में हिन्दू या अन्य धर्म की समस्त विशेषताएं मौजूद हैं। इसमें हिन्दू धर्म की जाति प्रथा (छुआछूत) भी शामिल है। भारत सरकार की अधिसूचना के अनुसार इस वर्ग में लगभग 700 अनुसूचित जनजातियां हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि वे सभी अनुसूचित जनजाति (Schedule Tribe) की तो हैं लेकिन जनजाति (Tribe) की नहीं। इसका एक उदाहरण है हिमाचल प्रदेश जहां पर अनुसूचित जनजातियों की संख्या 10 है परन्तु इसमें

से कोई भी आदिम जनजाति के वर्ग में नहीं आती है। इस विषय में एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि आज तक अनुसूचित जनजातीय (गैर आदिम) के प्रभुवर्ग के लोग और तथाकथित बुद्धिजीवी आदि निहित स्वार्थी लोग, ईसाई और इस्लाम के ठेकेदारों की तरह यही प्रचारित करते रहे हैं कि अनुसूचित जनजातियों में जातिप्रथा (ऊंच-नीच) विद्यमान नहीं है। जबकि सच्चाई यह है कि गैर आदिम जनजातियों में से अधिकतर हिन्दू धर्म को मानने वाले समाज हैं। यदि हिन्दू धर्म को मानने वाला समाज है तो इनमें हिन्दू धर्म की समस्त विशेषताएं तो विद्यमान होंगी ही और हिन्दू धर्म की पहली और सबसे बड़ी विशेषता है, इसकी जातिप्रथा (छुआछूत)।

जनजातीय दलित देशवासियों से निवेदन करना चाहते हैं कि वे इस संदर्भ में अपने भ्रमों को दूर कर सच्चाई को समझें। हम जनजातीय दलित भी इस देश को अपना समझते हैं, इसके लिए कुछ करना चाहते हैं। क्या आजादी के 60 वर्षों के बाद भी हमें इस देश को अपना समझने का हक नहीं मिलेगा?

- मई, 2007

अध्याय – 26

सच्चर रिपोर्ट की खामियां

शरीफ कुरैशी

केन्द्रीय सरकार ने मुसलमानों के सामाजिक शैक्षणिक एवं आर्थिक स्थिति की जानकारी लेने के लिए एक उच्चस्तरीय समिति का गठन किया था जिसके अध्यक्ष, दिल्ली उच्च न्यायालय के रिटायर्ड जज श्री राजेन्द्र सिंह 'सच्चर' बनाये गये थे। कई अन्य क्षेत्रों के विद्वान इसके सदस्य थे। कई कठिनाइयों के उपरान्त समिति ने 17 नवम्बर 2006 को अपनी रिपोर्ट प्रधानमंत्री को सौंप दी है।

समिति ने हिन्दुओं को चार खानों में बांटकर अध्ययन किया है। (1) सामान्य वर्ग (2) पिछड़ा वर्ग (3) अनुसूचित जाति (4) अनुसूचित जनजाति। परन्तु, उसने मुसलमानों को मात्र एक ईकाई माना है। इस कारण कई स्थानों पर भयंकर भूलें हुई हैं, मुसलमानों को एक ईकाई मान कर किए जा रहे इस आकलन में इस तरह की भूलें आवश्यंभावी ही थीं। मसलन, रिपोर्ट में बताया गया है कि मुसलमानों के मकान बैकवर्ड हिन्दुओं की तरह हैं परन्तु अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति से अच्छे हैं। (पेज-150) इसी प्रकार शिक्षा की स्थिति में बताया गया है कि मुसलमान पिछड़े हिन्दुओं के बराबर हैं, परन्तु अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति से अच्छे हैं। (पेज-242)

उपरोक्त बातों से स्पष्ट है कि सच्चर समिति ने पिछड़े एवं अति पिछड़े मुसलमानों का सर्वे ही नहीं किया। उसे पिछड़े, अतिपिछड़े एवं दलित मुसलमानों के बारे में भी अलग से सर्वे रिपोर्ट देनी चाहिये थी। इससे मुसलमानों कि असली स्थिति उभर कर सामने आती।

मुसलमानों के अति पिछड़ा (दलित वर्ग) जैसे – मेहतर, धोबी, मोची, बक्खो, नट, लालबेगी, नालबन्द, साई, नाई, डफाली, भांट, पवड़ियां, भटियारा, मीरासन, चूड़ीहारा, जुलाहा, धूनिया, कुन्जड़ा, कसाई, कलन्दर, मदारी, भिश्ती इत्यादि की स्थिति हिन्दू दलितों से भी बदतर है। परन्तु सच्चर समिति ने इन

लोगों का न तो अलग से सर्वे किया और न ही इनका कोई डाटा पेश किया, जबकि कुल मुसलमानों की आधी आबादी इन्ही जातियों की है।

इन जातियों में 95 प्रतिशत लोगों की सामाजिक, शैक्षणिक, आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति इतनी बदतर है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता है। सरकारी एवं गैरसरकारी नौकरियों में इनकी उपस्थिति लगभग शून्य है। बी.ए और एम.ए. पास लड़के उंगलियों पर गिने जा सकते हैं, लड़कियों में तो शिक्षा है ही नहीं। सर्वे तो इन लोगों का होना चाहिए था। यह सरकार के लिए योजना बनाने में सहायक सिद्ध होता एवं योजना के अनूकुल गरीबों का उत्थान होता। आर्थिक मैदान में अति पिछड़े मुसलमानों की स्थिति पशुओं से भी बदतर है। वे अभी तक अपना जातिगत पेशा करने के लिए मजबूर हैं। जैसे – मेहतर, हलालखोर, लालबेगी मेहतर का काम करते हैं। मोची जूता एवं चमड़े का कारोबार करता है। धोबी कपड़ा धोता है, नट, मदारी, सपेरा इत्यादि सांप, भालू, बन्दर नचाते हैं। नालबन्द जानवरों को नाल ठोकता है, नाई बाल काटता है, डफली बाजा बजाता है, साई, भाटु, पवड़िया इत्यादि का पेशा भीख मांगना है, चूड़ीहारा चूड़ी बेचता है, जुलाहा कपड़ा बुनता है, कसाई मांस बेचता है, कुंजरा सब्जी बेचता है एवं धुनिया रुई धुनता है एवं रजाई भरता है। इन लोगों की सामाजिक आर्थिक एवं शैक्षणिक स्थिति हिन्दू दलितों एवं आदिवासियों से भी बदतर है। इन की कुल जनसंख्या मुसलमानों के आधी आबादी से भी अधिक है। परन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि मुसलमानों की इतनी बड़ी आबादी का सच्चर समिति वालों ने अलग से सर्वे नहीं किया।

सच्चर समिति ने स्वयं स्वीकार किया है कि अति पिछड़े वर्ग के मुसलमानों की स्थिति दयनीय है, इसे अनुसूचित जाति में शामिल किया जाना चाहिए "Arzals are the worst off and need to be handled separately. It would be most appropriate, if they were absorbed in the scheduled cast list" (Sachar Commitee Page-195.)

सच्चर समिति ने अपनी रिपोर्ट में आई.ए.एस, आई.पी.एस. और आई.एफ.एस. में तथा केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सेवाओं में मुसलमानों का प्रतिशत दिखलाया, परन्तु यह नहीं बताया की इसमें पिछड़े एवं अत्यन्त पिछड़े लोगों का क्या अनुपात है, उन्हें उनकी आबादी के अनुपात में भागीदारी मिल रही है या नहीं। आज देश को यह जानने की भी जरूरत है कि उच्च एवं उच्चतम न्यायलय में क्रिकेट, फुटबॉल एवं फिल्म जगत में कितने मुसलमान थे और हैं;

और इन में कितने पिछड़े एवं अत्यन्त पिछड़ी जाति के मुसलमान थे एवं हैं। प्रान्तों के विधानसभाओं में एवं विधान परिषदों में एवं लोकसभा-राज्यसभा में कितने मुसलमान हैं। उद्योगपति कितने हैं और इनमें पिछड़ी एवं अत्यन्त पिछड़ी जाति के कितने मुसलमान हैं?

मुसलमानों की मात्र पांच, छः जातियां उच्च वर्ग में आती हैं, बाकी पिछड़ी एवं अत्यन्त पिछड़ी जातियां 52 हैं। आबादी का अनुपात उच्च वर्ग का 20 प्रतिशत एवं पिछड़ा वर्ग का 80 प्रतिशत है। इसमें पिछड़े एवं अत्यन्त पिछड़े वर्ग के लोगों में 95 प्रतिशत लोग सामाजिक, शैक्षणिक, आर्थिक एवं राजनैतिक रूप से पिछड़े हैं।

यदि सरकार पिछड़े मुसलमानों का विकास चाहती है तो अवश्यक है कि हिन्दुओं की तरह ही मुसलमानों को भी चार हिस्सों में बांट कर सर्वे कराया जाये तभी मुसलमानों की सही तस्वीर उभर कर सामने आयेगी।

पूर्व में भी कई कमिटियों ने अपनी रिपोर्ट सरकार को सुपूर्द की है। उन रिपोर्टों में भी मुसलमानों की दयनीय स्थिति को बतलाया गया है परन्तु केन्द्रीय सरकार ने कभी भी उनके सुझावों को लागू नहीं किया। इस कारण सच्चर कमिटी की रिपोर्ट लागू ही होगी, इसकी आशा नजर नहीं आती। फिर भी यदि सरकार चाहती है कि मुसलमानों की भी सामाजिक, शैक्षणिक, आर्थिक स्थिति में सुधार हो तो निम्नलिखित सुझावों पर भी अमल करना होगा :

■ सच्चर समिति रिपोर्ट में बताया गया है कि मुसलामन अपने आप को असुरक्षित महसूस करते हैं। लेकिन असुरक्षा कैसे दूर हो यह नहीं बताया गया है। असुरक्षा दूर करने के लिए देश से साम्प्रदायिकता को समाप्त करना होगा। पिछले साम्प्रदायिक दंगों में मारे गये लोगों के परिजनों को क्षतिपूर्ति एवं पुनर्वास की व्यवस्था करायी जाये तथा साम्प्रदायिक दंगा भड़काने वाले लोगों को कड़ी से कड़ी सजा दी जाये तथा पाठ्यक्रमों से सांप्रदायिकता को हटाया जाए। मुसलमानों के विकास में साम्प्रदायिक दंगा सबसे बड़ा रोड़ा है।

■ रिपोर्ट के अनुसार मुसलमानों तक सरकार की कल्याणकारी योजनाओं का लाभ नहीं पहुंच पाता है। उन्हें लाभ पहुंचाने के लिए आवश्यक है कि केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकार, हर कल्याणकारी योजना का कुछ प्रतिशत प्रत्येक जिला के मुसलामनों के लिए निश्चित करे, लक्ष्य का निर्धारण किया जाये एवं आवंटन के विचलन को कड़ाई से रोका जाये। प्रोग्राम के कार्यान्वयन के लिए राज्य से लेकर प्रखण्ड स्तर तक देखरेख के लिए कमिटी का गठन किया जाये एवं प्रखण्ड से लेकर राज्यस्तर तक अल्पसंख्यक पदाधकिारियों की नियुक्ति

की जाये जो कार्यों को कार्यान्वित करा सकें।

■ रिपोर्ट के अनुसार पुलिस वाले अल्पसंख्यकों के साथ अत्याचार करते हैं। परन्तु इसे कैसे रोका जाए, रिपोर्ट में बताया नहीं गया है। पुलिस अत्याचार से बचाव के लिए हरिजन थाना की तरह मुस्लिम थाना प्रत्येक मुस्लिम बहुल्य क्षेत्र में स्थापित किया जाए, जिसके अधिकतर कर्मचारी एवं पदाधकिारी मुसलमान हों।

■ मदरसा शिक्षा का आधुनिकीकरण किया जाये। यदि केन्द्रीय सरकार सारा व्यय देने को तैयार हो और वह शिक्षक नियुक्ति एवं कोर्स के चयन में हस्तक्षेप न करे, भवन निर्माण का ख़र्च दे तो मदरसा शिक्षा का भी आधुनिकीकरण किया जा सकता है।

■ मुस्लिम लड़कियां उच्च शिक्षा नहीं ग्रहण कर पाती हैं। इसका भी कारण नहीं बताया गया इसका कारण है कि प्रत्येक गांव में उच्च शिक्षा की व्यवस्था नहीं है एवं असुरक्षा की भावना के कारण लड़कियों को बाहर भेज कर शिक्षा दिलाना संभव नहीं हो पाता।

■ सरकारी एवं अर्द्धसरकारी नौकरियों की नियुक्तियों में मुसलमानों के साथ भेद-भाव किया जाता है, परन्तु रिपोर्ट में यह नहीं बताया गया कि इस भेद-भाव को कैसे दूर किया जाये। इस भेद-भाव को दूर करने के लिए केन्द्रीय एवं प्रांतीय सरकारों की नियुक्ति स्थानान्तरण एवं पदस्थापन और पदोन्नति की समितियों में एक मुस्लिम सदस्य का होना आवश्यक बनाया जाये। नियुक्ति में मुसलमानों की आबादी के अनुपात में आरक्षण दिया जाये। बेरोजगार लड़कों को प्रौद्योगिक प्रशिक्षण एवं कोचिंग दिलाने का प्रबंध किया जाये, जिससे उनकी क्षमता का विकास हो सके।

■ मुसलमानों को बैंक ऋण दिलाने की सुविधा दी जाये। रिपोर्ट में यह भी नहीं बताया गया कि मुसलमान बैंक से ऋण लेने में क्यों पीछे हैं। सर्वप्रथम यह जान लेना चाहिए कि मुसलमानों के लिए सूद लेना या देना हराम है। इसलिए बैंक से बिना सूद का ऋण दिलाया जाये या लाभ का अंश निर्धारित किया जाए। शर्तें आसान बनायी जायें।

■ कई बार वोटरलिस्ट से मुसलमानों का नाम गायब रहता है। ऐसी गड़बड़ी करने वालों को कड़ी से कड़ी सजा दिलायी जाए।

■ रिपोर्ट में बताया गया है कि नवोदय विद्यालय में भी मुसलमानों का दाखिला कम है परन्तु क्यों कम है। यह नहीं बताया गया है। नवोदय विद्यालय, केन्द्रीय विद्यालय तथा सी.बी.एस.सी और आई.सी.एस.ई. में उर्दू की पढ़ाई नहीं है।

■ रिपोर्ट में बताया गया है कि मुस्लिम बहुल्य क्षेत्रों को दलित या आदिवासी चुनाव क्षेत्र के रूप में रिजर्व कर दिया जाता है। परंतु इस रिपोर्ट में यह नहीं बताया गया है कि इसके अतिरिक्त मुस्लिम क्षेत्रों को तोड़ कर ऐसे बांट दिया जाता है कि इन क्षेत्रों से मुसलमानों का प्रभाव ही समाप्त हो जाये एवं कोई भी मुसलमान सीट नहीं जीत सके।

■ समिति ने अपनी रिपोर्ट में मौलाना आजाद फाउण्डेशन के कौरपस फण्ड को बढ़ाने की बात की है। परन्तु इसके कार्यों एवं उद्देश्यों का प्रचार-प्रसार नहीं होने के कारण, मुस्लिम छात्रों को इसकी जानकारी नहीं है। आवश्यक है कि प्रत्येक जिले में इसका ब्रांच खोला जाए एवं इसके उद्देश्यों का प्रचार हो।

■ अल्पसंख्यक वित्तिय निगम के कार्यकलापों को व्यापक बनाया जाए। प्रत्येक जिले में इसका ब्रांच खोला जाए, शर्तों को आसान बनाया जाए। आवदेन देने एवं प्रक्रिया पूरी करने में एक माह से अधिक का समय न लगे। प्रत्येक माह कितने लोगों को ऋण मिलना चाहिए, इसका लक्ष्य निर्धारित किया जाए।

■ वक्फ की जायदाद के लिए, इस्लामिक नियमों के विशेषज्ञों एवं कानूनविदों की समिति बनायी जाये। National waqf Development Corporation बनाया जाए। परन्तु मेरे विचार में वक्फ को गुरुद्वारा प्रबंधक कमिटी की तरह बनाया जाना चाहिए, जिसमें अध्यक्ष तथा सदस्यों का मुसलमानों द्वारा चुनाव हो। और इस के द्वारा मुसलमानों के कल्याणकारी कार्य कराये जा सकें।

■ मुसलमानों के अति पिछड़ा वर्ग (जिन्हें 1950 से अनुसूचित जाति से हटा दिया गया था) को अनुसूचित जाति में पुनः शामिल किया जाए। जिससे हिन्दू दलित एवं मुस्लिम दलित में कानून की नजर में कोई फर्क न हो।

■ मुस्लिम बहुल्य क्षेत्रों को आरक्षण मुक्त किया जाये या मुस्लिम दलितों के लिए रिजर्व किया जाए।

■ विशेष अभियान चला कर मुसलमानों की पुलिस फौज एवं अन्य सरकारी विभागों में भर्ती की जाए।

■ अति पिछड़ा एवं पिछड़ा वर्ग के मुसलमानों को नामांकन के लिए कोचिंग एवं प्रशिक्षण का प्रबंध किया जाए।

■ विशेष अभियान चलाकर लघु उद्योग, मध्यम उद्योग तथा बड़े उद्योग लगाने में मुसलमानों को प्राथमिकता दी जाए। प्रत्येक जिले में उद्योगों की एक निर्धारित संख्या मुसलमानों के लिए आरक्षित की जाए। सिंगल विंडो सिस्टम (Single Window system) प्रत्येक जिले में स्थापित किया जाए। इसके

तहत एक माह के अन्दर सरकारी प्रक्रियायें पूरी कर जमीन एवं ऋण आदि उपलब्ध करा दिये जाएं।

■ अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थाओं को शीघ्रता से सरकारी मान्यता प्राप्त करायी जाये एवं उच्च शिक्षण संस्थान खोलने में सरकार हर प्रकार की मदद करे।

■ सरकारी जन कल्याणकारी योजनाओं का लाभ मुसलमानों को भी आवश्यक रूप से पहुंचाया जाए और भेदभाव करने वाले को कड़ी सजा दी जाए। प्रधानमंत्री राज्यस्तरीय 15-सूत्री कार्यक्रम कार्यान्वयन समिति को मजबूत बनाया जाए। अल्पसंख्यकों के कल्याण के लिए आवंटन अलग किया जाए, कार्यान्वयन के लिए प्रान्त से लेकर प्रखंड स्तर तक समिति बनायी जाए एवं प्रखंड से लेकर प्रांत तक के लिए सुयोग्य कर्मचारी एवं पदाधकिारी नियुक्त किए जाएं।

■ मुसलमानों को निर्यात (Export) की पूरी जानकारी देकर उन्हें निर्यातक बनाया जाए।

■ केन्द्रीय सरकार ने कल्याणकारी फण्ड 15 प्रतिशत भाग मुसलमानों के कल्याण के लिए अलग करने की घोषणा की है। सरकार को चाहिए कि वह स्पष्ट करे कि ये आवंटन किस प्रकार और किन-किन अवसरों पर व्यय होगा।

■ केन्द्रीय सरकार के समाज कल्याण विभाग की पुनर्वास योजना का कोई लाभ मुसलमानों को नहीं मिल पाता है। मुसलमानों के वैसे पेशा वाली जातियों को, जो अस्वच्छ धंधे में लगे हुए हैं, चिन्हित कर सरकार विशेष अभियान चलाकर उनके लिए स्वच्छ रोजगार एवं पुनर्वास की व्यवस्था करे, उनके बच्चों के शिक्षा का पूरा प्रबन्ध करे, ऐसे क्षेत्रों में ऑगनबाड़ी केन्द्र, इन्दिरा आवास स्थापित किया जाए। अच्छा हो कि इनमें शिक्षित लड़को को सरकारी नौकरी में बहाल किया जाए। जिससे इन अति पिछड़े मुसलमानों के जीवन में भी नया सवेरा आ सके।

मुसलमानों का ये अतिपिछड़ा वर्ग पूर्णतः दबा कुचला एवं शोषित है। अशिक्षा, गरीबी एवं कुपोषण के कारण इनकी स्थिति दयनीय है। मुसलमानों की इस आधी से अधिक आबादी को पिछड़ा छोड़ कर मुसलमानों की उन्नति या देश की उन्नति की बात नहीं सोची जा सकती है। इन्हें पिछड़ा छोड़ कर हम 2020 का विजन नहीं देख सकते। सरकार को प्रयास करना होगा कि सरकारी योजनाओं का लाभ पंक्ति में खड़े अंतिम व्यक्ति तक पहुंच सके। तभी इस तरह की समितियों की कोई सार्थकता होगी।

- मार्च, 2007

अध्याय – 27

संविधान पर न्यायपालिका के हमले के खिलाफ

शरद यादव

सर्वोच्च न्यायालय द्वारा संविधान की नौंवी अनुसूची में रखे गये किसी कानून की समीक्षा करने के अधिकार से खुद को लैस करने के बाद भारतीय संविधान की नौवीं अनुसूची की जो आलोचनायें हो रही हैं, वे बताती हैं कि आलोचक या तो इस अनुसूची के बारे में जानते नहीं हैं या फिर हमारे संविधान के प्रति उनमें कोई सम्मान नहीं है। नौवीं अनुसूची प्रथम संविधान संशोधन के द्वारा लाई गई और जिन्होंने इस प्रथम संविधान को लाया वे और कोई नहीं बल्कि संविधान निर्माता ही थे।

1951 में जब पहला संविधान संशोधन किया गया तो लोकसभा और राज्यसभा अस्तित्व में आया भी नहीं था तथा संविधान सभा ही संसद के रूप में काम कर रही थी। तीन-चार साल आजाद रहने का अनुभव हासिल करने के बाद यह संशोधन किया गया। इन तीन-चार वर्षों में हमारे संविधान निर्माताओं को पता चल चुका था कि निहित स्वार्थ विधायिका द्वारा बनाये गये कानून में तोड़-फोड़ करने के लिए न्यायपालिका तथा न्यायिक प्रक्रिया का दुरूपयोग कर रहे थे। इसी तरह के दुरूपयोग से कुछ कानूनों को बचाने के उद्देश्य से नौवीं अनुसूची की रचना की गयी, जिसका उद्देश्य कुछ कानूनों को न्यायिक समीक्षा के परे ले जाना था। इसका अर्थ यह भी था कि इन कानूनों के तहत की गयी कार्रवाईयों को कोर्ट में चुनौती नहीं दी जा सकती थी। किन्तु सर्वोच्च न्यायालय के 11 जनवरी, 2007 के जजमेंट ने नौवीं अनुसूची के प्रावधानों द्वारा रक्षित कानूनों को न्यायिक समीक्षा की परिधि में ला दिया है। सर्वोच्च न्यायालय के इस निर्णय ने हमारे संविधान निर्माताओं द्वारा बनाये गये एक संवैधानिक प्रावधान को निरस्त कर दिया है। यह एक ऐसा नीतिगत सवाल है जिस पर सर्वोच्च न्यायालय कोई फैसला देने के लिए शक्तिसंपन्न नहीं है।

सरकार चलाने की जिम्मेवारी कार्यपालिका की है। सरकार चलाना न्यायपालिका का काम नहीं है।

कानून बनाने तथा संविधान संशोधित करने की शक्तियां संसद में निहित हैं। अपने ताजे फैसले के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय ने, छप्पन साल पहले के एक संवैधानिक प्रावधान, जिसे हमारे संविधान निर्माताओं ने बनाया था, की लगभग हत्या कर डाली है। ऐसा इसलिए किया गया क्योंकि इस अनुसूची में 1993 का तमिलनाडु आरक्षण कानून शामिल है। अपने देश के लोकतांत्रिक उद्देश्यों को पूरा करने के लिए बनाये गये इस संवैधानिक प्रावधान की अवहेलना करने की किसी कोशिश का कोई लोकतांत्रिक व्यक्ति समर्थन नहीं कर सकता।

नौवीं अनुसूची के अधीन रखे गये कानूनों में सबसे ज्यादा भूमि तथा भूमि सुधार से संबंध रखते हैं। नौवीं अनुसूची के अंतर्गत 284 कानून हैं जिनमें एक आरक्षण तथा एक बीमा से संबंधित है। लगभग एक दर्जन कानूनों का संबंध उद्योग, वाणिज्य तथा व्यापार से है। एक मोटरगाड़ी अधिनियम से भी संबंधित है। इन अपवादों को छोड़कर बाकी सभी कानून भूमि तथा भूमि सुधार से संबंधित हैं। आजादी मिलने के बाद भूमि सुधार कार्यक्रमों की शुरूआत की गयी लेकिन जमींदारों ने भूमि सुधार कार्यक्रमों को बाधित करने के लिए केस-मुकदमा तथा कानूनी प्रक्रियाओं का दुरूपयोग किया।

यह उस समय की बात है जब भारत ने तुरंत आजादी पायी थी। लेकिन क्या तब से आज तक स्थिति बदली है? हमारे संविधान निर्माताओं ने नौवीं अनुसूची को इसलिए बनाया क्योंकि उनका विश्वास था कि अदालतें गरीबों के लिए नहीं हैं। उनका मानना था कि अदालतें अमीरों के लिए होती हैं जो न्यायिक प्रक्रिया का दुरूपयोग कर गरीबों को उनके वाजिब अधिकारों से वंचित करते हैं। जो गरीब आदमी एक शाम का खाना नहीं जुटा पाता है वह मुकदमा का खर्च कैसे उठा सकता है? स्थिति आज भी जस की तस है। क्रूर तथ्य यह कहते हैं कि छप्पन वर्षों में स्थिति और भी बिगड़ी है।

निठारी इसका ज्वलंत प्रमाण है। दर्जनों बच्चे गायब हुए। उनके माता-पिताओं को पुलिस से कोई मदद नहीं मिली। उनके केस पर सही कार्रवाई नहीं हुई। कुछ तो अपनी शिकायत तक नहीं दर्ज कर पाये। मैं जोर देकर कहना चाहता हूं कि उन बच्चों में से किसी के पिता पुलिस पर दबाव बनाने के लिए कोर्ट नहीं जा सके। केवल मध्यम वर्ग से आने वाली पायल नाम की बच्ची के पिता अदालत जा पाए। निठारी के गरीब राष्ट्रीय महिला आयोग गये, प्रधानमंत्री का दरवाजा खटखटाया, स्थानीय सांसदों से मिले और उनमें से कुछ उत्तर

प्रदेश के मुख्यमंत्री से मिले। वे अखबरावालों से मिले। लेकिन उनमें से कोई अदालत नहीं गया क्योंकि वे जानते थे कि अदालत उनके लिए नहीं है।

तो सरकार क्या करे यदि अदालतें गरीबों के लिए नहीं हैं तथा समाज का समृद्धशाली तबका गरीबों को महंगे तथा समयखपाऊ न्यायिक प्रक्रिया का इस्तेमाल करने से रोकने की कोशिश करता है? एक लोकतांत्रिक देश की कोई सरकार अमीरों द्वारा गरीबों पर न्यायिक हमलों को होता देखकर चुप नहीं बैठ सकती है।

संविधान की नवीं अनुसूची के अंतर्गत गरीबों को न्यायपालिका तथा न्यायिक प्रक्रिया के दुरूपयोग के खिलाफ संवैधानिक सुरक्षा मिली हुई थी। चौधरी चरण सिंह राष्ट्रीय नेता के रूप में इसलिए उभर पाये क्योंकि भूमि सुधार कानूनों को वे अनुसूची के अधीन रक्षित हाने के कारण लागू करवा पाये। नौवीं अनुसूची के रक्षा कवच के बिना वाम मोर्चा भी भूमि सुधार कानूनों को लागू नहीं करवा सकती थी।

बिहार में हमारी सरकार वाम मोर्चे के नक्शे कदम पर चलने की कोशिश कर रही थी किन्तु इस निर्णय ने बिहार के लिए वाम मोर्चा का अनुसरण करना असंभव बना दिया है।

मैं कानूनी या संवैधानिक विशेषज्ञ होने का दावा नहीं कर सकता। लेकिन अनुभव से कह सकता हूं कि केवल जनता संविधान और उसके मूलभूत ढांचे की रक्षा की गारंटी कर सकती है। नौवीं अनुसूची द्वारा रक्षित भूमि सुधार कानूनों ने सामंती ढांचे को कमजोर किया जिसके चलते वोट पर सामंती ताकतों का वर्चस्व खत्म हो गया। नौवीं अनुसूची ने जमीनी स्तर पर लोकतंत्र को मजबूत बनाया। चुनाव के माध्यम से प्रतिबिंबित जनमत ही संविधान के सुरक्षा की गारंटी हो सकती है।

उन लोगों से मेरा सवाल है जो विश्वास करते हैं कि केवल न्यायपालिका ही संविधान की रक्षा कर सकती है; न्यायपालिका क्या कर रही थी जब 1975 में भारतीय संविधान का गला घोंटा गया था? जब लाखों लोग 'मीसा' में जेल भेजे गये थे? मैं जानना चाहूंगा कि तथाकथित विशेषज्ञों में, जो सर्वोच्च न्यायालय की प्रशंसा इसलिए कर रहे हैं क्योंकि वह नौवीं अनुसूची को खत्म करने की कोशिश कर रहा है, कितने ऐसे लोग थे जो उस समय जेल गये जब इंदिरा गांधी ने संविधान को निरर्थक बना दिया था?

मैं खुद भी जेल में था तथा मैं जानता हूं कि किसी को कहीं से कानूनी या न्यायिक राहत नहीं मिली। न्यायपालिका ने संविधान को बहाल नहीं किया।

मतदान करने वालें भारत के नागरिकों की इच्छा की विजय हुई। इंदिरा गांधी ने चुनाव की घोषणा किसी न्यायपालिका के निर्देश पर नहीं की थी। लोकतांत्रिक दबाव में उन्हें ऐसा करना पड़ा।

मैं तमाम लोकतांत्रिक ताकतों का आह्वान करता हूं कि वे मूलभूत ढांचे की रक्षा करने के नाम पर संविधान के खिलाफ न्यायपालिका के हमले के विरूद्ध उठ खड़े हों।

- मार्च, 2007

अध्याय – 28

सामाजिक जनतंत्र के सवाल

प्रफुल्ल कोलख्यान

हम देखेते हैं कि बहुत सुनियोजित तरीके से 'वृद्धि' को 'विकास' का पर्याय बनाकर प्रचारित किया जाता है। वृद्धि सिर्फ मात्रात्मक होती है जबकि विकास को अनिवार्यतः गुणात्मक भी होना होता है। विषमतापोशी व्यवस्था वृद्धि की मात्रात्मकता को जीवन की गुणात्मकता में बदलने से रोकती है। कहना न होगा कि आज मात्रात्मक विषमता तेजी से गुणात्मक विषमता में बदल रही है। इस स्तर पर साफ है कि यह समय राजनीतिक जनतंत्र की अंतर्वस्तु में उत्पन्न भारी छीजन का संकेत दे रहा है। जनतंत्र की अंतर्वस्तु में उत्पन्न छीजन का ही नतीजा है कि हमारे समय के कुछ प्रतिष्ठित मेधावी लोग विषमता की पुनर्परीक्षा करते हुए अंततः अपनी सदाशयता में इस या उस ओर से प्रकृति की विविधता की स्वाभाविकता के हवाले से सामाजिक विषमता की स्वाभाविकता के पक्ष में तर्क देने लगते हैं। राजनीतिक जनतंत्र के स्वास्थ्य के लिए सामाजिक अंतर्वस्तु औषधि का काम करती है। यहीं सामाजिक जनतंत्र के सवाल महत्वपूर्ण हो जाते हैं।

विषमता का बहुवचनीय स्वरूप

विषमता को सामान्यतः आर्थिक वर्गों में विभक्त समझा जाता है। किंतु सामाजिक वर्गीकरण का एकमात्र आधार आर्थिक नहीं होता। इसलिए सामाजिक विषमता को पैदा करने का भी एकमात्र आधार आर्थिक ही नहीं होता। विषमता पर बात करने के लिए आवश्यक है कि उसके बहुवचनीय स्वरूप को समझा जाए। लिंग, जाति, धर्म, क्षेत्रीयता, राष्ट्रीयता, नस्ल, रंग-वर्ण, कद, शिक्षा, स्वास्थ्य, ज्ञान, योग्यता, उम्र, शारीरिक स्थिति जैसे अनेक कारक विभिन्न तरह की विषमताओं को उत्पन्न करते हैं और मनुष्य को उनसे उत्पन्न कष्टकर स्थितियों में डालते हैं। एक निजी अनुभव के उदाहरण से बात स्पष्ट की जा

सकती है। मैं लोकल ट्रेन का नित्य यात्री हूं। मेरी कद-काठी औसत है। लोकल ट्रेन में अत्यधकि भीड़ होना सामान्य बात है। मैं औसत कद-काठी का पुरुष होने के लाभ समझता हूं। यात्रियों की सुविधा के लिए हत्था लगाते समय रेल प्रशासन स्वाभाविक तौर पर पुरुषों की औसत कद-काठी का ही ध्यान रखता है। इसे ध्यान में रखकर दो स्थितियों पर विचार किया जा सकता है। किसी यात्री की कद-काठी औसत भारतीय पुरुष की नहीं भी हो सकती है, वह या तो औसत से अधिक लंबा या नाटा हो सकता है। या फिर महिला होने के कारण उसकी कद-काठी औसत भारतीय पुरुष की नहीं है। भीड़ में उसे खुद शारीरिक कष्ट तो होता ही है, वह सहयात्रियों की असुविधा का कारण बनने के कारण उनकी हिकारत झेलता हुआ (झेलती हुई) मानसिक कष्ट भी भोगता (भोगती) है। इसी तरह पढ़े-लिखे लोगों की भीड़ में निरक्षर या भिन्न भाषा-भाषियों के साथ सफर कर रहे यात्री भी मानसिक कष्ट में पड़ते हैं। इसी तरह से विश्लेषण को आगे जारी रखने पर विभिन्न तरह की विषमताओं के आधार पर होनेवाले सामाजिक व्यवहार को समझा जा सकता है। एक गरीब सामान्यतः अपनी जाति, अपने धर्म, अपने जनपद आदि के अमीर से अधिक निकटता अनुभव करता है बनिस्बत अपनी जाति, अपने धर्म, अपने जनपद आदि से भिन्न दूसरे किसी गरीब से। ध्यान से देखने पर यह बात निथरकर सामने आने लगेगी कि विषमता के अर्थेतर आधार आर्थिक विषमता से संघर्ष के रास्ते में अनिवार्य एकजुटता का बहुत बड़ा अवरोधक तैयार करता है। कुल मिलाकर यह कि विभिन्न प्रकार की विषमताओं के कारकों में बड़ी एकजुटता है, यह एकजुटता विषमता की बहुवचनीयता को एकवचनीयता में बदलकर सबल बना देती है। विषमता का एक कारक दूसरे कारकों को बल पहुंचाकर उनमें गुणात्मक वृद्धि कर देता है। एक गरीब विकलांग अपने ही स्तर के अमीर विकलांग की तुलना में गुणात्मक रूप से अधिक दुख भोगता है। गरीबी अपने आप में बहुत बड़ी विकलांगता है। विषमता के पक्षधर अन्य प्रकार की विषमताओं के महीन-मोटे तंतुओं को जोड़कर आर्थिक विषमता का औचित्य साबित करने के लिए अपना बौद्धिक तर्कजाल बुनते हैं। अर्थात् विषमताओं के अन्य प्रकारों का उपयोग आर्थिक विषमता को बनाए रखने के मूल लक्ष्य को सिद्ध करने में होता है। दूसरी तरफ आर्थिक विषमता के विरोधी भी विषमताओं की मौलिक बहुवचनीयता की अवहेलना करते हुए सीधे आर्थिक विषमता से जूझते हैं और स्वभावतः बार-बार विफल होते हैं। दरअसल, सभी प्रकार की विषमताओं के शरीर का सिर आर्थिक विषमता तो होता है, लेकिन अद्भुत यह कि विषमताओं का प्राण उसके

सिर में नहीं बल्कि उसके नाखूनों में बसता है; एक बार काट दो तो फिर बढ़ जाता है। भिन्न प्रसंग में हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबंध की चिंता पठनीय है कि नाखून क्यों बढ़ते हैं। आंबेडकर ने सही संदर्भ में इसे समझकर स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व का निषेध करनेवाले देश के दो दुश्मनों ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद को जोड़कर उनसे एक साथ कामगारों के संघर्ष पर जोर दिया था। विषमता विष है, सामाजिक विषमता सामाजिक विष है। सवाल यह है कि क्या राजनीतिक जनतंत्र अपनी पूरी सदाशयता के बावजूद इस विष के अकेले निपट सकता है? इसका उत्तर अपने अंतिम निष्कर्ष में नकारात्मक है और इसीलिए सामाजिक जनतंत्र के सवाल महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं।

विराजनीतिकरण की राजनीति

यह सच है कि यह समय विरोधी और व्याघाती संकेतों का है। व्यवस्था के नाम पर अव्यवस्था का बोलबाला है। ऐसा नहीं कि आदमी ने इसके पहले कभी अंधकार का सामना किया ही न हो। यह भी नहीं कि पहले कभी आदमी के मन में कोई विचलन हुआ ही न हो। फिर भी मानव सभ्यता पर अंधकार का ऐसा अच्छादन शायद पहले कभी नहीं था। यह तो मानना ही होगा कि इस बार अंधेरा कुछ भिन्न चरित्र के साथ उपस्थित हुआ है। अंधकार के इस भिन्न चरित्र को खोले बिना प्रकाश की खोज के लिए उठाया गया प्रत्येक कदम हमें और अधिक अंधकार की ओर ही खींच कर ले जायेगा। यह मानने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि इस अंधकार का गहरा संबंध राजनीति से तो है, लेकिन इस अंधकार का संबंध सिर्फ राजनीति से नहीं है। मानव सभ्यता की जययात्रा के रास्ते में राजनीति के अलावा भी बहुत सारे साथी, और भी बहुत सारे महत्वपूर्ण सहयोगी रहे हैं। राजनीति के अतिरिक्त मानव सभ्यता की जययात्रा के इन सहयोगियों की आज की भूमिका पर भी ध्यान देना जरूरी है। कहना न होगा कि राजनीति मानव सभ्यता की जययात्रा में समस्त मानव उद्यम के विभिन्न सकारात्मक प्रतिफलनों को धारण किये रखने और नकारात्मक प्रतिफलनों को व्यवहार-विच्युत करने की सामाजिक प्रक्रिया है। इसी सामाजिक प्रक्रिया में राजनीति का महत्त्व अंतर्निहित होता है। आज की राजनीति की मुख्य धारा अपनी इस सामाजिक प्रक्रिया से खुद विच्युत होकर महत्वहीनता की गिरफ्त में फंस रही है। समझना यह होगा कि महत्वहीनता की यह गिरफ्त राजनीति के विराजनीतिकरण की सामाजिक वैधता का रास्ता प्रशस्त करती है। भूलना आत्मघाती होगा कि यह विराजनीतिकरण भी अपने आप में एक राजनीतिक प्रक्रिया ही है। आज के समय में विभिन्न प्रभावशाली

निकायों की ओर से विराजनीतिकरण की राजनीतिक कोशिशें हो रही हैं। इन कोशिशों का मुख्य उद्देश्य सभ्यता विकास की सवयंसिद्ध सामाजिक प्रक्रिया में व्यवधान डालना है। अद्भुत यह कि इन कोशिशों में समाज को प्रधानता देने का ही भाव प्रदर्शित किया जाता है।

राजनीति और सामााजिक जनतंत्र

यहां विराजनीतिकरण की राजनीतिक प्रक्रिया से बात शुरु की जा सकती है। वैसे तो मनुष्य की सामाजिक और राजनीतिक चेतना का विकास साथ-साथ ही हुआ है। लेकिन भारतीय संदर्भ में राजनीतिक चेतना के समकालीन परिप्रेक्ष्य को उन्नीसवीं सदी से जोड़कर देखने से बात स्पष्ट हो सकती है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जो राजनीतिक प्रक्रिया चली उसमें सामाजिक प्रक्रियाओं से न सिर्फ सवांद के लिए पर्याप्त अवसर और सम्मान था बल्कि सामाजिक और राजनीतिक प्रक्रिया विश्वस्त सहचर के रूप में साथ-साथ गतिशील थे। संवाद के अवसर के लिए न सिर्फ असहमति की गुंजाइश की जरूरत हुआ करती है अपितु अहसमति के प्रति पर्याप्त सम्मान के भाव का होना भी जरूरी होता है। कहना न होगा कि असहमति व्यक्त करने के लिए नैतिक साहस का होना भी कितना जरूरी होता है। अपने मत के प्रति निष्ठा, कर्मठता और निःस्वार्थ समर्पण से नैतिक साहस का गहरा संबंध होता है। जब सत्ता अपनी नहीं थी, अर्थात जनता की नहीं थी, तब स्वाभाविक रूप से जनता की सामाजिक प्रक्रिया में सत्ता की राजनीतिक प्रक्रिया से स्वतंत्र पलकदमी की क्षमता और आकांक्षा सक्रिय थी। राजनीतिक प्रक्रिया और सामाजिक प्रक्रिया के बीच उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में आरंभ संवाद की प्रक्रिया बीसवीं सदी के प्रथमार्द्ध के अंत तक जारी रही। 1947 में देश आजाद हुआ। सत्ता का समीकरण बदला। बदले हुए समीकरण के कारण सामाजिक प्रक्रिया का राजनीतिक प्रक्रिया से संवाद के स्वरूप और संस्तर में भी अंतर आया। इस बदलाव में सहज ही लक्षित किया जा सकता है कि जैसे-जैसे राजनीतिक प्रक्रिया और सामाजिक प्रक्रिया के बीच संवाद के सूत्र छिन्न-भिन्न होते गये वैसे-वैसे सामाजिक प्रक्रिया स्थगन की शिकार होती गई और राजनीतिक गुणवत्ता में गिरावट आनी शुरु हो गई। राजनीतिक गुणवत्ता में गिरावट का प्रमुख कारण राजनीतिक जनतंत्र का सामाजिक जनतंत्र से समर्थित न होने को माना जा सकता है। स्वाधीनता के संदर्भ में सामाजिक समर्थन के महत्त्व से उस दौर का राजनीतिक मिजाज भलीभांति परिचित था। उसके सामने सामाजिक जनतंत्र

को हासिल करने की चुनौती थी। आंबेडकर सामाजिक जनतंत्र की आकांक्षा को बार-बार जगाने की कोशिश कर रहे थे। जवाहरलाल नेहरू समाजवादी मूल्यों की दुहाई दे रहे थे। गांधी जी अंतिम आदमी के उत्थान को लेकर चिंतित थे। रवींद्रनाथ चित्त को भय शून्य बनाकर और सिर को उठाकर जीने की संभावनाओं को सुनिश्चित करनेवाली सामाजिक संरचनाओं के हासिल हाने का स्वप्न सिरज रहे थे। प्रेमचंद समाज के आधारभूत स्तर पर सामाजिक जनतंत्र की आंतरिक पगबाधाओं के मानवीय सरोकारों को चिन्हित करते हुए स्वप्न के शोक में बदलते जाने की अदृश्य प्रक्रिया के अश्रव्य हाहाकार को संस्कृति की संवदेना का हिस्सा बना रहे थे। ठीक से देखें तो कई उदाहरणीय नाम और प्रसंग प्रत्यक्ष हो जाएंगे। इस तरह से सोचनेवाले लोगों के नाम की पूरी आकाश गंगा इतिहास के क्षितिज पर तैरती नजर आएगी। इस आकाश-गंगा की जोत मद्धम और रूग्ण हो गई है।

अंबेडकर ने संकट लक्षित किया था

संविधान सभा को संबोधित करते हुए आंबेडकर ने ठीक ही कहा था कि सामाजिक जनतंत्र की आधारशिला के अभाव में राजनीतिक जनतंत्र का अक्षुण्ण बने रहना असंभव है। स्वाधीनता, समानता एवं भ्रातृत्व के त्रित्व के समेकित रूप एक को दूसरे से अलग करना लोकतंत्र के मूल उद्देश्य को नकार देना है। स्वाधीनता की मुख्य अंतर्वस्तु के रूप में समानता को विभिन्न तत्वों और अभिप्रायों का संपुट किये बिना जनतंत्र के बुनियादी उद्देश्यों को हासिल नहीं किया जा सकता है। आजादी के साथ ही हमने एक आत्मावरोधी जीवन-स्थिति को आत्मार्पित कर लिया। आंबेडकर ने संकट को लक्षित किया था। एक ओर राजनीति के क्षेत्र में समानता अर्थात एक-व्यक्ति, एक-मत का स्वीकार और दूसरी ओर सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र में एवं एक-मत, एक-मूल्य के सिद्धांत को अस्वीकार करना हमारे आत्मावरोध का बड़ा कारण साबित हुआ। यह सवाल तब भी शिद्दत से उठा था कि हम कब तक अपने सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में समानता को अस्वीकार करते रहेंगे? इस सवाल में एक धुंधला-सा भरोसा भी छिपा था कि बहुत दिनों तक नहीं अर्थात् हमारा अगला प्रस्थान समानता उन्मुखी होगा, लेकिन अंततः यह भरोसा भटक गया। जिसका डर था आखिर वही हुआ, 'प्रजातंत्र के ताम-झाम' पर 'सामंती ताला' लटक गया। ऐसा होने के कारणों को खोजते हुए राजनीतिक प्रक्रिया और सामाजिक प्रक्रिया के अंतरावलंबनों और अंतर्संबंधों की बारीकियों को समझना होगा।

सामाजिक संरचना और सत्ता संरचना की रस्साकशी

राजनीतिक प्रक्रिया का लक्ष्य सत्ता की संरचना में परिवर्तन होता है। सामाजिक प्रक्रिया का लक्ष्य समाज की संरचना में परिवर्तन होता है। सामाजिक संरचना और सत्ता संरचना में हमेशा एक रस्साकशी चलती रहती है। इस रस्साकशी के तनाव से राज्य और समाज में ही नहीं, व्यक्ति और निकायों, लोभ और लाभ आदि में कार्यकारी संतुलन बनता-बिगड़ता रहता है। राजनीतिक प्रक्रिया और सामाजिक प्रक्रिया एक-दूसरे की सापेक्षता में आत्म-संघर्ष, आत्म-निरीक्षण और आत्म-परिवर्तन की निरंतरता के दौर से गुजरती रहती है। किसी एक के शिथिल पड़ जाने से यह कार्यकारी संतुलन टूटने लगता है, निरंतरता खंडित होने लगती है, भरोसा उठने लगता है और अंततः राजनीतिक प्रक्रिया निरंकुश और सामाजिक प्रक्रिया निःशक्त हो जाती है। राजनीतिक प्रक्रिया के निरंकुश और सामाजिक प्रक्रिया के निःशक्त होने का ही परिणाम है कि सार्वजनिकता का अधिकांश राजनीतिक प्रक्रिया पर आश्रित और उसी से संचालित हो रहा है। स्वाभाविक ही है कि सार्वजनिकता का अधिकांश राजनीतिक प्रक्रिया का अधीनस्थ होकर रह गया है। राजनीतिक प्रभुओं का वर्चस्व मजबूत हुआ है और समाज राजनीति का उपनिवेश बन गया है। यह ठीक है कि प्रत्येक उद्यम का एक राजनीतिक पक्ष होता है लेकिन यह सच नहीं है कि किसी भी उद्यम का सिर्फ राजनीतिक पक्ष होता है। आत्म-उपनिवेशन और बाह्य-उपनिवेशन के चरित्र में एक बुनियादी अंतर देखने को मिलता है। बाह्य-उपनिवेशन के दौर में उपनिवेशितों की राजनीति इतनी शक्तिशाली नहीं होती है कि वह समाज से अपने को काटकर चलने का दुस्साहस कर सके, क्योंकि वह तो खुद उपनिवेशकों की अधीनस्थ कार्रवाई होती है। स्वाभाविक है कि राजनीतिक प्रभुओं को उपनिवेशकों की मार से बचने के लिए बार-बार समाज के दरवाजे पर हाजिर होना पड़ता है। माहौल कुछ-कुछ आम चुनाव जैसा बना रहता है। आत्म-उपनिवेशन के दौर में राजनीतिक प्रक्रिया शक्तिशाली और सामाजिक प्रक्रिया निःशक्त हो जाती है। प्रत्येक कार्रवाई राजनीतिक कार्रवाई हो जाती है। प्रत्येक कार्रवाई के महत्व का आकलन राजनीतिक दृष्टि से निर्धारित होता है। ऐसे में राजनीतिक प्रक्रिया और सामाजिक प्रक्रिया के संबंध की स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है। स्वस्थ राजनीतिक और सामाजिक प्रक्रिया के लिए अनिवार्य स्वतंत्र किंतु सहयोगी एवं समाावेशी पहलकदमी का सापेक्षिक संबंध अवरूद्ध हो जाता है। इस अवरोध

से बहुत सारी विसंगतियों, विकृतियों और परजीवी प्रवृत्तियों का जन्म होता है।

इतिहास का अनुभव

इतिहास का अनुभव बताता है कि अपरिपक्व सामाजिक प्रक्रिया का राजनीतिक प्रक्रिया में तत्त्वांतरण कभी शुभप्रद नहीं होता है। राजनीतिक प्रक्रिया अपनी चतुर्दिक वैधता के लिए सामाजिक प्रक्रिया को तत्परतापूर्वक आत्मसात कर लेती है, कई बार पचा भी लेती है। इस तरह सामाजिक प्रक्रिया दीर्घकालिक स्थगन की शिकार बन जाती है। इस स्थगन को तोड़ने में राजनीतिक प्रक्रिया की कोई दिलचस्पी नहीं होती। इसलिए जो लोग सत्ता की राजनीति से दूर हैं या जिनकी दिलचस्पी सत्ता की भागीदारी में नहीं है उन्हें सामाजिक मुद्दों और सार्वजनिक मामलों पर नागरिक हस्तक्षेप की दृष्टि से एकजुट होने की संभावनाओं पर जिम्मेवार ढंग से अवश्य सोचना चाहिए। क्योंकि सत्ता का अपना चरित्र होता है, शायद सीमाएं भी होती हैं। ध्यान में होना ही चाहिए कि चरित्र और सीमाओं के अनिवार्य प्रतिबंधों से मुक्त तो कोई नहीं होता, न व्यक्ति, न जीवन और न संगठन ही। अंकुश का अस्तित्व अंकुश बने रहकर ही सार्थक हो सकता है, 'हाथी' बनने की उसे क्या जरूरत और फिर किसी अंकुश के हाथी बनने के बाद भी अंकुश की जरूरत तो खत्म नहीं हो जाती। स्वाधीनता आंदोलन के दौरान जारी सामाजिक प्रक्रियाएं जिस दुर्घटना की शिकार हुईं, उसके सबक याद रखना ही चाहिए।

अब जिनके लिए इतिहास और स्मृति मानव सभ्यता और मन पर लदा हुआ बोझ है और जिनकी दिलचस्पी इतिहास-मुक्त और स्मृतिहीन होने में है उनकी बात और है, लेकिन जिनकी दिलचस्पी आज के संकट को समझने तथा बदलने में है, उनके लिए इतिहास आज नये सिरे से महत्त्वपूर्ण हो उठा है। जब-जब वर्तमान पर संकट के बादल छाते हैं और भविष्य अंधकार में घिरता हुआ प्रतीत होने लगता है इतिहास नये सिरे से महत्त्वपूर्ण हो जाता है। सभ्यता की कहानी जाग जाती है। स्वाभाविक तौर पर इतिहास और स्मृति पर सबसे ज्यादा आक्रमण भी होते हैं। ठीक ऐसे ही समय में इतिहास-विवेक को न सिर्फ बचाने बल्कि सक्रिय बनाने की जरूरत भी ज्यादा होती है। यह तो इतिहास विवेक ही जानता है कि लिखित, स्वीकृत और औपचारिक और स्वीकृत इतिहास से कम महत्त्वपूर्ण और कारगर जन मन में जीवित, सामान्यतः बौद्धिक परिसर में अस्वीकृत और अनौपचारिक इतिहास नहीं होता है। साहित्य और संस्कृति के अन्य उपादान जनता के समृतिकोश के रूप में ही महत्त्व के हुआ करते हैं।

दुहराव के जोखिम पर भी कहना जरूरी है कि विराजनीतिकरण की प्रक्रिया को अतिराजनीतिकरण के कारण सामाजिक मान्यता और वैधता मिलने लगती है। खतरा यह कि विराजनीतिकरण की प्रक्रिया अंततः अपने परिणाम के सारांश में विसमाजीकरण को भी शामिल किये रहती है। ध्यान में रखना आवश्यक है कि सभ्यता की असली समस्या के अधिकांश को इस विसमाजीकरण के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। आज नव-सामाजिक आंदोलनों की जो बयार बह रही है उसमें अपने चरित्र को गैर-राजनीतिक बनाये रखने का अग्रह है। राजनीतिक अतिचार के कारण यह आग्रह पहली नजर में गलत भी नहीं लगता है। राजनीति अतिचार के प्रभाव से बाहर आकर सोचने पर इस आग्रह की कई आत्म-विसंगतियों और आत्म-भक्षी प्रवृत्तियों की प्रछन्न बारीक रेखाएं विकट रूप में उजागर होने लगती हैं। अतः सामाजिक प्रक्रियाओं को सत्ता की राजनीति के अतिचार की आत्म-विसंगतियों और विराजनीतिकरण की आत्म-भक्षी प्रवृत्तियों से बचाते हुए राजनीति की प्रक्रियाओं में सामाजिक अंतर्वस्तु को अंतर्विष्ट किये जाने की दोहरी चुनौती को समझना होगा। कहना न होगा कि उन्नीसवीं सदी की पूर्ण सामाजिक प्रक्रियाओं की चूकों का गहरा विश्लेषण सामाजिक जनतंत्र के सवाल के जवाब तलाशने में निश्चय ही हमारे कुछ काम का तो हो ही सकता है।

यह सच है कि भारत में जनतंत्र की जड़ बहुत गहरी है। सच यह भी है कि इसकी शाखाएं बड़ी उंची है, फल भी पुष्टिकर हैं। लेकिन, विषमताओं से आक्रांत समाज का अनुभव बताता है कि इसकी जड़ को सींचने में जिनका पसीना जितना ज्यादा बहता है उनकी पहुंच से इसके फल उतने ही दूर होते हैं। सामाजिक अंतर्वस्तु को अंतर्विष्ट किये बिना राजनीतिक जनतंत्र-शिखर जनतंत्र, अर्थात अपने निकृष्टतम अर्थ में आकाशीय जनतंत्र, बनकर रह जाता है। गुरूत्वाकर्षण के नियम के अनुसार फल को जमीन पर गिरना चाहिए लेकिन ऐसा होता नहीं। आकाशीय जनतंत्र आकाश में ही उसके बांटबखरा का इंतजाम कर लेता है। सामाजिक जनतंत्र के बिना बांटबखरा का काम जमीन पर हो नहीं सकता है और उतनी ऊंचाई तक विषमता से आक्रांत लोगों के हाथ पहुंच नहीं पाते हैं। जन-आधकारिकता की बहाली राजनीतिक जनतंत्र के समाजीकरण के बिना संभव नहीं है। इसलिए आज के समय में सामाजिक जनतंत्र के सवाल नये सिरे से अपनी सुनवाई चाहते हैं। लेकिन क्या हम सुन पा रहे हैं इन सवालों की क्रमशः तीव्रतर होती आहट को?

- सितंबर, 2007

अध्याय – 29

माइक थेवर को जानना जरूरी है

रवीश कुमार

माइक थेवर। हजार शोहरतमंद नामों में एक गुमनाम। मगर काम बेहद जरूरी। माइक थेवर वह काम कर रहे हैं जिसकी हिम्मत बड़े-बड़े उद्योगपतियों को नहीं हो सकी। माइक की एक कंपनी है। अमरीका के फिलाडेलफिया शहर में। 160 करोड़ टर्नओवर वाली कंपनी। माइक ने 15 साल की कड़ी मेहनत से तैयार की है। इसकी एक नीति है जो नई बहस और साहस के लिए प्रेरित करती है।

माइक अपनी कंपनी के लिए सौ फीसदी अफरमेटिव एक्शन के तहत लोगों को नौकरी देते हैं। अफरमेटिव एक्शन यानी जब कंपनी सामाजिक-आर्थिक रूप से पिछड़े तबके को आगे लाने के लिए नौकरियां देती हैं। अमरीका में सारी बड़ी कंपनियां ऐसा करती हैं। वहां के बड़े अखबार वाशिंगटन पोस्ट में भी अफरमेटिव एक्शन लागू है। यानी तथाकथित मेरिट नहीं होने पर भी नौकरी।

माइक अनुसूचित जाति, जनजाति और ओबीसी के लड़कों को नौकरी देते हैं। हाल ही में उन्होंने 25 लड़कों का चयन किया है। इनमें से कोई भी नौकरी पाने की पात्रता नहीं रखता है। अमरीका न हिन्दुस्तान में। लेकिन माइक इन्हें मुंबई में अमरीकन अंग्रेजी की ट्रेनिंग देंगे फिर ले जाएंगे। इससे पहले भी वह 15 लड़कों को नौकरी दे चुके हैं। ये लड़के मुंबई के धारावी के रहने वाले हैं। ज्यादातर के मां बाप बड़ा पाव बेचने और आटो चलाने वाले हैं। वे अब अपने घर हर महीने पच्चीस हजार भेजते हैं। मां बाप की भी जिंदगी बदल रही है।

ये लड़के नौकरी पाने की पात्रता नहीं रखते थे। इनके चयन की एक ही पात्रता देखी गई-सामाजिक और आर्थिक रूप से सताए हुए तबके की पात्रता। माइक ने इन्हें व्हाईट कालर वाला बना दिया। जिसके लिए कई लोग लाखों खर्चते हैं। डिग्री लेते हैं। फिर कहते हैं हमारे पास मेरिट है। माइक सोचते हैं कि

यह सब कुछ नहीं होता। काम का प्रशिक्षण देकर काम कराया जा सकता है। और वह शायद दुनिया की अकेली कंपनी के मालिक हैं जिनकी कंपनी में यह नीति बाइस या सत्ताईस प्रतिशत नहीं बल्कि सौ प्रतिशत लागू है। यानी सारी नौकरियां अनुसूचित जाति, जनजाति और पिछड़े तबके के कमजोर छात्रों को।

माइक कौन हैं? वह केरल के गरीब ओबीसी परिवार के हैं। कई साल पहले इनका परिवार मुंबई के धारावी में आ कर रहने लगा। स्लम में। माइक ने खुद बड़ा पाव बेचा है। मुंबई के निर्मला निकेतन से बैचलर इन सोशल साईंस की डिग्री ली। टाटा इंस्टिट्यूट ऑफ सोशल साईंस से मास्टर डिग्री ली। एक दलित लड़की से शादी की। तमाम विरोध के बाद भी। और स्कॉलरशिप पर अमरीका चले गए। वहां उन्होंने स्वास्थ्य क्षेत्र में काम करने वाली एक कंपनी टेम्प्ट सल्यूशन कायम की। एक कामयाब कंपनी। कामयाबी के बाद माइक को एक बड़ी जिम्मेदारी का अहसास हुआ। पिछड़े और सताए हुए तबके के युवाओं को मौका देने का। जिस समाज से उन्हें मिला वह उसे वापस करना चाहते थे।

इसी जिम्मेवारी को अनुभव करने के कारण उनकी कंपनी की लाजवाब नीति सामने है। वहां किसी को मेरिट के आधार पर नौकरी नहीं मिलती। माइक चुनते हैं। चुनते समय ध्यान रखते हैं कि जिसे मौका मिल रहा है उसमें भी सामाजिक प्रतिबद्धता है या नहीं। यानी वह आगे जाकर बाकी को आगे लाने में मदद करेगा या नहीं। माइक जल्दी ही अपनी कंपनी के लिए बिहार, उत्तर प्रदेश और पूर्वोत्तर राज्यों के ऐसे लड़कों को मौका देने की योजना लागू करने वाले हैं।

यह कहानी इसलिए सुनाई कि कुछ दिन पहले भारत के एक बड़े उद्योगपति प्रधानमंत्री से मिलने गए। वह दो साल से अफरमेटिव एक्शन के नाम पर आनाकानी कर रहे हैं। कहते हैं सरकार की बेकार आईटीआई संस्थानों को दीजिए और हम वहां ट्रेनिंग देकर देखेंगे कि ये काम करने लायक हैं या नहीं। क्यों भई बाप की जमीन पर उद्योग खड़े किए हैं क्या? तमाम रियायतें, आयात निर्यात नीति में बदलाव, फ्री की जमीन और आप दुनिया से कंपीट कर सकें उसके लिए सरकार का समर्थन। कोई उद्योग कह दे कि उनकी कामयाबी में इन हिस्सों का योगदान है या नहीं? मैं यह बात इसलिए कह रहा हूं कि जिन गरीब बच्चों को माइक अमरीका ले जा रहे हैं, अपनी कंपनी में नौकरी देने के लिए वे गरीब बच्चे वहां के फुटपाथ या तीसरे दर्जे के होटल में नहीं ठहराये जाते हैं। वे सभी माइक के घर में रहते हैं। इसीलिए कहता हूं माइक थैवर को जानना जरूरी है।

- अगस्त, 2007

अध्याय – 30

प्रेमचंद की दलित कहानियां एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

धीरज कुमार नाइट

हमारे साहित्य में 'दलित अनुभव की खोज' एवं दलित पात्रों की गतिविधियों के चित्रण एवं प्रतिस्थापन के प्रयास को समकालीन हिंदी साहित्य के विकास की विशिष्ट स्थिति मानी जानी चाहिए। ऐसे किसी भी प्रयास की यह मांग स्वभाविक है कि हमारे 'क्लासिकल' साहित्य भंडार में यदि किसी जाति-विशेष को लेकर कुत्सित प्रतिस्थापनाएं एवं दृष्टिकोण विद्यमान हैं तो उन्हें आलोचनात्मक ढंग से विश्लेषित किया जाये। ऐसे कुछ प्रयास किये भी जा रहे हैं। इनका हिन्दी के प्रतिष्ठित कथाकार एवं परिवर्तनकामी विचारक प्रेमचंद से जूझना भी काफी स्वभाविक सा है।

आलोचना के क्षेत्र में इन प्रयासों ने दो दृष्टिकोणों को हमारे सामने रखा है। एक खेमा डा. धर्मवीर व अन्य के नेतृत्व में प्रेमचंद पर दलित पात्रों के – विशेषतः 'कफन' कहानी (1935-36) का हवाला देते हुए – लम्पटीकरण और सामंती मूल्यों एवं वर्णव्यवस्था की पक्षधरता का आरोप लगाता है। दूसरा खेमा प्रेमचंद की कहानियों को यथार्थवादी और संभवतः प्राकृतिकवादी मानते हुए माधव एवं घीसू जैसे पात्रों के व्यवहार की 'ऐतिहासिक भौतिकवादी' व्याख्या प्रस्तुत करता है। साथ ही यह आग्रह करता है कि दलित जीवन से जुड़ी प्रेमचंद की अन्य सराहनीय एवं अंतर्दृष्टिपूर्ण कहानियों को भी बहस का आधार बनाया जाए। राजीव रंजन गिरि के संपादन में आया 'घासवाली : प्रेमचंद की दलित जीवन से जुड़ी कहानियों का संकलन' इस दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रयास है।

इस संकलन की समीक्षा करते हुए मैं अपने विचार दो बातों पर केन्द्रित करूंगा। पहला, राजीव रंजन गिरि लिखित प्रस्तावना के आलोचनात्मक

मूल्यांकन पर और दूसरा, प्रेमचंद की संकलित कहानियों की समाजशास्त्रीय विवेचना पर। पहला महत्वपूर्ण सवाल इस संदर्भ में यह है कि प्रेमचंद की कहानियों में 'दलित' का अर्थ क्या है? यह संकलन 'दलित' शब्द की वर्तमान जातीय पहचान एवं सरकारी अनुसूचिका में प्रस्तुत अर्थ पर आधारित दिखता है। इसके अनुसार सरकारी आंकड़े में अनुसूचित जाति शीर्षक से संकलित जातियां ही मात्र भारतीय समाज का 'दलित' समुदाय है। लेकिन हमारा सवाल इस अर्थ में महत्वपूर्ण है कि 'दलितों' का राजनीतिक-सामाजिक दर्शन शोषित, दमित और हाशियाकृत सामाजिक समूह की ओर इशारा करता है। उल्लेखनीय है कि 1960 के दशक में दलित शब्द अपने इसी अर्थ में भारतीय राजनीतिक संस्कृति से उत्पन्न हुआ था। अनुसूचित जाति में संकलित जातियों की सूची बनती-घटती-बढ़ती रही है। प्रायः 1950 एवं इसके बाद से। ऐसे में इस सवाल के जवाब का अभाव संपादकीय दृष्टि की एक कमी मालूम होती है। प्रस्तुत कहानियों के अध्ययन से प्रेमचंद में 1911 से 1936 के बीच दलितों के तीन अर्थों का विकास दिखता है। शुरूआती कहानियों में वे सिर्फ अछूतों को केन्द्र में रखते हैं। 1926-27 की 'कजाकी' और 'मंदिर' कहानियों से आगे कुछ गैर-अछूत शोषित-दमित और विभेदीकृत जातियां भी शामिल होती हैं। 1931 आते-आते उनकी 'लांछन' कहानी में बवुआइन देवीरानी जैसी महिला भी किसी दलित से भिन्न नहीं दिखती हैं। वस्तुतः इस कहानी में मुन्नु मेहतर की तुलना में देवीरानी 'दलित' जीवन की परिभाषा के कुछ ज्यादा अनुकूल दिखती है।

प्रेमचंद की कहानियों में 'दलित' के माने की खोज से जुड़ा दूसरा अहम सवाल है : उनकी कहानियों में दलित सवाल एवं समस्या क्या है? इस पर भी यह संकलन प्रायः चुप-सा दिखता है। हम देखते हैं कि उनकी शुरूआती कहानियों में महज छुआछूत जैसी हिंदू समाज की नैतिक बुराई 'दलित समस्या' है, और हिंदू समाज का सुधार एवं छुआछूत का अंत ही बड़ा दलित सवाल है। उल्लेखनीय है कि यह समस्या और सवाल इन कहानियों में विशिष्ट रूप से अभिजात जातियों के सुधारवादी आंदोलन के प्रश्न मात्र हैं। इन कहानियों के केन्द्रीय पात्र भी ऐसे ही व्यक्तित्व रहे हैं।

जहां 1924 के 'सौभाग्य के कोड़ों से', 'दमन' और 1927 के 'मंदिर' एवं 1929 की 'घासवाली' से मंदिर प्रवेश के जरिये 'स्वतंत्रता' और 'सम्मानपूर्ण जीवन' का अधिकार महत्वपूर्ण प्रश्न बनता है। इन कहानियों में दलित पात्र भी कहानी के केन्द्र में आते हैं। जबकि, 1934 की 'दूध का दाम', 1935-36 की 'कफन' और 1931 की 'जुरमाना' में गरीब श्रमिक के रूप में दलितों के शोषण

एवं वर्गीय शोषण से मुक्ति दलित समस्या एवं सवाल के रूप में सामने आते हैं। यहां दलितों का अपनी परिस्थिति में बदलाव के लिए किया गया प्रयास प्रेमचंद के लिए आलोचनात्मक विश्लेषण का विषय रहा है। ऐसे में किसी भी 'आमूलचूल परिवर्तनकारी प्रयास और इसकी दृष्टि का अभाव' विचारणीय दलित प्रश्न व समस्या बनता हुआ दिखता है और तभी प्रेमचंद 'कफन' में व्यंग्यात्मक शैली में लिखते हैं 'हम तो कहेंगे, घीसू किसानों से कहीं ज्यादा विचारवान था, और किसानों के विचारशून्य समूह में शामिल होने के बदले बैठकबाजों की कुत्सित मंडली में जा मिला था।'(कफन, पेज 163)

पुस्तक-सम्पादक का विचार है कि जहां आरम्भिक कहानियों में अछूतोद्धार जैसी आर्यसमाज की समाज-सुधारक दृष्टि का प्रभाव है वहीं 1920 के दशक एवं इसके बाद की कहानियों में डा. आंबेडकर की अपेक्षा प्रेमचंद गांधी के विचारों के ज्यादा करीब हैं (बजरिए गांधी के अछूतोद्धार आह्वान के)। लेकिन सम्पादक की दूसरी समझ प्रेमचंद की 1927 की 'मंदिर' और 1929 की 'घासवाली' और इसके बाद की कहानियों पर शायद ही लागू होती है। उदाहरण के लिए, इस समय से प्रेमचंद दलित समस्या को दलित पात्रों की गरीबी की समस्या एवं उनकी सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों को जातिभेद के प्रबल कारक के रूप में देख रहे थे। जबकि, गांधी 1932-33 में भी दलित सवाल पर अछूतोद्धार से आगे नहीं बढ़ पाये थे। उल्लेखनीय है कि 1935-36 की कहानियां 'कफन' और 'जुरमाना' एवं 1934 की 'दूध का दाम' में वर्गीय शोषण और शोषणकारी श्रम संबंध कहीं बड़ी दलित समस्या के रूप में चिह्नित किये गये हैं। इसी आधार पर इस समय दलित समस्या के समाधान के बतौर-अपने शुरूआती सुधारवादी तरीके से आगे बढ़ते हुए-सम्पूर्ण सामाजिक-आर्थिक और श्रम संबंधों में प्रेमचंद आमूलचूल परिवर्तन की जरूरत का संकेत देते नजर आते हैं। इन्हीं अर्थों में वह शुरूआत के आलोचनात्मक यथार्थवादी साहित्यकार से संरचनावादी 'समाजवादी' साहित्यकार के रूप में विकसित होते हुए दिखते हैं। अतः प्रेमचंद दलित समस्या और सवाल पर गांधी से कहीं पहले और गांधी की सुधारवादी सीमाओं से कहीं आगे परिवर्तनकारी 'समाजवादी' व्यवस्था को समाधान के रूप में देखते हैं। जहां तक आंबेडकर की बात है, वह भी 1930 के मध्य तक एक ओर जाति विनाश और दूसरी ओर 'सेपरेट इलेक्ट्रेट' की मांग के तहत जाति के आधुनिक रूप में गठन के दर्शन तक पहुंच पाये थे। मैं प्रेमचंद की संरचनावादी दृष्टि की सीमा की चर्चा इस लेख के अंतिम हिस्से में करूंगा।

संकलन के सम्पादक ने सही ही कहा है कि प्रेमचंद के दलित पात्रों का वैचारिक विकास हुआ है। 'सद्गति' (1930-31) के 'दुखी' की तुलना में 'घासवाली' (1929), 'कफन' (1935-36) के पात्र शोषणकारी चक्र को समझते हैं, प्रतिरोध करते हैं और चुनौती देते हुए नजर आते हैं। जबकि, पुस्तक की प्रस्तावना में उस वैचारिक विकास-उभरते प्रतिरोधों एवं चुनौती देने के प्रयासों को अर्थात दलित मुक्ति संघर्ष की दिशा और स्वरूप के विश्लेषण का अभाव शिद्दत से महसूस किया जा सकता है। वस्तुतः 'घासवाली' (1929) की मुलिया, 'ठाकुर का कुआं' (1931) की गंगी, 'दूध का दाम' (1934), 'कफन' (1935-36) के माधव और घीसू के प्रतिरोधों की दिशा और स्वरूप अलग-अलग दिखते हैं, वरन मुलिया का प्रतिरोध जहां सशक्त, चुनौतीपूर्ण ढंग से स्वतंत्र व सम्मानपूर्ण जीवन के लिए था, वहीं माधव और घीसू की चुनौती प्रतिगामी अल्पकालिक मस्ती भरे जीवन की राह की ओर ले जाता है और सम्पादक द्वारा ऐसे प्रतिरोध का उत्सवीकरण और इसे दलित जीवन के विशिष्ट अनुभव से जोड़ना शायद ही सराहनीय लगे।

संपादक का यह मत उचित है कि 'प्रेमचंद की इन कहानियों में जो दलित पात्र हैं, उनमें पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां ज्यादा साहसी एवं जुझारू हैं।' इसकी व्याख्या संपादक शोषण की सीमा और प्रतिरोध की चेतना के बीच सीधा संबंध मानकर करते हैं। लेकिन, यह एक अहम सवाल है कि 'घासवाली' की मुलिया के अलावा अन्य शोषित स्त्रियों की चुप्पी या गैरप्रतिरोधपूर्ण स्थिति का कारण बताने में यह व्याख्या बताने में असमर्थ क्यों है? दूसरे शब्दों में क्या हमें मुलिया के प्रतिरोध को 'विलक्षण' सा मान किसी अन्य ठोस व्याख्या की जरूरत नहीं है? दरअसल, समाजशाीय अध्ययन में शोषण एवं प्रतिरोध की चेतना के बीच स्थापित संबंधों की व्यापक जांच-पड़ताल की जरूरत है।

लेख के इस हिस्से में मैं पुस्तक की प्रस्तावना से अपना ध्यान हटाते हुए प्रेमचंद की इन कहानियों के राजनीतिक एवं दार्शनिक पक्ष की विवेचना करना चाहता हूं। आज विद्वानों में अमूमन सहमति है कि प्रेमचंद का वैचारिक पक्ष शुरूआती दौर में 'विचारवाद' एवं 'व्यवहारवाद' के करीब था। कुछ लोग गलती से इसे प्रेमचंद का गांधीवादी चरण मानते हैं, क्योंकि 1911-13 की उनकी कहानियों पर शायद ही अमूर्त गांधीवादी सुधारवाद एवं विचारवाद का प्रभाव हो। 1927 की 'मंदिर' 1930-31 की 'सद्गति' और इसके बाद की कहानियों में प्रेमचंद, जैसा कि मैंने पहले भी कहा है, समाजवादी-संरचनावादी विचारक के रूप में विकसित होते हुए दिखते हैं। संपादक की धारणा के विपरीत

मैं समझता हूं कि 1932 की 'ठाकुर का कुआं' से आगे प्रेमचंद भारतीय समाज के आर्थिक संबंधों-व्यवस्था को सामाजिक-जातीय शोषण की धुरी भी समझने लगे थे।

अपने विश्लेषण में प्रेमचंद समकालीन समाजवादी-साम्यवादी लोगों से एक मामले में आगे भी दिखाई देते हैं। इस समय के समाजवादी-साम्यवादी जहां 'आर्थिक नियतिवाद' की धारणा के शिकार थे, वहीं प्रेमचंद 1932 से 1936 के बीच की कहानियों में मानव का अपने भविष्य, इतिहास निर्माण के प्रयास और इन प्रयासों की सफलता-असफलता को भी मानव की जीवन दशा के लिए जिम्मेदार, स्वतंत्र और एकमात्र कारक के रूप में चिन्हित करते हैं। उल्लेखनीय है कि इस दार्शनिक मत को 1960 के दशक में फ्रांसीसी संरचनावादी 'अलयूजर' के वरक्स ब्रिटिश इतिहासकार-सिद्धांतकार ई.पी. थाम्पसन ने रखा था (पॉवर्टी ऑफ थ्योरी - 'ई.पी. थाम्पसन)।

इस अंतर्दृष्टि के बावजूद प्रेमचंद के विश्लेषण एवं वैचारिक आधार की एक गंभीर सीमा भी इन कहानियों में मौजूद है। संपादक प्रस्तावना के पहले पृष्ठ पर कहते हैं कि दलितों का तबका दोहरी गुलामी अंग्रेजी सत्ता और ब्राह्मणवाद झेल रहा था। लेकिन, वह इस बात पर मौन हैं कि किस प्रकार दोनों प्रकार की गुलामी के तंत्र एक-दूसरे से गुंथे थे या ब्राह्मणवादी गुलामी का राजनीतिक गठन कैसा था? औपनिवेशिक गुलामी किस प्रकार ब्राह्मणवादी गुलामी को संरक्षण प्रदान कर रहा था? क्या दोनों एक-दूसरे को मजबूती नहीं प्रदान कर रहे थे? इस महत्वपूर्ण राजनीतिक-आर्थिक पहलू का अभाव इस पुस्तक में उपलब्ध प्रेमचंद की कहानियों की अफसोसजनक कमी है। संभवतः इस विश्लेषण की अनुपस्थिति प्रेमचंद के दलित पात्रों की किसी राजनीतिक तैयारी की गैर मौजूदगी की ओर भी इशारा करता है। जबकि, हम जानते हैं कि 1930 के दशक के पूर्वार्ध में भी दक्षिण भारत और बिहार के सारण जिले में दलित राजनीतिक लामबंदी की ओर बढ़ रहे थे। ऐसे में कोई यदि यह आरोप लगाता है कि प्रेमचंद के तथाकथित विद्रोही दलित पात्र शायद ही मजबूत एवं प्रभावशाली विद्रोही एवं विचारक के रूप में नजर आते हैं, तो यह गलत नही लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि 1934 से 1936 की कहानियों में प्रेमचंद पूर्वी उत्तर प्रदेश के दलित समाज और किसान समाज के भीतर अपनी स्थिति में परिवर्तन के लिए किये जा रहे प्रयासों की खोज करते हैं, लेकिन उनकी 'निराशा' कफन में किसानों के 'विचार शून्य समूह' के उपर व्यंग्यात्मक टिप्पणी के रूप में सामने आती है।

अब सवाल यह उठता है कि क्या प्रेमचंद की यह निराशापूर्ण विवेचना 'यथार्थवादी' है या कहानीकार का 'व्यक्तिवादी' विमर्श है? जो विद्वान प्रेमचंद पर 'कफन' का हवाला देते हुए – दलित पात्रों के लम्पटीकरण और सामंती मूल्यों के पक्षधर होने का आरोप लगाते हैं, वे वस्तुतः प्रेमचंद की इन कहानियों को 'गैर-यथार्थवादी' और 'व्यक्तिवादी' विमर्श बताते हैं। सामंती मूल्यों की पक्षधरता का आरोप कफन कहानी के संदर्भ में गैरप्रासंगिक और महज उत्तेजनापूर्ण लगता है।

लेकिन यदि हम मानते हैं कि प्रेमचंद की ये कहानियां यथार्थवादी हैं, तो क्या यह 1930 के पूर्वार्ध के किसान एवं दलित समाज के राजनीतिक-वैचारिक चरित्र का प्रमुख पक्ष प्रस्तुत करता है? प्रेमचंद के सही मूल्यांकन के लिए विद्वानों द्वारा इस सवाल के व्यापक जांच-पड़ताल की जरूरत है। अभी तो इस संबंध में प्रेमचंद के पक्ष में इतना ही कहा जा सकता है कि उनके इर्द-गिर्द के पूर्वी उत्तर प्रदेश का दलित-कृषक समाज शायद उनकी नजर में क्रांतिकारी अंगड़ाई नहीं ले रहा था और इस स्थिति को प्रेमचंद ने अपनी अंतिम कहानियों में – खासकर 'कफन' में – कुछ निराशापूर्ण ढंग से सामने रखा है।

- मार्च, 2007

अध्याय – 31

मुक्ति संघर्ष के दो दस्तावेज

रेयाज-उल-हक

आज जब हम कश्मीर, चेचेन्या, इराक और फलस्तीन में आजादी और राष्ट्रीयता की लड़ाइयों से रू-ब-रू हो रहे हैं, लोकतंत्र, शांति और राष्ट्रवाद के रक्तस्नात नारों और मंत्रोच्चर के स्वर हमारे परिवेश को हिंसक संभावनाओं से भर रहे हैं – हम दो ऐसी फिल्मों को याद करना चाहेंगे, जिनमें हमारा परिचय आजादी की उत्कट आकांक्षा और उसके लिए कोशिशों से होता है।

यों तो हॉलीवुड और; ऐसा कहा जाता है कि बॉलीवुड में भी आजादी को केंद्र में रख कर अनेक फिल्में बनी हैं, मगर ये दोनों फिल्में इन दोनों ही फिल्म उद्योगों से बाहर की हैं, इनमें से एक लीबिया में बनी है और दूसरी ईरान में। ये दोनों देश कमोबेश साम्राज्यवादी देशों के निशाने पर रहे हैं। इन फिल्मों में से एक तो सीधे उन कुर्बानियों का ही सिनेमाई दस्तावेज हैं, जो आजादी के लिए दी गयीं और दूसरी सीधे किसी लड़ाई को अपनी केन्द्रीय विषयवस्तु न बनाते हुए भी मुक्ति की आकांक्षा को पूरी शिद्दत के साथ सामने लाती है।

'लायन ऑफ द डेजर्ट' मुस्तफा अक्काद की चर्चित फिल्म है। एंटोनी क्विन्न के कमाल के अभिनयवाली यह फिल्म लीबियाई जनता के महान संघर्ष पर आधारित है। 1911 में इटली की सेना द्वारा लीबिया पर कब्जा करने के बाद वहां के लोगों ने प्रतिरोध संघर्ष छेड़ दिया। एक साधारण से मदरसा शिक्षक उमर मुख्तार के नेतृत्व में लीबियाई जनता एकजुट हुई और उसने अपनी पुरानी बंदूकों और पुराने तरीकों से इटली की सेना के खिलाफ युद्ध की शुरुआत की। इटली के पास न सिर्फ लीबियाईयों के मुकाबले आधुनिक सैन्य साजो-सामान थे, तोपें थीं बल्कि उनके तरीके भी अधिक क्रूर थे। उन्होंने गांवों को उजाड़ दिया और फसलें जला डालीं। ताकि लड़ाकुओं को मदद और रसद न मिल सके। जो नागरिक आजादी लड़ाई में न जा सके थे, औरतें बच्चे और बीमार,

उन्हें यातना शिविरों में रखा गया, जहां वे खुद मर जाते या उन्हें फांसी पर लटका दिया जाता। इसके बावजूद लीबियाई जनता का अपराजेय प्रतिरोध तेज और मजबूत होता गया। उन्होंने अनेक लड़ाइयां जीतीं, अपने बहुत सारे साथियों के मारे जाने के बाद भी वे थके नहीं, हार नहीं मानी और एक से दूसरी जगह अपने ठिकाने बनाते हुए मुसोलिनी के फासिस्ट मंसूबों से लोहा लेते रहे।

प्रतिरोध आंदोलन जब शुरु हुआ, इसके नेता उमर मुख्तार 49 साल के थे। उन्होंने 20 साल से अधिक समय तक प्रतिरोध आंदोलन का नेतृत्व किया। इस दौरान इटली की सेना कभी भी निर्द्वंद्व होकर लीबिया पर काबिज नहीं हो पायी। 1931 में उमर मुख्तार की गिरफ्तारी और उनको फांसी दिये जाने के बाद भी प्रतिरोध की उस लहर को समाप्त नहीं किया जा सका।

फिल्म इस पूरे घटनाक्रम को उसके सभी आयामों के साथ दर्ज करती है। गांववालों के संगीतमय उत्सव, वहां की लड़कियों का उल्लास, बच्चों की शरारतें और फिर एक दिन सब कुछ का खत्म हो जाना! 1981 में प्रदर्शित हुई यह फिल्म इटली में बहुत दिनों तक प्रतिबंधित रही।

दूसरी फिल्म है मजीद मजीदी की 'चिल्ड्रेन ऑफ हैवेन'। 1997 में ईरान में बनी फारसी भाषा की इस फिल्म को 1998 का ऑस्कर अवार्ड भी मिला था। सरसरी तौर पर यह फिल्म दो बच्चों और उनके जूतों की कहानी लगती है, लेकिन अगर हम इसके बिंबों को पढ़ने की कोशिश करें, तो पाते हैं कि यह फिल्म एक समाज की अपने रूढ़ होते समय से बाहर आने की छटपटाहट से भरी है। फिल्म में ईरानी समाज में तीव्र वर्गीय विभाजन और लगातार बदतर होते राजनीतिक हालात के बारे में पता चलता है।

फिल्म की शुरुआत होती है जूतों की मरम्मत के दृश्य से। अली अपनी छोटी बहन जोहरा के जूते मरम्मत करा रहा है। मगर लौटते समय वह रास्ते में उन्हें खो देता है। जब जोहरा को पता चलता है कि जूते खो गये, उसके सामने सबसे बड़ी समस्या यह खड़ी होती है कि वह अब स्कूल कैसे जायेगी। अली जोहरा को यह बात मां-बाप से बताने को इसलिए मना करता है क्योंकि वह जानता है कि उनके पास पैसे नहीं हैं और वे जूते नहीं खरीद पायेंगे। जूते खो देने के कारण उसे मार खाने का भी डर होता है।

अली जोहरा को इस बात के लिए राजी कर लेता है कि वह अली के जूते पहन कर स्कूल चली जायेगी। वह लौटेगी तो अली स्कूल जाएगा। इसके बाद आप फिल्म के अधिकतर हिस्सों में इन दोनों बच्चों को बस दौड़ते हुए देखते हैं। जोहरा दौड़ते हुए स्कूल से लौटती है ताकि अली को स्कूल जाने में देर न

हो। अली भी दौड़ते हुए स्कूल पहुंचता है और देर से पहुंच कर डांट खाता है।

बच्चों की यह दौड़ ईरानी समाज द्वारा आर्थिक शोषण मुक्ति के लिए की जाने वाली दौड़ का रूपक बन जाता है। अली के परिवार की गरीबी के दृश्य उस त्रासदी को और गहरा कर देते हैं, जो फिल्म के माध्यम से बार-बार उभर कर सामने आती हैं। फिल्म के एक दृश्य में अली और उसके पिता बागवानी का कुछ काम करके अतिरिक्त पैसे कमाने के इरादे से निकलते हैं। मगर उन्हें अधिकतर जगहों से फटकार ही मिलती है। अंत में जब उन्हें एक जगह काम मिलता है और वे कुछ पैसे कमा पाते हैं लेकिन लौटते समय उनका एक्सीडेंट हो जाता है और कमाये हुए पैसे इलाज में लग जाते हैं।

जूतों की समस्या के हल के लिए अली प्रांतीय स्तर की दौड़ प्रतियोगिता में भाग लेता है, जिसमें तीसरे स्थान पर आने वाले लड़के को एक जोड़ी जूते दिये जाने थे। अली इसी तीसरे स्थान के लिए दौड़ता है और जानबूझ कर अपने आगे दो प्रतिभागियों को निकलने देता है। मगर अंतिम समय में कई लड़कों के आगे आने के कारण वह दूरी बरकरार नहीं रख पाता और गति बढ़ाने के चक्कर में सबसे पहले जीत का निशान पार कर जाता है।

यह जीत अली के लिए बहुत बड़ी विडम्बना है। वह चाहता है कि उसे जूते मिलें और उसे एक कप थमा दिया जाता है, जिसका अली के लिए कोई मतलब नहीं।

थका-हारा अली जब घर लौटता है, जोहरा उसकी राह देख रही होती है। उसे उदास देखते ही वह सब समझ जाती है। फिल्म के अंतिम दृश्य में पानी में डूबा अली का फफोलों वाला पैर दिखता है, जिसे मछलियों ने घेर रखा है। अली ने फट चुका जूता अभी-अभी निकाल फेंका है। ईरान जैसे समाज में अपनी बात कहने के लिए जिस तरह के कौशल और बिंबों के इस्तेमाल की जरूरत है, मजीद मजीदी ने उन्हें गढ़ने में मेहनत की है। देखनेवाले को लगता है कि वह जूतों पर एक बेहतरीन फिल्म देख रहा है, मगर वास्तव में वे जूते अंततः ईरानी समाज की आर्थिक-गैरबराबरी से मुक्ति की चाहत और लोकतांत्रिक की आकांक्षाओं के प्रतीक बन कर उभरते हैं।

अगर इन दोनों फिल्मों को मिलाकर देखा जाये तो ये वर्तमान वैश्विक परिदृश्य को मुकम्मल तौर पर अभिव्यक्ति देती नजर आती हैं। 'लायन आफ़ द डेज़र्ट' इराक, फलस्तीन, कश्मीर, चेचेन्या, फिलीपींस, पेरु और बाकी जगहों पर युद्धरत जनता के संघर्षों को स्वर देती है तो दूसरी ओर 'चिल्ड्रेंस हैवन' अमेरिकी साम्राज्य के कर्ताधर्ताओं द्वारा निर्यात की जा रही आजादी और

लोकतंत्र की अवधारणओं और स्वरूपों के बरअक्स अपनी तरह की और सही मायनों में सच्ची आजादी और जनवाद का विकल्प सामने लेकर आती है, जहां उधार के जूते पहनने की मजबूरी और जरूरत न हो। यह एक तरह से 'लायन आफ़ द डेर्ज़ट' का उत्तरार्ध भी है।

हम इन फिल्मों में देखते हैं कि इनकी देशभक्ति की अवधारणा किसी दूसरे देश के खिलाफ नफरत की बुनियाद पर नहीं खड़ी की गई है और न ही इनमें देशभक्ति किसी सनक की स्थानापन्न बनती है।

यह ठीक वह जगह है जब इनके साथ हिन्दी फिल्मों पर भी तुलनात्मक बात की जानी चाहिए। हमारे सामने हिन्दी फिल्मों का 75 साल पुराना इतिहास है और यह शर्मनाक है कि हम उन हजारों हिन्दी फिल्मों में से उंगलियों पर गिनी जाने लायक महज कुछ 'कला' फिल्में ही बता सकते हैं जो अपने इतिहास और भविष्य को वैज्ञानिक और बौद्धिक तरीके से विषय बनाती हों। हमारे यहां देशभक्ति की बड़ी भ्रमित करनेवाली अवधारणा प्रायः शुरु से ही रही है।

1947 के बाद जो फिल्में देश के लोगों और देशभक्ति को अपना केंद्रीय विषय वस्तु बनाते हुए बनीं, उनमें तो कुछ हद तक एक संतुलन था भी। अभी-अभी देश से गये साम्राज्यवादी शासकों के प्रति गुस्सा और देश में बचे रह गये उनके अवशेषों के प्रति संदेह की मौजूदगी उनमें मिलती है, खासकर प्रगतिशील लेखक संघ और इप्टा से जुड़ लेखकों-फिल्मकारों की फिल्मों में। आवारा और श्री 420 जैसी फिल्में भी सीधे-सीधे देश भक्ति पर न होते हुए आजादी और आम आदमी से जुड़, आधारभूत सवालों को रेखांकित करती हैं। मगर इसी के साथ आदर्शवादी चरित्र और ऐतिहासिक दृष्टि से पूरी तरह गलत तथ्यों के आधार पर नायकों को गढ़ने का सिलसिला भी चला। 'दे दी हमें आजादी बिना खड्ग बिना ढाल' जैसे हास्यास्पद और तथ्यहीन निष्कर्ष उसी दौर में थोपे गये। मगर 70 के दशक की शुरुआत से, जब कांग्रेस से मोहभंग शुरु हुआ, आजादी और देशभक्ति की अवधारणाओं में बदलाव दिखने लगा। अंगरेजों की जगह कुछ अजीब सी पोशाकोंवाले खलनायक देश के दुश्मन के रूप में सामने आये जिनके साथ कुछ अंगरेजी लहजे में हिंदी बोलनेवाले विदेशी रहते थे और जो मिलकर देश को तोड़ने और तरस्करी करने का धंधा करते थे। 90 के दशक में यह दौर भी खत्म हुआ और सीधे-सीधे पाकिस्तान हमारे लिए एक दुश्मन के रूप में बिठा दिया गया। देश की सारी समस्याओं, सारी बुराइयों का एकमात्र कारण!

आज इन विषयों पर जो भी फिल्में आ रही हैं उनमें यह साफ दिखता है कि

वे बस लोगों में बैठा दी गयी असुरक्षा की भावना को भुनाना और उसे और गहरा कर देना चाहती हैं। देशभक्ति को बिना एक ठोस अवधारणा का रूप दिये, एक सनकीपन की तरह परोसा जा रहा है। कश्मीर ऐसी ही सनक के रूप में हमारी फिल्मों में प्रवेश पाता है। कश्मीर का संकट जितना गहराता गया, जितना बड़ा होता गया, फिल्मकारों के लिए उस पर फिल्म बनाना भी जटिल होता गया है, लेकिन किसी फिल्मकार ने इस विषय पर सरकारी नजरिये से अलग हटकर फीचर फिल्में बनाने की कोशिश नहीं की है।

इसके अलावा हिन्दी फिल्मों का वर्गीय चरित्र भी साफ है। हिन्दी फिल्मों के किसान शोषण और औपनिवेशिक अत्याचारों से मुक्ति पाने के लिए विद्रोह नहीं करते, वे लगान माफ कराने के लिए क्रिकेट खेलने में अपना वक्त जाया करते हैं।

- *अगस्त, 2007*

अध्याय - 32

राजापाकर कांड

नरेन्द्र कुमार

[13 सितंबर, 2007 को राजापाकर कांड में 10 युवकों की पीट-पीट कर हत्या कर दी गई। कुरेरी जाति के इन घुमंतुओं का न कोई राजनीतिक दल है, न जातीय संगठन। वे मतदाता सूची तक से बाहर हैं। इस घटना के कुछ रोज पहले जब एक मुसलमान युवक को पुलिसवालों ने मोटरसाईकिल से बांधकर सड़क पर घसीटा था तो लालू प्रसाद व उनके राष्ट्रीय जनता दल ने जबरदस्त विरोध दर्ज किया था। लालू प्रसाद के लिए यह मानवाधिकार से अधिक वोट का मामला था। लेकिन राजापाकर के जघन्यतम नरसंहार के हत्यारे चूंकि उनकी ही जाति के थे इसलिए वह चुप्पी साधे रहे। एक जातीय संगठन ने हत्यारों के पक्ष में प्रदर्शन तक किया। इसी तरह जब बेलछी में एक पिछड़ी जाति के भूस्वामियों ने 11 दलितों को रस्सी से बांध कर जिन्दा जला दिया था तो उनके जाति संगठनों ने हत्यारों को छोड़ने की मांग की थी। उस समय इंदिरा गांधी नाटकीय ढंग से हाथी पर सवार होकर बेलछी आईं थीं तो यह उनकी भी वोट पॉलिटिक्स ही थी। इसके एवज में दलितों ने कांग्रेस का साथ भी दिया था। बेलछी (1977) और राजापाकर (2007) के बीच के 30 वर्षों में उत्तर भारत में परवान चढ़ी 'सामाजिक न्याय' की राजनीति सत्ता समीकरणों में परिवर्तन की कवायद से आगे नहीं बढ़ सकी है। 'अन्याय का विरोध' उसके ऐजेंडे में नहीं है।

दलितों, मुसलमानों, विभिन्न पिछड़ी जातियों की आवाज उठाने वाले आज अनेक दल हैं। लेकिन विडंबना है कि जो समुदाय राजनीतिक सत्ता समीकरण बनाने-बिगाड़ने की हैसियत नहीं रखते, उनके प्रति ये दल पूरी तरह उदासीन रहते हैं। ऐसे अनेक समुदाय कम्युनिस्ट पार्टियों की सर्वहारा की परिभाषा से भी बाहर हैं, नक्सली कहे जाने वाले अति वामपांथियों का एजेंडा भी उन तक नहीं

*पहुंचता। राजापाकर कांड के पीछे सामाजिक-आर्थिक कारण और बर्बर होते समाज के संकेतों के साथ एक बड़ा सवाल यह भी है कि वर्तमान दलीय राजनीतिक व्यवस्था में ऐसे सामाजिक समूहों की नियति क्या है? – **संपादक**]*

सरकारी जांच की यह रिर्पोट कि मार दिये गये लोग चोरी करके नहीं, कहीं से भोज खाकर आ रहे थे, मेरे लिए बिल्कुल अप्रासंगिक है। मैं तो हत्यारे की बात को ही सच मानकर बात करना चाहता हूं कि वे चोर थे।

चोर, धन-संपति, मानव-समाज मानवाधिकार ये सारे शब्द अपनी परिभाषा पर बहस की मांग करते हैं। लेकिन यहां हम चोरी और धन संपत्ति तक ही सीमित रहेंगे। चोरी का सीधा शाब्दिक अर्थ है कि किसी की मेहनत से पैदा की गई वस्तु को कोई और उड़ा ले जाये या और सामान्य रूप से कहें कि किसी के श्रम के द्वारा पैदा किये गये जीवन के साधनों कोई दूसरा इस्तेमाल कर ले।

मानव समाज अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जीवन के साधन प्रायः सामूहिक प्रयासों से ही पैदा करता है लेकिन स्वामी वर्ग हमेशा ही इन साधनों का बड़ा हिस्सा चुराता रहा है। बड़ा तबका, जो श्रम से सीधे जुड़ा होता है उसके पास छोटा हिस्सा ही बचता है। सामंती समाज से लेकर आज के विश्वव्यापी पूंजीवादी प्रभुत्व वाले समाज में शासक वर्गों के द्वारा मेहनतकश के हिस्से की चोरी लगातार विकराल रूप लेती गई है लेकिन इस तरह की तमाम चोरियों को कानूनन सही ठहराया जाता है और इस तरह की चोरी से जुटायी संपत्ति के लिए यह समाज उन चोरों का सम्मान भी करता है। अनाज उगाने के बाद भी मजदूर उससे वंचित रहे, मेहनत करने के लिए तैयार रहने पर भी काम या जीने लायक मजदूरी न मिले तो इन मेहनतकशों का श्रम से अलगाव क्यों न हो? क्यों नहीं हमारे समाज में प्रेमचंद की कफन कहानी के घीसू माधव जैसे पात्रों की भरमार हो जाये? ऐसी स्थिति में समाज के सामूहिक श्रम से पैदा संपत्ति के थोड़े हिस्से पर हाथ साफ करके अपनी आवश्यक जरूरतों का अल्पतम पूरा करने की कोशिशों को किस नैतिक विधान के आधर पर अपराध कहा जा सकता है?

वर्षों पहले से हमारे ग्रामीण समाज में चोर कभी उत्पादन के साधन जैसे, जानवर, पंपिंग सेट आदि तो कभी उपजी हुई फसल से दो चार बोझे काटकर ले जाते रहे हैं। संभवतः वैशाली के राजापाकर में भी लोग ऐसी ही चोरी से परेशान होंगे। यद्यपि तथ्य यह भी है कि पिछले कई महीनों में उस इलाके में

चोरी की सिर्फ चार वारदातें थाने में दर्ज हुई थीं। निश्चय ही यह कोई बहुत बड़ी संख्या नहीं है।

बहरहाल, राजापाकर के ढेलपुरवा गांव में भीड़ ने हत्या की है। भले ही इस भीड़ को उकसाने वाले संपत्तिशाली वर्ग के लोग होंगे लेकिन इस हत्यारी भीड़ का बड़ा हिस्सा तो छोटे टूटपूंजिया उत्पादक किसान या व्यापारियों का ही था। तब प्रश्न उठता है कि यह भीड़ जिसकी जीवन स्थिति इन चोरों की तरह ही तंगहाल है इतनी क्रूर और हिंसक क्यों बन जाती है? इन टूटपूंजियों के अंदर बढ़ती हिंसक प्रवृति और निर्ममता को समझने के लिऐ 40-50 व पहले की खेती को याद करें। पहले का किसान प्रकृति तथा अपने व समाज के श्रम से तैयार साधनों द्वारा खेती कर फसल उगाता था। चोरी होती थी तो झगड़े होते थे, गाली गलौज और हद से हद कुछ मारा-पीटी होती थी। पहले के दिनों में भी साधनहीन किसान अपनी जरूरतों की पूर्ति के लिए पड़ोसियों के साधनों से ऐसी चोरी यदा-कदा करता ही था। वस्तुतः चोरी अभावग्रस्त समाज की संस्कृति का हिस्सा रही है। मसलन, यदि किसी साधनहीन किसान की फसल सूख रही है और किसी दूसरे संपन्न या गरीब किसान के खेतों में पानी है तो रात के अंधेरे में मेढ़ों में छेद कर कुछ पानी चुरा लेने की घटना अक्सर होती थी। रब्बी फसल चुरा कर जानवरों को खिला देने की घटना भी सामान्य बात थी। उस समय जिन किसानों की फसल या खेती के साधन की चोरी होती थी यदि उन्हें समाज, सरकार या न्यायालय चोरों को सजा देने का अधिकार भी दे देता तो वे उनके लिए मृत्युदंड की कल्पना तक नहीं करते।

फिर आज के दौर में ऐसा कौन सा आर्थिक-सामाजिक परिवर्तन आ गया कि यह तबका इतना असहिष्णु और हिंसक हो गया? क्यों यह आशंका मात्र से ही दस-दस लोगों की जान ले ले रहा है? यह नया धनिक व मध्यम किसान आज सिर्फ दूसरे की हत्या ही नहीं, आत्महत्या भी कर रहा है। कहीं ये दोनों कड़ी एक दूसरे से जुड़ी तो नहीं? हत्या और आत्महत्या के इस दौर को समझने के लिए आज की खेती की जांच करें और 40-50 वर्ष पहले की खेती से इसकी तुलना करें।

पिछले कुछ वर्षों में बाजार के लिए नगदी फसल, सब्जी के उत्पादन में हुई वृद्धि के कारण गांव के पुराने भूस्वामियों व धनी किसानों ने ग्रामीण पूंजीपति के रूप में विकास किया है। इनके साथ छोटे किसान भी अपनी और कुछ पट्टे पर ली गई जमीन में अत्यधिक पूंजी लगाकर बाजार के लिए माल पैदा करने में जुटे हैं। इन छोटे किसानों के बीच से थोड़े लोग इस मायावी विकास की

कृपा से धन-संपत्ति के स्वामी भी बनते जा रहे हैं। बढ़ती संपत्ति को बनाये रखने और बढ़ाते रहने की मानसिकता के कारण ये टुटपूंजिया उत्पादक अनिश्चितता और आशंकाओं के गिरफ्त में रहते हैं। यद्यपि वे बस कहने के लिए ही अपनी खेती, साधनों और संपत्ति के मालिक होते हैं। वास्तविक स्थिति तो यह रहती है कि वे स्थानीय सूदखोर, भूस्वामियों, व्यापारियों तथा बैंकों के बंधक होते लेकिन संपत्ति तथा छोटे मोटे साधनों के मालिक के रूप में इन टूटपूंजिया उत्पादकों की मानसिकता एक जैसी होती है। यह मानसिकता इन्हें अक्सर गांव के मजदूरों, बेरोजगारों, आवारों व फटेहालों के खिलाफ एकजुट कर देती है।

बाजार तथा पूंजीवादी उत्पादन कितना क्रूर होता है, सामाजिक संबधों तथा मानवीय संवेदना के प्रति कितना निर्मम होता है, इसे समझने के लिए हम थोड़ा और गहराई में जाने की कोशिश करें। वर्षों पहले गांव के उत्पादक किसान अपने डीह में सब्जी या बगीचे के फलों को अपने पड़ोसियों तथा रिश्तेदारों के यहां पहुंचा दिया करते थे। उस समय इन पैदावारों का बाजार से आज की तरह घनिष्ठ संबंध नहीं था। ये किसान इन चीजों का सिर्फ उपयोग मूल्य जानते थे सो इसका उपयोग हो जाए यही उनकी चिंता रहती थी। इसीलिए तब के मध्यवर्गीय समाज में कंजूस लोगों को हिकारत के भाव से देखते हुए कहा जाता था, 'सड़ गल जाय लेकिन गोतिया न खाय।'

लेकिन कल का मध्यवर्गीय समाज और आज का टूटपूंजिया उत्पादक समाज एक दूसरे पर यह आरोप लगाना भूल गया है। वे अब अपने उत्पाद के विनिमय मूल्य के अंदर छिपी पूंजी की ताकत को समझ गए हैं। अपने बागीचे के आम, अमरूद, केला, लीची, खेतों की हरी-हरी सब्जियां और दुधारू जानवरों के दूध की एक-एक बूंद में उन्हें नगद सिक्के नजर आते हैं। इन सिक्कों का बड़ा हिस्सा तो खाद, बीज, तेल व खेती के साधनों के मूल्य के रूप में साम्राज्यवादी व भारतीय पूंजीपतियों के अलावे स्थानीय पूंजी के स्वामियों के जेब में जाता है। किन्तु कभी-कभी इसका छोटा हिस्सा इनकी पूंजी और संपत्ति बढ़ाने में भी सहायक हो जाता है।

हमारे सामाजिक परिवेश में सामंती शक्तियों के मुकाबले पूंजीवाद को प्रगतिशील मानने वाले बुद्धिजीवी तथा राजनैतिक संगठन चेतन या अचेतन रूप से इस बात को नजरअंदाज करते रहते हैं कि आज का पूंजीवाद और उसका पिछलग्गु टुटपूंजिया वर्ग निर्ममता और खुंखारपन में उससे बहुत पीछे नहीं है। जब गांवों में सामंती शक्तियां मजबूत स्थिति में थीं तो विकासमान

नवधनाढ्य व टुटपूंजिया सामंती ताकतों से विरोध के कारण गरीब वर्ग से सहानुभूति और एकता कभी-कभी बना लेता था लेकिन अब तो गांवों में नये मालिक के रूप में इनका ही वर्चस्व है। जहां सामंती ताकतें मौजूद हैं वहां संपत्ति के मालिक के रूप में ये गरीबों और फटेहालों की अपेक्षा खुद को उनके करीबी के रूप में देखते है।

आज पूंजीवादी शक्तियां अपनी प्रगतिशील भूमिका खो चुकी हैं। अपनी पूंजी को बढ़ाने तथा उसे बचाये रखने के लिए इस वर्ग ने सामंती समाज की तमाम बुराईयों को सीधे-सीधे अपना लिया है। यही कारण है कि पिछड़ी जाति तथा दलित समाज के बीच से उभरे संपत्ति के नये मालिक परम्परागत उंची जाति के धनिक वर्गों के साथ गठजोड़ कर पूंजीवादी उत्पादन प्रवृतियों, मानसिकता के साथ-साथ सामंती संस्कृति का पोषक बन गया है। ग्रामीण समाज का यही गठबंधन साम्राज्यवादी पूंजीवादी शक्तियों का सामाजिक आधार है।

संपत्ति के मालिक की मानसिकता से ग्रसित होकर ये छोटे चोरों की तो आशंका मात्र से ही हत्या कर देते हैं। लेकिन मोसेन्टों और करगिल बड़े डकैत समय-समय पर कीटनाशक दवाओं, बीज आदि के माध्यम से जल्दी अमीर बनाने का सपना दिखाकर जब इन्हें लूट लेते हैं तब ये रो-धो कर रह जाते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों के पूंजी के बड़े मालिक तो ऐसे हमलों के बाद भी भवि य के मुनाफे की उम्मीद से धंधे में टिके रहते हैं। लेकिन पूंजीवाद की भयावहता को झेलता छोटा टूटपूंजिया उत्पादक बड़े मालिकों की शह पर अपनी हताशा और तबाही के लिए अपने ही समाज के दूसरे फटेहाल मजदूरों या आवारों को अपना दुश्मन समझ हमलावार हो उठता है। बिहार व वैशाली के परिवेश में ये दूसरे की हत्या करते हैं, आंध्र व महाराष्ट्र के परिवेश में ये खुद का जान ले लेते हैं।

टुटपूंजिया उत्पादकों व व्यापारियों की यह भीड़ आज पूंजी के बड़े स्वामियों की वैसे ही गुलाम है जैसे रोमन साम्राज्य के अखाड़ों के गलैडियटर होते थे। वे गलैडियटर अपने ही जैसे दूसरे गलैडियटरों की हत्या करने के लिए अभिशप्त होते थे। स्थिति भयावह है लेकिन इतिहास के अनुभवों से ही हम उर्जा और विश्वास प्राप्त करते हैं। हम उम्मीद करते हैं कि टुटपूंजिया वर्ग पूंजी के बड़े स्वामियों के गठबंधन से अलग होकर आदमखोर साम्राज्यवादी पूंजीवादी तंत्र के खिलाफ मेहनतकशों के नेतृत्व में फटेहालों और आवारागर्दों को भी संगठित करेगा और इनके बीच से निकला कोई स्पार्टकस इस अवश्यंभावी युद्ध का नेतृत्व करेगा।

भाग – 4

साक्षात्कार

अध्याय – 33

वैश्वीकरण के साथ खास तरह के संवाद की जरूरत

मार्क्सवादी राजनेता *सीताराम येचुरी* से *मृत्युंजय प्रभाकर* की बातचीत

मृत्युंजय प्रभाकर : *हमारे देश में बुर्जुआ वर्ग की पॉलिसी रही है कि किसी अप्रिय घटना को सीधे-सीधे साजिश करार दिया जाय। इसे कांसपेरेसी थ्योरी कहा जाता है। आपको नहीं लगता कि नंदीग्राम के मामले में आपकी पार्टी यही रवैया अपना रही है?*

सीताराम येचुरी : कोई कांसपेरेसी थ्योरी नहीं है। यह एक सीधा राजनीतिक टकराव है। लोगों के बीच शंका थी कि उनकी जमीन ली जा सकती है और वह जमीन देना नहीं चाहते थे। इसके पीछे दुष्प्रचार की बड़ी भूमिका है। अफवाह उड़ाई गई कि इस परियोजना के दायरे में 300 गांव आते हैं। जबकि केन्द्र ने जो प्रस्ताव राज्य सरकार को भेजा था उसमें मात्र पांच मौजों (एक मौज में औसत तीन से चार गांव आते हैं) में इस केमिकल हब को लगाने की बात है। अफवाह को दूर करने के लिए हल्दिया डेवलपमेंट ऑथरिटी ने नोटिस जारी किया कि इस परियोजना के दायरे में मात्र पांच मौजें ही आती हैं। इस नोटिस को ही इस प्रकार दुष्प्रचारित किया गया कि सरकार जमीन छीनने का नोटिस जारी कर रही है। यहीं से झड़पों की शुरूआत हुई और हमारे कार्यकर्ताओं को उस इलाके से खदेड़ा जाने लगा। सारे रास्ते काट डाले गए। प्रशासन तक को इलाके में घुसने से रोका गया।

परंतु मामला सिर्फ नंदीग्राम का नहीं है। पश्चिम बंगाल में पिछले कुछ सालों से एक खास तरह का राजनीतिक कल्चर पैदा करने की कोशिश चल रही है। नंदीग्राम इसकी एक कड़ी मात्र है। केसपुर, बांसपेटा इसके पूर्ववर्ती उदाहरण हैं। दरअसल एक खास तरह की राजनीतिक महत्वाकांक्षा वाले लोग

आतंक के माध्यम से अपना अस्तित्व बनाने की कोशिश कर रहे हैं। केसपुर में पहले ऐसा हो चुका है। केसपुर की घटना की रिपोर्ट में यह साफ था कि वहां पी.डब्लू.जी के लोगों को तृणमूल के लोग लेकर आए थे। और यही नंदीग्राम में हुआ। दरअसल सिंगुर में भी यह लोग ऐसा ही कुछ करना चाहते थे पर हम केसपुर के अनुभव के बाद सचेत थे। इसीलिए वहां दफा 44 लगा दिया था। नंदीग्राम में हम ऐसा नहीं कर पाए क्योंकि नंदीग्राम के लिए समुद्र का रास्ता खुला था और इस प्रकार के घुसपैठ को रोकने के लिए जितनी पेट्रोलिंग की जरूरत थी वह संभव नहीं थी।

दूसरी बात यह कि फरवरी से 14 मार्च के बीच वाम मोर्चा सरकार ने शांति स्थापना हेतु 20 सर्वदलीय बैठकें बुलाईं थी। दूसरी वामपंथी पार्टियां भी इसमें शामिल थीं। इनमें अन्तिम 10 बैठकों का तृणमूल एवं एस.यू.सी.आई. ने बहिष्कार किया था इससे साफ जाहिर होता है कि तृणमूल एवं एस.यू.सी.आई. शांति स्थापना हेतु प्रयास में सहायक नहीं थे।

उधर कुल 2500 लोगों को उस इलाके से खदेड़ दिया गया था। हमारे 1000 लोग रिलीफ कैंप में रहने को मजबूर थे। उन्हें वापस लौटने नहीं दिया जा रहा था। सबके काम रूके पड़े थे। बच्चे परीक्षा नहीं दे पा रहे थे। सवाल था कि आखिर कब तक इन्तजार किया जाए। निर्णय प्रक्रिया में शामिल नहीं करने का आरोप लगा रही सी.पी.आई के विधायक विधानसभा में जोर-शोर से आवाज उठा रहे थे कि आखिर सरकार कब तक चुप बैठी रहेगी।

14 मार्च को पुलिस जाएगी यह तय किया गया था और इसकी सूचना सबको थी। राज्य सरकार की ओर से पुलिस को निर्देश था कि किसी भी सूरत में गोलीबारी न की जाए। जो लोग पुलिस और सरकार पर तैयारी के साथ हमले का आरोप लगा रहे हैं मेरे ख्याल से अगर किसी की तैयारी थी तो उनकी। जिन्होंने महिलाओं और बच्चों को आगे कर पुलिस पर हमला करने का काम किया। पुलिस ने पहले भीड़ को हटाने के लिए आंसु गैस व लाठीचार्ज का सहारा लिया। तभी उपद्रवियों की ओर से आई एक गोली पुलिस वाले को लगी। पुलिस ने जवाबी कारवाई की जिसमें 8 लोगों की दुर्भाग्यवश मौत हुई। 6 बाकी लोगों की मौत कैसे हुई यह जांच का विषय है। पर इन तमाम चीजों के बीच हम यह भूल जाते हैं कि कुल 20 पुलिसवाले भी इस घटना में घायल हुए हैं। और उनमें से दो की हालत नाजुक है।

मृत्युंजय प्रभाकर : *आपके खयाल से यह बाकी के 6 लोग किनकी*

गोलियों के शिकार हुए? विपक्ष का आरोप है कि गोलियां सी.पी.एम. के लोगों द्वारा चलाई गईं थीं।

सीताराम येचुरी : यही तो पता लगाना है। हम चाहते थे कि जूडिशियल इन्क्वायरी हो पर हाई कोर्ट ने खुद ही सीबीआई जांच के आदेश दे दिए। यह अपने आप में अनोखा उदाहरण है क्योंकि अभी तक ऐसा नहीं हुआ। इस संबंध में सुप्रीम कोर्ट में एक याचिका भी चल रही है कि हाई कोर्ट सीबीआई जांच के आदेश खुद दे सकता है या नहीं।

जहां तक पार्टी की बात है हम पूरी तरह शांति चाहते थे इसीलिए पुलिस को दो महीने तक किसी भी प्रकार की कारवाई से दूर रखा। 20-20 बैठकें बुलाईं। पर अगर आप प्रशासन को काम ही नहीं करने दोगे तो यह कैसे चलेगा। आप बताओ कि कौन सा राज्य इस स्थिति को स्वीकार कर लेता।

मृत्युंजय प्रभाकर : *आपकी पार्टी बंगाल की सबसे बड़ी पार्टी है और नंदीग्राम का इलाका भी आपके होल्ड का रहा है। फिर जनता के मिजाज को भांपने में नाकाम क्यों रहे? आप कह रहे हैं कि आपके 2500 लोगों को उस इलाके से निकाल दिया गया था, इससे साफ जाहिर होता है कि माहौल आपके खिलाफ था।*

सीताराम येचुरी : देखना यह पड़ेगा कि उन्हें निकाला कैसे गया। आतंक के जरिए। नंदीग्राम कोई बड़ा शहर तो है नहीं, ना ही वहां की आबादी लाखों में है कि वहां से अगर हमारे 2500 लोगों को निकाल दिया गया तो मान लें कि बहुमत जनता हमारे खिलाफ थी। हमारे लोगों को सीधे-सीधे डरा-धमकाकर वहां से निकाला गया।

मैं फिर केसपुर को उदाहरण के तौर पर ले रहा हूं। वहां से भी हमारे 3000 लोगों को भगा दिया गया था। उन्हें भी कई महीने तक कैम्प में रहना पड़ा था। आप पूछेंगे यह कैसे संभव होता है। यह इसीलिए संभव होता है कि यह लोग बाकी जगहों से लोगों को मोबलाइज करते हैं। ऐसी घटनाओं में अब तक हमारे 350 साथियों की जान जा चुकी है।

मृत्युंजय प्रभाकर : *वैश्वीकरण एक यथार्थ है और इसके साथ खास तरह के इंगेजमेंट की बात आपकी पार्टी करती है। औद्योगीकरण का प्रयास भी उसी का हिस्सा है। दूसरी तरफ आप वैश्वीकरण का विरोध भी करते हैं। आपको नहीं लगता कि यह बहुत नाजुक संतुलन बनाने जैसा है?*

सीताराम येचुरी : वैश्वीकरण एक यथार्थ है और इसके साथ खास तरह के डायलॉग (संवाद) की जरूरत है। यह अलग बात है। पर हम इस कारण से औद्योगीकरण चाहते हैं ऐसा नहीं है। बंगाल में पिछले पच्चीस सालों के शासन का जो हमारा अनुभव है वह हमें इस रास्ते पर ले जा रहा है। बंगाल में भूमि सुधार लागू करने के बाद हमने कृषि उत्पादकता को बढ़ाने पर जोर दिया। इसमें जितना सुधार संभव था हमने किया। अब इसमें ठहराव की स्थिति उत्पन्न हो चुकी है। हमें यहां से आगे बढ़ना है ताकि बढ़ी हुई कृषि उत्पादकता का लाभ हम उठा सकें। और इसके लिए औद्योगीकरण के अलावा कोई दूसरा रास्ता अगर हो तो आप ही सुझाएं।

बंगाल की वस्तुस्थिति को समझने के लिए सिंगुर का ही उदाहरण लें। कई लोगों को अभी तक यह भ्रम है कि सिंगुर में टाटा प्रोजेक्ट एक सेज परियोजना है, जबकि ऐसा नहीं है। खैर, इसके लिए 997 एकड़ जमीन ली गई। और कुल 16,000 लोगों को मुआवजा दिया गया। इसी से साफ जाहिर है कि खेती की जोत कितनी छोटी हो चुकी है। अब अगर आज यह हाल है तो आज से बीस साल बाद क्या होगा। अतः हमें लगता है कि औद्योगीकरण बंगाल की जरूरत है। और हम इस दिशा में तेजी से बढ़ रहे हैं। आज आईटी सेक्टर में ग्रोथ के मामले में बंगाल पहले स्थान पर है।

मृत्युंजय प्रभाकर : *आपने कहा कि कुल 16,000 लोगों को मुआवजा दिया गया पर इसका बड़ा हिस्सा उन भूमि मालिकों को गया जो सिंगुर में नहीं रहते। जबकि खेतों में काम करने वाले खेत मजदूरों को कुछ नहीं दिया गया।*

सीताराम येचुरी : जहां तक खेत मजदूरों का सवाल है ऐसा कोई कानूनी प्रावधान नहीं है जिसके तहत उन्हें मुआवजा दिया जा सके। और इस तरह के कानून के लिए केन्द्र सरकार को पहल करने की जरूरत है। हमने अपनी तरफ से उन्हें विकल्प के रूप में काम देने की कोशिश की है। वैसे 997 एकड़ में से 967 एकड़ भूमि के लिए मुआवजा पाने वाले लोग वहीं के निवासी हैं। मात्र 30 एकड़ भूमि उनकी है जो वहां नहीं रहते।

मृत्युंजय प्रभाकर : *आप बंगाल में औद्योगीकरण की जरूरत को स्वीकार करते हैं पर विडंबना है कि राज्य में हजारों की संख्या में उद्योग बंद पड़े हैं।*

सीताराम येचुरी : जहां तक राज्य में औद्योगिक ईकाइयों के बंद पड़े होने का सवाल है यह इस कारण से है कि तकनीक बदल चुकी है। इसमें ज्यादातर

जूट मिलें हैं। जिसकी जरूरत उद्योगों को आज नहीं रह गई है। यही हाल महाराष्ट्र में कॉटन मिलों का है।

मृत्युंजय प्रभाकर : *पिछली सदी में हुए अंधाधुंध विकास के कारण पर्यावरण को हुए नुकसान ने विकास की अवधारणा पर ही सवाल खड़े कर दिए हैं। आपको नहीं लगता कि सिंगुर में टाटा मोटर्स की जगह फूड प्रोसेसिंग ईकाइयां स्थानीय किसानों के लिए ज्यादा लाभप्रद होतीं?*

सीताराम येचुरी : पर्यावरण को लेकर हम खुद काफी सचेत हैं। शायद आपको पता नहीं होगा कि इस देश में पर्यावरण मंत्रालय की शुरूआत सबसे पहले बंगाल में हमारी पार्टी ने ही की थी। दूसरे राज्य सरकारों व केन्द्र सरकार ने बाद में इसे अपनाया।

जहां तक पूंजी निवेश का प्रश्न है पूंजी राज्य सरकार के पास तो है नहीं कि वह मनपसंद उद्योग लगा सके। पूंजी पूंजीपतियों की है और अभी के समय में कोई भी राज्य सरकार या केन्द्र सरकार भी इस हालत में नहीं है कि वह पूजीपतियों को यह निर्देश दे सके कि पूंजी निवेश कहां करना है।

टाटा के सिंगुर प्रोजेक्ट के लिए कई राज्य सरकारें लाईन में थीं। इनमें कई उन्हीं पार्टियों द्वारा शासित हैं जो सिंगुर के मसले पर हमारा विरोध कर रहे हैं। फिर पहाड़ी राज्यों को ज्यादा कर रियायतें भी प्राप्त हैं। हालांकि उत्तर बंगाल भी पहाड़ी क्षेत्र है पर बंगाल को यह सारी रियायतें नहीं दी गई हैं।

दरअसल इस बात को हमने 1985 में ही महसूस कर लिया था कि विपक्षी पार्टियां हमें विकास के सवाल पर घेरने के फिराक में हैं। इसीलिए वे नहीं चाहते कि बंगाल में वामपंथी शासन में विकास का काम हो। इसके लिए वे किसी भी हद तक जाने को तैयार हैं। ममता का ही उदाहरण लीजिए। कल तक चिल्लाती थीं कि बंगाल में विकास का काम नहीं हो रहा है। आज जब विकास का काम चल रहा है तो यह भी उन्हें नहीं पच रहा है।

मृत्युंजय प्रभाकर : *पिछले तीन दशक से बंगाल में शासन में होने के बावजूद आप कोई रोल मॉडल नहीं बन पाए। क्या यह आपकी विफलता नहीं है?*

सीताराम येचुरी : हमें एक केन्द्रीकृत व्यवस्था के अन्दर अपना काम करना है। हमारे सामने स्कोप बहुत सीमित हैं। इसी व्यवस्था के भीतर हम एक राज्य में अलग कानून नहीं चला सकते। इसी कारण हम सीमित प्रभाव ही

उत्पन्न कर पाने में सक्षम हैं।

मृत्युंजय प्रभाकर : *नंदीग्राम के मुद्दे के बाद संस्कृतिकर्मियों और बुद्धिजीवियों के बीच आपकी पार्टी का प्रभाव घटा है। लोग खुलकर आपकी पार्टी के खिलाफ बोल रहे हैं।*

सीताराम येचुरी : हम अपना पक्ष उनके सामने रख रहे हैं। कुछ लोग हमारी बात मान रहे हैं और कह रहे हैं कि हमारा पक्ष उन्हें पहले पता नहीं था। पिछले तीन महीने से पीपुल्स डेमोक्रेसी में हम अपना पक्ष रख रहे हैं फिर भी अगर कोई कहता है कि हमारा पक्ष उन्हें नहीं पता था तो इसमें दोष किसका है?

मृत्युंजय प्रभाकर : *विनिवेश के सवाल पर जिस प्रकार वामदलों का चेहरा लाल हो जाता है आरक्षण के सवाल पर नहीं होता। बंगाल की आपकी सरकारों में भी पिछड़ों का उचित प्रतिनिधित्व नहीं है।*

सीताराम येचुरी : आरक्षण के मसले पर संप्रग की बैठक में बात रखी गई है। जरूरत पड़ने पर दबाव भी बनाया जाएगा। आपको क्या लगता है कि 1991 में नई आर्थिक नीति की शुरूआत करने वाले मनमोहन सिंह का ह्रदय परिवर्तन हो चुका है जो विनिवेश के मसले पर चुप बैठे हैं। यह सब हमारे दबाव का ही नतीजा है।

बंगाल में हम किसी को जाति के खांचे में रखते ही नहीं। आप कांति विश्वास को किस जाति में रखेंगे, आप ही बताइये।

मृत्युंजय प्रभाकर : *पिछले पार्टी कांफ्रेस में आपकी पार्टी ने हिन्दी बेल्ट पर जोर देने की वकालत की थी। लगता है यह भी सल्किया प्लेनम की तरह सिर्फ शब्दों में ही रह गया। खुद आपके द्वारा संपादित पीपुल्स डेमोक्रेसी को ही उदाहरण के तौर पर लें तो अभी तक उसमें हिन्दी क्षेत्र को लेकर एक भी अच्छा आलेख तक देखने को नहीं मिला।*

सीताराम येचुरी : जो लोग ऐसा समझ रहे हैं हमारा उनसे आग्रह है कि वे खुद आगे बढ़कर कुछ करें और उदाहरण प्रस्तुत करें। पार्टी के फैसला लेने मात्र से तो स्थितियां बदल नहीं जाएंगी। उसके लिए काम करना होगा और काम यहीं के लोगों को करना होगा। अच्छे आलेख भी यहीं से निकलेंगे।

- मई, 2007

अध्याय – 34

हम जनता की लामबंदी में यकीन रखते हैं : गणपति

*(आंध्रप्रदेश के माओवादी नेता **गणपति** राज्यसत्ता से निरंतर सशस्त्र संघर्ष के लिए जाने जाते हैं। सीपीआई (माओवादी) की गुप्त कांग्रेस के आयोजन के बाद से वह चर्चा में हैं। इस कांग्रेस के फुटेज विभिन्न विदेशी समाचार चैनलों ने जारी किए थे। 1978 से ही भूमिगत आंदोलन चला रहे गणपति सीधे साक्षात्कार के लिए उपलब्ध नहीं होते। उन्होंने अपना यह साक्षात्कार पत्र-पत्रिकाओं व टीवी चैनलों द्वारा पूछे गए प्रश्नों के आधार पर खुद जारी किया है। -संपादक)*

हमने सुना, कि आपने 37 सालों के अंतराल के बाद कांग्रेस की है। इतनी देरी क्यों?

गणपति : यह सही है कि हमने आठवीं कांग्रेस 1970 में की थी। लगभग 37 सालों से कांग्रेस के न होने की वजह देश में क्रांतिकारी शक्तियों की स्थिति है। पिछली कांग्रेस के दो वर्षों बाद आंदोलन को गंभीर झटका लगा, सर्वोच्च कमेटी-केंद्रीय कमेटी सदस्यों की शहादत, गिरफ्तारी और यहां तक कि एसएन सिंह जैसे सदस्यों की गद्दारी से, जिन्होंने वास्तव में 1971 में खुद पार्टी में दरार डाल दी, बिखर-सी गयी। कामरेड चारु मजूमदार की शहादत के बाद केंद्रीय कमेटी अनेक गुटों में बंट गयी। मैं गुट (फैक्शंस) कह रहा हूं, क्योंकि वे सब सीपीआइ (एमएल) के हिस्सा थे। लंबे समय तक अलग समूहों के तौर पर उनके अस्तित्व ने समय के साथ उन्हें स्वतंत्र और पार्टियों के रूप में उनके कार्यक्रमों और कार्यनीति (टैक्टिक्स) के साथ अलग पहचान दी। इसके अलावा उन्होंने खुद अपने तरीके से अपने अतीत की आलोचनात्मक समीक्षा की। ऐसी परिस्थितियों ने एकता के आसार को कठिन बना दिया।

कुछ समूह सीधे डांगे और जोशी के पुराने रास्ते पर चलने लगे, हालांकि

वे उनकी धारा का विरोधी होने का दावा करते थे, जैसा कि विनोद मिश्र के नेतृत्व में 'लिबरेशन' ग्रुप ने, जिसका पतन 1970 के दशक के गौरवमय संघर्ष के इतिहास के बाद 1980 के दशक की शुरुआत से ही शुरू हो गया था। यह कुछ ऐसा था कि उन्होंने सशस्त्र संघर्ष (राज्य के खिलाफ) को स्थगित कर दिया, अनिश्चित तौर पर भविष्य के किसी भाग्यशाली दिन के लिए, इस दलील के साथ कि राज्य बहुत शक्तिशाली है और इसके साथ सशस्त्र मोरचाबंदी अधिक समय और तैयारी की मांग करती है। अतः उन्होंने अपने को तथाकथित सशस्त्र किसान प्रतिरोध या संघर्ष के सामंतविरोधी चरण (स्टेज) तक सीमित कर लिया। तब से आज तक इन समूहों ने राज्य के साथ सशस्त्र मोरचाबंदी शुरू करने की तैयारियां पूरी नहीं की हैं। ये टीएन-डीवी, एनडी, सीपी रेड्डी आदि के विभिन्न गुटों जैसे दक्षिण अवसरवादी समूह थे। तब कुछ दूसरों ने सीपीआइ (एमएल) के असली कार्यक्रम को बनाये रखा, मगर अतीत की गलतियों के प्रति आलोचनात्मक नजरिया अपनाने से इनकार कर दिया। वे जड़तापूर्ण तरीके से अंतरराष्ट्रीय स्थितियों के अतिरेकपूर्ण मूल्यांकन और सब्जेक्टिव शक्ति जैसी वाम गलतियों के शिकार हुए, और दुश्मन की शक्ति को कम करके आंकते रहे, जिसके कारण वे कोई महत्वपूर्ण आंदोलन नहीं बना पाये। केवल कुछ पार्टियां सीपीआइ (एमएल) (पीडब्ल्यू) और सीपीआइ (एमएल) (पीयू) थीं, जिन्होंने आठवीं कांग्रेस की बुनियादी धारा को थामे रखा, अतीत की गलतियों और आंदोलन की कमियों के प्रति आत्मालोचनात्मक समीक्षा की और तब धारा को और समृद्ध किया, जनयुद्ध को और समृद्ध धारा पर आगे ले गयीं, और इसीलिए अपेक्षाकृत मजबूत आंदोलन, देश के विभिन्न भागों में, विकसित कर पायीं।

जबकि सीपीआइ (एमएल) की यह स्थिति थी, दूसरी तरफ एमसीसी कामरेड केसी, अमूल्य सेन और चंद्रशेखर के नेतृत्व में एक अलग पार्टी के रूप में विकसित हुई, जिसका कार्यक्रम सीपीआइ (एमएल) के लगभग समान था। दोनों पार्टियां एक पार्टी का हिस्सा हो सकती थीं, मगर ऐतिहासिक कारणों से यह कामरेड सीएम के समय नहीं हो पाया। बाद में जब सीपीआइ (एमएल) खुद 1972 में टूट गयी, एकता भविष्य की चीज बन गयी। तब से कम्यूनिस्ट क्रांतिकारियों की एकता प्रत्येक क्रांतिकारी संगठन के एजेंडे में एक प्रमुख टास्क बन गया। इच्छा, जैसे कि एकता की ईमानदार इच्छा, बेशक एक महत्वपूर्ण कारक है, मगर जो निर्णायक चीजें हैं, वे हैं राजनीतिक लाइन और पार्टियों की प्रैक्टिस। अतः केवल 1980-90 के दौरान, जब आंदोलन एमसीसी, सीपीआइ

(एमएल) (पीडब्ल्यू) और सीपीआइ (एमएल) (पीयू) जैसी पार्टियों द्वारा निर्मित किया जा रहा था, एकता की मजबूत बुनियाद रख दी गयी। जबकि इन पार्टियों के बीच एकता लंबे समय तक राजनीतिक मतभेदों और एकता के लिए सचेत प्रयत्न करने में नेतृत्व की कमजोरियों के कारण न हो सकी। मैं इसके विस्तार में जा सकता हूं, यदि यह जरूरी हो। नौवीं कांग्रेस के आयोजन में इतनी देरी की मुख्य वजह देश में क्रांतिकारी शक्तियों की एकता होने में असफलता रही।

आप पार्टी में लोकतंत्र (जनवाद) कैसे सुनिश्चित करते हैं, जब आप इतने वर्षों तक कांग्रेस नहीं करते? पार्टी की लाइन, टैक्टिक्स और नीतियां बनाने में कैडर कैसे सम्मिलित होते हैं?

गणपति : मैंने ऊपर जो कहा, देश में सभी सच्चे कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों की एकता हासिल करने में हमारी असफलता के कारण कांग्रेस के लंबी अवधि तक नहीं होने के बारे में, यह पार्टी के आंतरिक लोकतंत्र का निषेध नहीं है। हरेक क्रांतिकारी पार्टी की अपनी आंतरिक जनवादी प्रक्रिया होती है, नीति निर्माण में कैडरों के इन्वॉल्विंग की। पूर्ववर्ती एमसीसीआइ, सीपीआइ (एमएल) (पीडब्ल्यू) एवं सीपीआइ (एमएल) (पीयू) एक नियमित अंतराल पर अपने केंद्रीय कान्फ्रेंस, प्लेनम और विशेष बैठकें करते रहे हैं, जहां वे अपने पिछले कार्य और जनयुद्ध आगे बढ़ाने में सकारात्मक, नकारात्मक पहलुओं का मूल्यांकन करते रहे हैं, नीतियों और टैक्टिक्स में जरूरी बदलाव और धारा को और समृद्ध करते रहे हैं। अपने सार में एक केंद्रीय अधिवेशन कांग्रेस के सदृश होता है। केवल एक वजह से इसे कांग्रेस नहीं कहा जाता, क्योंकि देश में विभिन्न क्रांतिकारी पार्टियां और समूह हैं। यह अमूमन महसूस किया गया कि एक कांग्रेस बुलायी जा सकती है – देश की सभी क्रांतिकारी पार्टियों की एकता के बाद। पूर्ववर्ती पार्टियां जो कि अब सीपीआइ (माओवादी) का हिस्सा हैं।-एमसीसीआइ, सीपीआइ (एमएल) तथा सीपीआइ (एमएल) (पीयू) अपने केंद्रीय कान्फ्रेंस और प्लेनम नियमित अंतरालों पर करते रहे हैं। पीडब्ल्यू ने पहला क्षेत्रीय अधिवेशन तेलंगाना के रास्ते पर 1976 में आयोजित किया था। इसने 1980 में राज्य अधिवेशन किया। इसका केंद्रीय प्लेनम 1990 में, अखिल भारतीय विशेष अधिवेशन 1995 में और दूसरी कांग्रेस 2001 में हुई। इसी तरह एमसीसीआइ ने केंद्रीय कान्फ्रेंस 1996 में और पीयू ने 1983, 87 व 96 में किया।

अतः इन अधिवेशनों, प्लेनमों द्वारा पूरी पार्टी लोकतांत्रिक तरीके से बहस-मुबाहिसों, आंतरिक संघर्ष और सभी विवादित मुद्दों पर एक लोकतांत्रिक प्रक्रिया में शामिल थी। दरअसल सीपीआइ(एमएल) (पीडब्ल्यू) ने कांग्रेस के लिए तैयारियां 1995 में एमसीसी के साथ विलय की वार्ता टूटने के बाद शुरू कर दी थीं। पीडब्ल्यू का 1995 का अखिल भारतीय विशेष अधिवेशन (एआइएससी) वास्तव में कांग्रेस के तौर पर योजनाबद्ध किया गया था, मगर अंतिम समय में हमने इसका नाम बदल कर विशेष अधिवेशन रख दिया, लेकिन इसका महत्व कांग्रेस जैसा ही था। यह सीपीआइ (एमएल) (पीयू) के साथ एकता की संभावना को ध्यान में रखते हुए हुआ। 2001 में एकीकृत सीपीआइ(एमएल) (पीडब्ल्यू) ने नौवीं कांग्रेस की, मगर यह कांग्रेस मूलतः भारतीय क्रांति की केवल एक धारा-सीपीआइ (एमएल) से जुड़े क्रांतिकारियों की थी। कांग्रेस पीडब्ल्यू नेतृत्व के इस आकलन के साथ हुई कि एमसीसी के साथ एकता एक लंबे समय, खास कर तब की दोनों पार्टियों के बीच के तनावपूर्ण रिश्ते को पृष्ठभूमि में डाल देगी। बाद में यह आकलन गलत साबित हुआ। कांग्रेस के साढ़े तीन साल के भीतर सीपीआइ (एमएल) (पीडब्ल्यू) तथा एमसीसीआइ के विलय के बाद एक नयी पार्टी सीपीआइ (माओवादी) बनी। जिन बड़ी पार्टियों ने सीपीआइ (माओवादी) बनायी है, इतिहास से ही लोकतांत्रिक प्रक्रिया उनमें रही है, तब भी जब हम लंबे समय तक कांग्रेस नहीं कर सके।

हमने कुछ मीडिया रिपोर्टों में सुना कि हालिया संपन्न एकता कांग्रेस में कुछ गंभीर मतभेद उभर आये थे कि आपके फिर से महासचिव चुने जाने का कड़ा विरोध हुआ, कि कांग्रेस यहां तक कि केंद्रीय कमेटी का चुनाव नहीं कर सकी आदि। क्या ये सही हैं?

गणपति : ऐसी रिपोर्टें कुछ तो मीडियावालों की अटकलों पर आधारित होती हैं लेकिन इनमें से अधिकतर बातें खुफिया एजेंसियों द्वारा छेड़े गये डिसइन्फार्मेशन कैंपेन का हिस्सा होती है। खास तौर पर एपीएसआइबी का ऐसी गलत सूचनाओं के लिए विशेष विभाग है। इस एकमात्र उद्देश्य से कि जनता और पार्टी कैडर में भ्रम फैला सके। वे दोनों माओवादी पार्टियों के विलय के समय से ही, खास कर पिछले एक साल से, ऐसी कहानियां जारी करते रहे हैं। वे लगातार यह अफवाह फैलाने की कोशिश कर रहे हैं कि विलय सैद्धांतिक नहीं था, दोनों तत्कालीन पार्टियों में गंभीर मतभेद थे, और कि दोनों के सोचने

की लाइन अलग है, जो उनके व्यवहार में दिखता है और ऐसी ही बकवास।

और हम जानते हैं कि आप जिनका हवाला दे रहे हैं वे तथाकथित मीडिया रिपोर्टें कहां बनतीं हैं। ये पुलिसिया खबरें एसआइबी द्वारा हनामकोंडा से फैक्स की गयीं और 26 मार्च को कुछ तेलुगू अखबारों में छपीं। इन रिपोर्टों के जरिये ये झूठे हमारी पार्टी की स्थिति के बारे में पूरी तरह झूठी तसवीरें प्रोजेक्ट करने की कोशिश करते हैं। वे यह साबित करने की कोशिश करते हैं कि तब की एमसीसीआइ जनयुद्ध को अधकि-से-अधकि सैन्य कार्रवाइयों के जरिये तेज करना चाहती थी जबकि पीडब्ल्यू के कामरेड सोचते थे कि यह बेहतर है कि कार्रवाइयों को कुछ समय तक टाल दिया जाये और मिलिटेंट जनांदोलन पर ध्यान केंद्रित किया जाये। यह दरअसल देखने में हैरतअंगेज लगता कि ऐसी रिपोर्ट पीएलजीए द्वारा माओवादी आंदोलन के इतिहास की सबसे बड़ी कार्रवाई, रानी बोदली में 68 पुलिसियों-एसपीओ सहित-की हत्या के ठीक 10 दिनों बाद आयी और हमारी इस घोषणा के बाद कि ऐसी और कार्रवाइयां होंगीं, यदि प्रतिक्रियावादी शासक वर्ग सलवा जुडूम के नाम पर जनसंहार और विनाश की बर्बर कार्रवाई बंद नहीं करता। इन मनगढ़ंत झूठों में एक रत्ती भी सच्चाई नहीं है।

ये पुलिसिया कहानियां यह झूठ भी फैलाती रहती हैं कि 'झटके और मतभेद इतने गंभीर हैं कि कांग्रेस पोलित ब्यूरो, केंद्रीय कमेटी, केंद्रीय सैन्य आयोग और विभिन्न राज्य कमेटियों का पुनर्गठन तक न कर पायी और कई बड़े नेता अनुशासनात्मक कार्रवाइयों का सामना करते दिखते हैं।' दरअसल भारत के क्रांतिकारी आंदोलन के इतिहास में हमारे जितनी मजबूत, केंद्र और राज्य की बारीक बुनावटवाली पार्टी संरचना कभी नहीं थी। कांग्रेस ने एक स्वर से केंद्रीय कमेटी का चयन किया, जिसने पोलित ब्यूरो, केंद्रीय सैन्य आयोग, विभिन्न क्षेत्रीय ब्यूरो और केंद्रीय विभागों तथा उपकमेटियों का गठन किया। मैं गर्व के साथ कहूंगा कि भारतीय क्रांति के नेतृत्व के लिए एक मजबूत केंद्रीकृत नेतृत्व की स्थापना कांग्रेस की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। राज्य कमेटियां संबंधित राज्य अधिवेशनों में चुनी जाती हैं न कि कांग्रेस द्वारा। प्रेस विज्ञप्ति एसआइबी के कमजोर होमवर्क को दर्शाता है।

रिपोर्टों में यह सुनना अधिक हैरतअंगेज है कि अनुशासनात्मक कार्रवाई, पदावनति सहित, कुछ प्रमुख नेताओं के खिलाफ होनी है। इन दावों में सच एक रत्ती भर भी नहीं है। यह न सिर्फ डिसइन्फार्मेशन कैंपेन को दिखाता है, बल्कि आंध्रप्रदेश में एसआइबी और पुलिस की मनोवृत्ति को भी दिखाता है जो नैराश्यपूर्ण इच्छा करते हैं कि हमारी पार्टी के 'प्रमुख' नेता पदावनत हों।

तब आप कह रहे हैं कि बिल्कुल कोई मतभेद नहीं हैं?

गणपति : क्यों नहीं? सैद्धांतिक-राजनीतिक बहसें किसी भी कम्यूनिस्ट पार्टी की रगों में होती हैं।। ऐसे आंतरिक संघर्ष के जरिये ही पार्टी लाइन समृद्ध बनती है और पार्टी और मजबूत तथा एकताबद्ध बनती है। हमने अपने मतभेदों को कभी राज नहीं रखा। हमने मतभेदों को अपनी सैद्धांतिक पत्रिका 'पीपुल्स वार' के विगत अंक में प्रकाशित किया है। वर्तमान अंक में कांग्रेस में हुई बहसों की विस्तार से चर्चा है। ये बहसें हमारी पार्टी की मजबूती को दिखाती हैं न कि इसकी कमजोरी को। यह पार्टी के डेमोक्रेटिक क्रेडेंशियल्स और विभिन्न विचारों को सहने की क्षमता को दिखाता है जो हर तरह के विचारों और दृष्टिकोणों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की अनुमति देता है, अगर वे पार्टी लाइन को समृद्ध करने की दिशा में रचनात्मक तरीके से उठाये गये हों, और न कि पार्टी को भटकाने की बदनीयती से। कांग्रेस में कामरेडों द्वारा जो विचार रखे गये पूरी ईमानदारी से, लाइन को समृद्ध करने की दृष्टि से और भारतीय क्रांति जिन समस्याओं से दोचार है उनका हल निकालने की दृष्टि से।

यहां एक बहुत महत्वपूर्ण बिंदु उल्लेखनीय है कि जो मतभेद कांग्रेस में आये वे पूर्ववर्ती एमसीसीआइ-पीडब्ल्यू के बीच में नहीं थे, बल्कि वे एक अकेली पार्टी के भीतर के थे। यदि आप हमारी पार्टी के इतिहास से अवगत हैं तो आप पायेंगे कि इससे भी गहरे मतभेद हमारे शुरुआती अधिवेशनों और कांग्रेस में पैदा हुए थे। 1995 में पीडब्ल्यू के एआइएससी में अथवा पीयू में केंद्रीय अधिवेशन में 1987 और 1996 में, या एकीकृत पीडब्ल्यू के 2001 कांग्रेस में मतभेद गंभीर प्रकृति के थे। वे दुनिया की प्रधान स्थिति, दलाल बड़े पूंजीपति और भारतीय जनता के अंतरविरोधों को लेकर, भारत में उत्पादन आदि को लेकर थे। एक तीखी बहस पार्टी लाइन में दक्षिणपंथी झुकाव के सवाल पर भी थी। पीडब्ल्यू की 2001 कांग्रेस में। ये सभी गंभीर मतभेद एक स्वस्थ बहस और जहां जरूरत हुई वोट के जरिये हल कर लिये गये। अभी के मतभेद पहले जितने गंभीर नहीं हैं। अतः पुराने पीडब्ल्यू और पीडब्ल्यू तथा पीयू के अगस्त 1998 में विलय के बाद बने एकीकृत पीडब्ल्यू तथा एमसीसीआइ के विलय के बाद बने सीपीआइ (माओवादी) के अंदर मतभेद एक कम्युनिस्ट पार्टी में बहुत स्वाभाविक हैं। कोई भी मतभेद, यहां तक कि बहुत गंभीर मतभेद भी, एक कम्युनिस्ट पार्टी में जनवादी केंद्रीयता के सिद्धांत का पालन करते हुए सुलझाये जा सकते हैं।। यह जनवादी केंद्रीयता के सिद्धांत की महानता है जो

एक कम्युनिस्ट पार्टी के अस्तित्व और कार्य करने का आधार होता है। केवल कर्नाटक में एक छोटा ग्रुप, जो खुद को माइनॉरिटी कहता है, टूट कर चला गया, जब उसने राज्य अधिवेशन में दक्षिणपंथी अवसरवादी लाइन के कारण बहुमत खो दिया। यदि उनमें कम्युनिस्ट स्पिरिट और अनुशासन होता और अगर वे पेट्टी बुर्जुआ व्यक्तित्ववाद और अराजक तरीकों से ग्रस्त नहीं रहते तो वे पार्टी में बने रहते और कांग्रेस में अपनी लाइन के लिए लड़ते। बेशक कांग्रेस में बहुमत द्वारा तय लाइन और नीति को मानते हुए किसी को अधिकार है कि वह अपनी लाइन और किसी सवाल पर अपना नजरिया अगली कांफ्रेस में एक बार फिर रख सकता है।

कांग्रेस कहां आयोजित हुई थी? आपने इसे किस तरह मैनेज किया, ऐसे में जबकि सरकार गंभीरता से इसे विफल करने की कोशिश कर रही थी?

गणपति : (हंसते हैं) खुफिया एजेंसियों को अनुमान लगाने दीजिए कि इसे कहां आयोजित किया गया। मीडिया के लिए, हम आपलोगों को कुछ समय बाद ले जायेंगे। इतिहास के बनने के दौरान ये जगहें भावी पीढ़ियों के लिए महान ऐतिहासिक अहमियत हासिल कर लेंगीं। तब हरेक आदमी जानने के लिए आयेगा। मगर वर्तमान के लिए मैं एक चीज कह सकता हूं – यह जनता के बीच किया गया, जनता द्वारा सुरक्षित और प्रकृति द्वारा घिरा हुआ। और बेशक, आयोजन स्थल में हमारे पीएलजीए के लड़ाके थे जो दिन-रात, 24 घंटे की ड्यूटी करते, दुश्मन सेना की हरेक गतिविधि से सचेत और पुलिस बलों को, अगर वे इलाके में घुसने की हिम्मत करते, एंबुश करने के लिए तैयार। यहां तक कि अगर दुश्मन सेना इलाके में घुस भी जाती, हमारे गुरिल्ला यह सुनिश्चित करते कि नेतृत्व को कोई नुकसान नहीं हो। पीएलजीए और आम जनता के पूर्ण आत्मविश्वास के बीच हमने कांग्रेस संचालित की, बिना किसी तनाव या समस्या के। असल में, हमने कांग्रेस को कुछ दिनों के लिए बढ़ाया भी।

कांग्रेस का आयोजन पूरी लोकतांत्रिक प्रक्रिया की अंतिम कार्रवाई है। इस प्रक्रिया के एक हिस्से के रूप में, हमने 15 राज्यों में अधिवेशन किये, इनमें से 12 राज्य स्तरीय अधिवेशन थे, और ये क्षेत्रीय, जोनल/डिविजन/जिला अधिवेशनों और कई जगहों में सबजोनल और एरिया अधिवेशनों के बाद किये गये थे। एक बड़ा शैक्षणिक कैंपेन किया गया, स्टडी कैंपों-क्लासों वगैरह के

साथ। इन सबमें पिछले साल हमारा बहुत समय लगा। लेकिन व्यापक जन समर्थन और गुरिल्ला बलों द्वारा मुहैया की गयी सुरक्षा के बावजूद ये कार्यक्रम दुश्मन द्वारा छेड़े गये निरंतर दमन अभियानों के चलते सामान्यतः असंभव हो गये। हमने कान्फ्रेंस वेन्यू को एओबी में शिफ्ट किया और एक-दो जगहें और थीं जहां हमें जनता से सूचना मिली कि दुश्मन उन जगहों को घेर रहा है। ये वे लोग हैं जो हमारे आंख और कान हैं और जितने समय तक हम जनता का समर्थन पाते रहेंगे और गोपनीयता के सख्त तरीके बनाये रखेंगे, कोई भी दुश्मन सेना कुछ न कर सकेगी।

राज्य सरकारों द्वारा कांफ्रेंस और कांग्रेस न होने देने के लिए गंभीर कोशिशें की गयीं। गत नवंबर-दिसंबर के महीनों में ऐसी खुली घोषणा की गयी। गृह मंत्रालय द्वारा तीन महीनों की अवधि के लिए एक स्पेशल विंग गठित किया गया, कांग्रेस को विफल करने के लिए। वे जानते थे कि यह जनवरी या फरवरी में होगा, क्योंकि गरमी आ जाने के बाद यह अपेक्षाकृत कठिन होगा। अतः कांग्रेस का आयोजन नव एकीकृत पार्टी के लिए विलय के बाद सबसे बड़ी चुनौती बन गया। सौ से अधिक डेलीगेट-माओवादी पार्टी का कोर-दुश्मन को पता लगे बिना विभिन्न राज्यों से आये। पीएलजीए लड़ाकों की एक बड़ी संख्या सुरक्षा उद्देश्यों से लगायी गयी थी। और इस तरह के एक बड़े कैंप के इंतजामों के लिए जाड़े के ठंडे दिन भी उतने आसान नहीं हैं। कहीं से भी हुई एक छोटी लीक कार्यक्रम को बाधित कर देती। इन कठिन हालात में कांग्रेस का सफलतापूर्वक संपन्न होना पार्टी के लिए एक बड़ी उपलब्धि है। यह दिखाता है कि हरेक चीज संभव है-सतर्कतापूर्ण योजना, काम करने के गोपनीय तरीके, एक प्रतिबद्ध गुरिल्ला बल और जनता के मजबूत समर्थन के साथ।

एक दुखद घटना कांग्रेस की पूर्व संध्या पर हो गयी, हमारे प्यारे कॉमरेडों चंद्रमौलि (बीके) और उनकी जीवनसाथी विजयलक्ष्मी (करुणा) की शहादत की। चंद्रमौलि केंद्रीय कमेटी और केंद्रीय सैन्य आयोग के सदस्य थे और करुणा डीसी सदस्य। वे एपीएसआइबी के गुंडों द्वारा 26 की रात में पकड़ लिये गये और अगले दिन क्रूर यातनाएं देकर मार दिये गये। थोड़ा तनाव था जब हमने उनकी शहादत के बारे में सुना। हालांकि दुश्मन कांग्रेस के बारे में कुछ भी उनसे न पा सका और दोनों अकथनीय यातना, जो उन पर की गयी, के सामने चट्टान की तरह अडिग रहे। बर्बर दुश्मन एक छोटी जानकारी भी इन महान कम्युनिस्टों, भारतीय जनता के गौरवशाली बेटे और बेटी, से न हासिल कर सका। अपनी शहादत के साथ ही उन्होंने कांग्रेस की सफलता के लिए अपने

लहू का योगदान दिया।

एकता कांग्रेस के प्रमुख फैसले क्या रहे? क्या आपकी समग्र योजना और टैक्टिक्स में कोई बदलाव होगा?

गणपति : कांग्रेस की आम दिशा जनयुद्ध को तेज करने और लड़ाई को सभी मोरचों पर ले जाने की रही। ठोस तौर पर यह निर्णय लिया गया कि चलायमान युद्ध के उच्चतर स्तर तक गुरिल्ला युद्ध को ले जाया जाये, उन इलाकों में जहां गुरिल्ला युद्ध एक एडवांस्ड स्टेज में है, और जितना संभव हो सके उतने अधिक राज्यों में सशस्त्र संघर्ष को बढ़ाया जाये। दुश्मन बलों का ध्वंस इन इलाकों में त्वरित एजेंडा है, जिसके बगैर इन इलाकों में उपलब्धियां बरकरार रखने और उन्हें और आगे बढ़ाने में बेहद दिक्कत होगी। उसी तरह यह एक त्वरित जरूरत है-एक बड़े क्षेत्र को युद्ध क्षेत्र में बदलने की इसलिए हमारे गुरिल्ला बलों के ऊपर काफी दायित्व है। विस्तार करने में गोपनीयता बहुत महत्वपूर्ण होती है। राज्य द्वारा केंद्रीय बलों और विशेष पुलिस बलों की भारी तैनाती को नजर में रखते हुए कांग्रेस ने दुश्मन ताकतों को गंभीर नुकसान पहुंचाने के लिए विभिन्न रचनात्मक स्वरूप अपनाने की योजना बनायी है। पुलिस और केंद्रीय बल सीख जायेंगे कि हमारे क्षेत्र में घुसना कितना खतरनाक है। हमने पार्टी और पीएलजीए को मजबूत करने, जनता को दुश्मन ताकतों का प्रतिरोध करने के लिए मोबिलाइज करने और इन क्षेत्रों में दुश्मन की सभी तरह की ताकत को नष्ट करके अपने मजबूत आधार के रूप में बदलने का निर्णय लिया है। और यह सब युद्ध में जनता की व्यापक भागीदारी से हासिल होगा। सैकड़ों लोग, और कभी-कभी हजार से भी ज्यादा, दुश्मन के खिलाफ हमलों में शामिल रहते हैं, जैसा कि आपने हालिया प्रतिआक्रामक (काउंटरऑफेंसिव) ऑपरेशनों-रानी बोदली में रीगा में, बोकारो जिले में खासमहल में सीआइएसएफ कैंप पर हमले में और गत जून महीने के इसी तरह के हमलों में देखा है।

आंध्रप्रदेश में हमने जो अनुभव हासिल किये बढ़ते और निरंतर जारी राजकीय दमन और राज्य प्रायोजित दमन के बीच, यह सब अधिक महत्वपूर्ण है कि हमारी ताकतें जहां वे काम कर रही हैं गोपनीय ही रही हैं। ठीक इसी समय हम प्रत्येक जनांदोलन के अगले मोरचे पर रहेंगे। कांग्रेस ने 'सेज' के खिलाफ संघर्ष का फैसला किया है, जो कुछ भी नहीं है सिवाय भारतीय क्षेत्र में नव उपनिवेशवादी क्षेत्र के। वे न केवल किसानों की उर्वर जमीन की लूट-

खसोट कर रहे हैं, बल्कि पूरे देश को निर्बाध रूप से क्रूर शोषण और साम्राज्यवादियों और दलाल बड़े बिजनेस घरानों द्वारा नियंत्रित एक विशेष जोन में बदल देना चाहते हैं। कांग्रेस ने इन संघर्षों में और गहरे जाने का आह्वान किया है। हम भारतीय राज्य की क्रूर, फासीवादी प्रकृति को लेकर किसी भ्रम में नहीं हैं, और इसीलिए हरेक तरह की कुरबानी के लिए तैयार रहने के साथ ही काम करने के गोपनीय तरीके बरकरार रखने की निहायत जरूरत है।

अंतिम तौर पर आप अपनी एकता कांग्रेस की उपलब्धियों और इसके महत्व का किस तरह मूल्यांकन करते हैं?

गणपति : हमारी एकता कांग्रेस भारत के क्रांतिकारी आंदोलन के इतिहास में महान ऐतिहासिक महत्व की घटना है। यह न केवल सद्यःपूर्ण माओवादी दलों की एकता की प्रक्रिया को रेखांकित करती है, बल्कि भारतीय क्रांति के लिए पार्टी और राजनीतिक लाइन को भी सुदृढ़ करती है। हमारे संस्थापक नेताओं कामरेड सीके और केसी द्वारा स्थापित क्रांतिकारी राजनीतिक लाइन पुनर्सुदृढ़ीकरण और समृद्धिकरण कांग्रेस की सबसे उपलब्धि रही। अनेक सैद्धांतिक-राजनीतिक सवालों पर कांग्रेस में बहस हुई और वे हल किये गये, जिसने एकता को उच्चतर स्तर तक पहुंचा दिया। दूसरी महत्वपूर्ण उपलब्धि रही कि भारतीय क्रांति के लिए एक एकताबद्ध केंद्रीकृत नेतृत्व की स्थापना हुई।

भारतीय क्रांतिकारी कम्युनिस्ट आंदोलन के इतिहास में 1970 से लंबे समय के बाद एक अकेला निर्देशक केंद्र अस्तित्व में आया है, 2004 के सितंबर में एमसीसीआइ और सीपीएल (एमएल) (पीडब्ल्यू) के विलय के बाद और यह केंद्र कांग्रेस में समग्र पार्टी के अनुमोदन से और अधिक सुदृढ़ और पक्के तौर पर स्थापित हुआ।

हाल के समय में आंध्र प्रदेश में कुछ गंभीर नुकसान हुए हैं। इनके क्या कारण रहे? क्या आपका आंदोलन कुल मिला कर कमजोर हुआ है? इन नुकसानों के बचने और पहलकदमी पुनः हासिल करने के बारे में आपकी क्या योजना है?

गणपति : मैं सहमत हूं कि आंध्रप्रदेश में नुकसान सचमुच गंभीर हैं। उन्होंने निश्चत तौर पर कुल मिला कर देश भर में क्रांतिकारी आंदोलन पर चिंतनीय प्रभाव डाला है। आंध्रप्रदेश, खासतौर पर उत्तरी तेलंगाना का क्षेत्र लंबे समय

से क्रांतिकारी आंदोलन के लिए एक महत्वपूर्ण केंद्र बन गया है और हमारे देश की क्रांतिकारी जनता के लिए महान प्रेरणा है। मगर हमें दिमाग में यह रखना है कि जहां तक आधार क्षेत्र स्थापित करने का सवाल है, केंद्रीय और पूर्वी भारत में अनेक ऐसे पिछड़े क्षेत्र हैं जिन्हें पार्टी ने मुक्त करने के त्वरित कार्यभार के साथ चुना है। अतः हमारे आंदोलन का फोकस क्रमिक रूप से दंडकारण्य और बिहार-झारखंड पर हो गया है।

आप अवश्य जानते होंगे कि आंध्रप्रदेश एक आदर्श राज्य, एक प्रयोगधर्मी राज्य बनाया गया था, जहां साम्राज्यवादी, खास तौर पर विश्व बैंक और भारतीय शासक वर्ग ने क्रूर दमन और सुधारों के साथ अपनी multi Pronged L.I.C रणनीति क्रांतिकारी आंदोलन के खिलाफ लागू किया था। नक्सलवादी आंदोलन से प्रभावित कोई ऐसा दूसरा राज्य नहीं है, आंध्रप्रदेश जितनी भारी संख्या में पुलिस कमांडो बलवाला। न ही आप और कहीं ऐसा व्यापक खुफिया नेटवर्क, ढांचा, फंड, चरमपंथ विरोधी युद्ध में प्रशिक्षण और पुलिस की असीमित शक्ति पायेंगे। गत 4 दशकों खास कर 1980 के दशक के मध्य से किसी दूसरे राज्य ने आंध्रप्रदेश जैसा खून-खराबा नहीं देखा। आंध्रप्रदेश की जेलों में मुश्किल से ही कोई राजनीतिक बंदी होगा, क्योंकि नीति गिरफ्तारी के बाद हमेशा क्रांतिकारियों के खात्मे की रही है – भले ही वे केंद्रीय कमेटी के सदस्य हों या समर्थक। फर्जी मुठभेड़ में हत्याएं लगभग 40 साल पहले श्रीकाकुलम संघर्ष के दौरान वेंगल राव के समय से ही परंपरा बन गयी हैं। हजारों करोड़ रुपये खर्च कर दिये गये क्रांतिकारी आंदोलन से लोगों के एक हिस्से को अलगाने के उद्देश्य से तथाकथित सुधारों के नाम पर। एक वाक्य में हम कह सकते हैं कि पार्टी और क्रांतिकारी आंदोलन आंध्रप्रदेश में आरंभिक अवस्था में प्रतिक्रियावादी शासक वर्ग द्वारा उठाये गये तमाम चरमपंथ विरोधी कदमों के आवेगों को झेल चुका है। हमने दुश्मन की प्रतिक्रांतिकारी टैक्टिक्स, योजनाओं और तरीकों का गहराई से अध्ययन किया है और उनसे सीखा है। आंध्र प्रदेश में आंदोलन ने, हजारों कॉमरेडों की भारी कुरबानी की कीमत पर, हमें बहुमूल्य अनुभव दिये हैं कि कैसे दुश्मन की टैक्टिस और योजनाओं का मुकाबला करें और पराजित करें। इनके सहारे पार्टी अब दूसरे राज्यों में दुश्मन की टैक्टिस को पराजित करने को लेकर ज्यादा लैस है।

झटके और नुकसान दीर्घकालिक जनयुद्ध में अप्राकृतिक नहीं होते। क्रांति एक आड़ी-तिरछी रेखा में चलती है न कि एक सीधी रेखा में। आंध्र प्रदेश में आंदोलन ने अनेक उतार-चढ़ाव देखे हैं। मगर यह हमेशा फीनिक्स की राख

की तरह जिंदा हो उठी है। कोई शक नहीं, वर्तमान परिस्थिति में, हम आंध्र प्रदेश में एक कठिन हालात का मुकाबला कर रहे हैं और दुश्मन टैक्टिस की दृष्टि से हमसे आगे है। हमें राज्य नेतृत्व और कैडर के एक अच्छे हिस्से का नुकसान हुआ है, मगर अधिक आशाजनक पहलू यह है कि जनता अब भी हमारी पार्टी के साथ है। पार्टी के आधार समर्थन का क्षय नहीं हुआ है, हालांकि वे हमसे गोपनीय तरीके से मिलते हैं, अपनी समस्याओं के समाधान के लिए हमसे बात करते हैं और वे क्रूर राज्य के सामने आये बिना काम कर रहे हैं। उनके लिए हमारी पार्टी एकमात्र आशा है। लोग क्रांतिकारियों के हर नुकसान पर दुखी होते हैं। आप हमारे शहीदों की श्रद्धांजलि बैठकों में जमा भीड़ से हमारे जन समर्थन को जान सकते हैं। पुलिस गुंडों की धमकियों और प्रतिबंधों के होते हुए भी कॉमरेड चंद्रमौलि (बीके) और करुणा की श्रद्धांजलि सभा में उनके पैतृक करीमनगर जिले के वाडकापुर गांव में 20,000 से अधिक लोग जमा हुए। जनता का तेज गुस्सा और नफरत, प्रतिक्रियावादी शासकों और उनके पुलिसिया ग्रेहाउंड्स, एसबीआइ गुंडों के खिलाफ किसी बड़े अनुपात में उभरेगा और उत्पीड़कों और शोषकों और समाज में लंबे समय से जमा कूड़ा-करकट को बहा ले जायेगा। धरती पर कोई भी ताकत क्रांति की इस ऊंची लहर को न रोक सकेगी, भले आज हम आंध्र प्रदेश में नुकसान और कष्ट झेल रहे हैं। शासक वर्ग आंध्र प्रदेश में क्रांतिकारी आंदोलन की महान क्षमता से अवगत है। यही वह कारण है कि जब वे बढ़-चढ़ कर बोलते हैं कि माओवादी राज्य में पूरी तरह कमजोर हो गये हैं और कि आंध्रप्रदेश माओवादी आंदोलन से निपटने में एक आदर्श राज्य बनेगा, फासीवादी वीएसआर सरकार ग्रेहाउंड कमांडो दलों की क्षमता में दो गुणा बढ़ोतरी, नक्सलवाद-विरोधी अभियानों के लिए हेलिकॉप्टरों के अर्जन, नक्सल आंदोलन से निपटने के लिए 2000 करोड़ की केंद्रीय मदद को मंजूरी जैसी दीर्घकालिक योजनाओंवाले अनेक कदम उठा रही है।

वर्तमान ऐतिहासिक युग विश्वव्यापी विक्षुब्ध बदलावों के साथ बड़े उथल-पुथल का दौर है। यहां तक कि अमेरिका जैसा अधिक शक्तिशाली सैन्यीकृत साम्राज्यवादी इराक या अफगानिस्तान जैसे छोटे देशों में राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों को दबाना असंभव पा रहा है। भारत में शासक वर्ग द्वारा साम्राज्यवाद के साथ मिलीभगत से जनता के निष्ठुर शोषण और उत्पीड़न ने विस्फोटक स्थिति पैदा कर दी है। आज प्रभावी अंतरराष्ट्रीय और घरेलू हालात का फायदा उठाते हुए हम आश्वस्त हैं कि हम आंध्र प्रदेश में इस अस्थायी झटके से बाहर निकल

आयेंगे।

और जो अधिक महत्वपूर्ण बात है वह यह है कि हम आंध्र प्रदेश में अपने नुकसानों के होते हुए भी दूसरे अन्य राज्यों में आगे बढ़े हैं। हालात पहले के समय से गुणात्मक रूप से अलग हैं, कि हम अब हम दूसरे राज्यों में आंदोलन को आगे बढाऩे की क्षमता रखते हैं यहां तक कि यदि हम एक या दो राज्य में झटके और नुकसान झेलते हैं तब भी। वे नक्सलबाड़ी, एक श्रीकाकुलम, एक मुशहरी, एक कांकसा या एक सोनारपुर का दमन कर सकते हैं मगर आज क्रांतिकारी आंदोलन कहीं अधिक मजबूत है और व्यापक तौर पर पिछड़े देहातों में फैला हुआ है, जिसकी एक अच्छी बुनी हुई पार्टी संरचना है, सेना है और व्यापक जनाधार है। यह आगे बढ़ रही है – केंद्रीकृत योजना और दिशा के जरिये। अतः राज्य के लिए यह आसन नहीं होगा कि अतीत की तरह आंदोलन को दबा सके, भले ही एक जगह यह थोड़ी बढ़त ले ले। कांग्रेस ने आंध्र प्रदेश में झटकों से बाहर निकलने के लिए एक ठोस परियोजना बनायी है – प्रतिकूल कारकों (फैक्टरों) के अनुकूल कारकों में परिवर्तन के द्वारा। कुल मिला कर पार्टी और क्रांति का एक महान भविष्य है।

सिंगुर और नंदीग्राम जैसे मुद्दों को आप किस तरह देखते हैं? क्या आपके लोग नंदीग्राम में हिंसा भड़काने में शामिल थे, जैसा कि सीपीआइ (एम) का दावा है? क्या आपका इरादा ऐसे मुद्दों में सक्रिय भागीदारी का है?

गणपति : कोई केवल आश्चर्य ही कर सकता है अगर हम जनता के ऐसे जीवन-मरण के मुद्दों में शामिल न हों। हमारा इरादा लोगों को शासकों की सैकड़ों सेजों के निर्माण के जरिये विकास के नाम पर दलाल बड़े उद्योगों और एमएनसी को आम जनता से जमीन छीन कर देने की साजिशों और धोखेबाजी भरी नीतियों के खिलाफ लामबंद करना है। सेज नीति का उद्देश्य हमारे देश के अंदर औपनिवेशिक विदेशी क्षेत्र बनाने का है जहां जमीन का कोई कानून लागू नहीं होगा। सेज नीति साम्राज्यवादी एमएनसी के वैश्वीकृत आक्रमण के एक हिस्से के तहत उनके उकसावे पर भारतीय शासक वर्ग द्वारा आक्रामक तरीके से लागू किया जा रहा है। सेज और बड़ी परियोजनाओं द्वारा किसानों की उर्वर जमीन अधगृहित कर लेने के खिलाफ संघर्ष अधिक-से-अधिक उग्र होता जा रहा है जैसा कलिंगनगर, सिंगुर, नंदीग्राम, लोहंडीगुडा, पोलावरम आदि में देखा गया। सिंगुर और नंदीग्राम, खास कर एक महत्वपूर्ण प्रतीक बन गये हैं – बड़े

दलाल घरानों और साम्राज्यवादियों द्वारा शोषण के खिलाफ संघर्ष के।

जैसा कहा गया कि माओवादियों ने नंदीग्राम में हिंसा भड़कायी, सारी दुनिया हंसी इन 'वाम' मोरचा शासकों के मंदमति पर। यहां तक कि गोएबेल्स भी अपनी कब्र से मुड़ कर देखता होगा कि उसकी झूठ बोलने की कला किस तरह बुद्धाओं, करातों, येचुरियों आदि 'समाजवादियों' द्वारा उन्नत हुई है। ये राजनीतिक दलाल मुद्दे को मोड़ने की दुस्साहसपूर्ण कोशिश कर रहे हैं बार-बार यह दोहरा कर कि बाहर से आये माओवादियों ने स्थानीय जनता को भड़काया और तब पुलिस के पास आत्मरक्षा में गोली चलाने के सिवा कोई विकल्प नहीं रह गया। हरेक प्रतिक्रियावादी शासक वर्ग की तरह बंगाल के 'मार्क्सवादी' शासक भी 'बाहरी हाथ' का राग अलापने लगे हैं, उस गड़बड़ी के लिए जो उन्होंने खुद पैदा की थी। वृंदा करात ने कहा कि माओवादियों ने नंदीग्राम में आने के लिए समुद्री रूट का इस्तेमाल किया। इन तथाकथित सैद्धांतिकों का और उनके तर्कों की निधर्ानता के इस राजनीतिक दिवालियेपन देखना घिनौना है। इन दोमुंहे लोगों की नजर में सालेम या टाटा बाहरी नहीं है जबकि माओवादी, जो लोगों के लिए जीते और मरते हैं बाहरी हो गये? इससे भी बदतर, शतुरमुर्गों की तरह, वे सोचते हैं कि दुनिया नहीं जानती है कि कैसे सैकड़ों हथियारबंद गुंडे भारी पुलिस बल के अलावा उनकी पार्टी द्वारा राज्य के विभिन्न हिस्सों से नंदीग्राम नरसंहार को अंजाम देने के लिए लाये गये। करात और येचुरी मात्र निराशा में नंदीग्राम में अपने बर्बर नरसंहार को न्यायोचित ठहराने के लिए इसे बाहरियों पर थोप रहे हैं।

नंदीग्राम ने सामाजिक फासीवादी सीपीआइ (एम) के बर्बर चेहरे को उजागर कर दिया है, जिस के गुंडों ने पुलिस के साथ मिल कर लोगों पर अवर्णनीय अत्याचार किये, महिलाओं का बलात्कार किया, सौ से अधिक लोगों की हत्या की यहां तक कि बच्चों तक की। जो और अधिक घृणित है कि उन्होंने लाशों को या तो गाड़ दिया या उन्हें नदी में फेंक दिया। बुद्धदेव बंगाल के डायर की तरह उभरे और खुद को बड़े दलाल घरानों और एमएनसी का वफादार नौकर साबित किया। एक सच्चे दलाल की तरह, उनकी सरकार ने लोगों से जमीन हथिया कर बड़े बिजनेसों को देने का कार्यभार लिया। एक चीज संदेह के परे स्थापित हो गयी नंदीग्राम में राजकीय आतंक और राज्य प्रायोजित आतंक के साथ कि सीपीआइ (एम) बेहतरीन दांव है, देश में एमएनसी और बड़े बिजनेसों के लिए और उनके हितों की सुरक्षा के लिए। यह हैरतअंगेज नहीं होगा यदि वे मार्क्सवादी वेश में इस वफादार नौकर को भविष्य में केंद्र की सत्ता

में लाने के लिए चुन लें।

जहां तक ऐसे आंदोलनों में हमारी भूमिका की बात है हम निश्चित तौर पर हर कोशिश करेंगे अग्रिम मोर्चे पर पर रहने और आंदोलन को सही दिशा में नेतृत्व देने की। हम लोगों का आह्वान करते हैं कि हरेक सेज को युद्ध क्षेत्र में बदल दें और उन्हें भरोसा दिलाते हैं कि सेजों के खिलाफ जनांदोलनों में हमारा पूरा समर्थन उन्हें मिलेगा।

पिछले महीने जेएमएम नेता और जमशेदपुर से सांसद सुनील महतो आपके गुरिल्लों द्वारा पांच अन्य सहित मार दिये गये। ऐसी रिपोर्टें हैं कि उपमुख्यमंत्री सुधीर महतो को भी चेतावनी दी गयी है। ये कार्रवाइयां कहां तक न्यायोचित हैं? क्या आपकी पार्टी भविष्य में ऐसी और राजनीतिक हत्याओं की योजना बना रही है।

गणपति : हम किसी को केवल इसलिए नहीं मारते कि वह एक सांसद या मंत्री है। भले ही सभी विधायक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सरकार द्वारा बनायी सभी नीतियों के जिम्मेदार होते हैं। यह मुख्यतः एक छोटा-सा गिरोह है राजनीतिक नेताओं का जो साम्राज्यवादी सीबीबी-सामंत गंठजोड़ के इशारे पर नीतियों को अंतिम रूप देने में क्रूर भूमिका निभाता है। ऐसे ही नेताओं पर हम हमले करते हैं।

सुनील महतो के मामले में, हमने उन्हें सिर्फ इसलिए मारा क्योंकि वे सक्रिय रूप से झारखंड में क्रांतिकारी आंदोलन पर बर्बर दमन छेड़ने में शामिल थे। वे केवल जेएमएम के नेता ही नहीं थे, वे नागरिक सुरक्षा समिति (एनएसएस) कहे जानेवाले गैंग से भी सक्रिय रूप से जुड़े थे, जिसने 2001 में पूर्वी सिंहभूम जिले में डुमरिया ब्लॉक में लांगो गांव में हमारे 11 पार्टी कैडरों की हत्या में भाग लिया था। भले ही वे इस संहार के मुख्य स्वरूपकार न हों, उन्होंने राज्य द्वारा प्रायोजित इस निजी भाड़े के सिपाहियों वाले गैंग की कार्रवाइयों को प्रोत्साहित किया। बाद में, वे माओवादी आंदोलन के खिलाफ 'सेंदरा' नाम से सशस्त्र कैंपेन के संगठन में शासक वर्ग के गेम प्लान के मुताबिक आदिवासियों में एक हिस्से को काट कर क्रांतिकारी आंदोलन के खिलाफ खड़ा करने में आगे आये। हम पहले से ही बुरे अनुभव छत्तीसगढ़ में कर चुके हैं जहां तथाकथित शांति अभियान, 'सलवा जुडूम' के नाम पर हजारों आदिवासी लोगों के जीवन को तबाह कर दिया गया। पुलिस और केंद्रीय बलों की संगत में। इन सलवा जुडूम गैंगों द्वारा 700 से अधिक गांव धूल में मिला दिये गये, लगभग

60,000 लोग अपने घरों से उजाड़ दिये गये, 400 से अधिक मार दिये गये, अनेक महिलाओं का बलात्कार हुआ और लोगों की संपत्ति नष्ट कर दी गयी। हमें ए.पी. के भी अनुभव हैं जहां कोबरा, टाइगर्स आदि गैंगों ने कुछ इलाकों में आतंक का अभियान चला रखा था। ऐसी ही एक योजना सेंदरा के नाम से झारखंड में चलायी गयी और सुनील महतो उसके मुख्य नेताओं में थे, माओवादियों में खिलाफ अभियान के अगुआ। तथाकथित तृतीय प्रस्तुति कमेटी (टीपीसी) भी बिहार में यही भूमिका सरकार की मदद से निभा रही है। अतः हमने नौ अप्रैल को पीएलजीए के एक साहसिक हमले में इसके मुख्य नेता 'मुरारी गंजू' को खत्म कर दिया। ऐसे दंड जहां जरूरी हैं वहां दिये जायेंगे- मामला-दर-मामला आधार पर, चुनिंदा तरीकों से, और ये हमारी आम नीति के तौर न लिये जायें।

हम एक चीज साफ कर देना चाहते हैं : हम राजनीतिक पार्टियों के नेताओं और साधारण सदस्यों की अभेदभावपूर्ण हत्या के लिए नहीं हैं। हम मूलतः जनता की लामबंदी में भरोसा रखते हैं, विभिन्न राजनीतिक पार्टियों को अकेला कर देने, उनकी जन विरोधी नीतियों का परदाफाश करने और उनसे लड़ने के लिए और गैंगों द्वारा हमले में जहां जरूरत हुई वहां पीएलजीए स्क्वाड और कार्रवाई दल के जरिये लड़ने में। सुनील महतो के सफाये को पूरे तौर पर हमारे जेएमएम के विरोध में होने के तौर पर नहीं व्याख्यायित किया जाना चाहिए। हम जेएमएम के खिलाफ नहीं हैं अगर वे जन विरोधी गतिविधियों और क्रांतिकारी आंदोलन पर हमले से बाज आ जायें। हम जेएमएम के कार्यकर्ताओं और साधारण सदस्यों से अपील करते हैं समझने की सेंदरा के नाम पर शासक वर्ग द्वारा आदिवासी जनता को बांटने की साजिश को और उनका आह्वान करते हैं राज्य प्रायोजित निजी गैंग एनएसएस और इसी तरह झारखंड में क्रांतिकारी आंदोलन के खिलाफ सेंदरा के कुख्यात अभियान का नेतृत्व करनेवालों से लड़ने की।

हाल ही में आपकी पीएलजीए ने पुलिस और सलवा जुडूम पर सबसे बड़ा हमला किया, छत्तीसगढ़ के रानी बोदली में बड़ी संख्या में पुलिस और एसपीओ को मार कर। क्या आप भविष्य में ऐसे और हमले देखते हैं? और क्या आप विश्वास करते हैं कि ऐसी कार्रवाइयों से सलवा जुडूम रुक सकता है?

गणपति : 16 मार्च को छत्तीसगढ़ में बीजापुर पुलिस जिले में रानी बोदली

में हमारी पार्टी (सीपीआइ माओवादी) के पीएलजीए द्वारा पुलिस कैंप पर साहसिक हमलावर विरोधी रणनीतिक आपरेशन किया गया, जिसमें एसपीओ सहित 68 पुलिसकर्मी मार दिये गये, सलवा जुडूम के नाम पर राज्य और केंद्र सरकारों द्वारा नियंत्रित आतंक के क्रूर शासन का एक अपरिहार्य नतीजा था। आपको दंडकारण्य में वास्तविक जमीनी हालत जाननी होगी यह समझने के लिए कि क्यों ऐसे बड़े ऑपरेशन प्लान किये जाते हैं।।

जून, 2005 से लगभग दो सालों से, छत्तीसगढ़ में बीजेपी सरकार और केंद्र की यूपीए सरकार ने नरसंहार, यातना और हजारों आदिवासी किसानों की गिरफ्तारी, सैकड़ों महिलओं के सामूहिक बलात्कार और हत्या, हजारों घरों, जंगली अन्न, आदिवासियों की समस्त संपत्ति के विध्वंस, हजारों मवेशियों को खोल कर ले जाने या मार देने, जबरदस्ती लाखों लोगों को 800 गांवों से भगा देने और दंडकारण्य में खास कर दंतेवाड़ा, बस्तर, कांकेर, बीजापुर और नारायणपुर जिलों में किसी के माओवादी समर्थक होने या क्रांतिकारी जनसंगठन से जुड़े रहने के संदेह पर धमकी देने और डराने के प्रतिक्रांतिकारी आतंकी अभियान को प्रायोजित किया है। हरेक माह वेतन भुगतान पर 5,000 से अधिक युवा भाड़े के सरकारी सैनिकों में तौर पर भरती किये गये, उन आदिवासियों के खिलाफ जो जमीन, जीवन और आजादी के लिए सीपीआइ; माओवादी के नेतृत्व में लड़ रहे हैं। नागा और मिजो बटालियनें सीआरपीएफ और अन्य विशेष पुलिस बलों के साथ खास तौर पर छत्तीसगढ़ बुलायी गयीं, जो आदिवासी आबादी के खिलाफ बेहद पाशविक और अमानवीय कार्रवाइयां कर रही हैं।

एक पूरी आबादी के खिलाफ इन सभी क्रूर हमलों का मतलब है श्मशान की शांति स्थापित करना और टाटाओं, रुइआसों, एस्सारों, मित्तलों, जिंदलों और साम्राज्यवादी एमएनसी जैसे खूंखार शिकारियों के लिए निर्बाध लूट के लिए रास्ता साफ करना। एमओयू छत्तीसगढ़ सरकार द्वारा इन कारपोरेट दलाल बड़े बिजनेस घरानों के साथ साइन किया गया है, राज्य के समृद्ध खनिज और वन संपदा को हड़पने के लिए। इन दिन-दहाड़े लुटेरों के आदेश पर प्रतिपक्षी कांगेसी नेता महेंद्र कर्मा बीजेपी के गृहमंत्री रामविचार नेताम जैसे आदिवासी दलाल और अन्य इस आदिवासी आबादी के खिलाफ प्रतिक्रांतिकारी युद्ध का नेतृत्व कर रहे हैं।

केंद्रीय बलों की भारी संख्या तैनात है, जो अब 13 बटालियनों से अधिक हो गयी है, राज्य बल की अतिरिक्त बटालियनों की भरती और यहां तक कि

भाड़े के पुलिस बल में 14 वर्ष तक के बच्चों की भी भरती हो रही है। पंजाब में युवाओं के नरसंहार के लिए कुख्यात, केपीएस गिल, को खासतौर पर मुख्यमंत्री का सलाकार नियुक्त किया गया है। एक कारपेट सुरक्षातंत्र पुलिस कैंपों के साथ लाया गया है लोगों में आतंक पैदा करने के लिए।

हम सीपीआइ; माओवादी की केंद्रीय कमेटी की ओर से एक बार फिर राज्य और कैंद्र सरकारों को चेतावनी देते हैं कि भूमकाल सेना और पीएलजीए और जनता इससे भी बड़े पैमाने पर हमले करेगी, यदि सलवा जुडूम के नाम पर हत्या का अभियान जल्द से जल्द छोड़ा नहीं गया।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि मध्यवर्ग ने हमेशा से यथास्थिति की इच्छा रखी है। भारतीय मध्यवर्ग और अधिक सामर्थ्यवान/शक्तिशाली होता जा रहा है। उसे सहयोजित करने की आपकी क्या योजना है?

गणपतिः यह सच है कि भारतीय मध्यवर्गीय आबादी में वृद्धि हुई है। साथ-साथ मध्यम वर्ग का एक बड़ा हिस्सा बढ़ती हुई कीमतों, बेरोजगारी, जिंदगी की बढ़ती हुई असुरक्षा, शिक्षा पर बढ़ते हुए खर्च के कारण पारिवारिक खर्च में भारी वृद्धि, स्वास्थ्य, यातायात इत्यादि, जो बहुत हद तक निजीकृत हो गये हैं और मध्यवर्ग के एक महत्वपूर्ण हिस्से की पहुंच से बाहर हो गये हैं, के कारण गहरे संकट के दौर से गुजर रहा है। संक्षेप में मध्यवर्ग की संख्या में वृद्धि के बावजूद यह वर्ग बहुत ही निराशाजनक स्थिति में है। अतः हम देखते हैं कि मध्यवर्ग के एक बड़े हिस्से में असंतोष उसे अपनी मांगों के लिए गलियों में उतर जाने के लिए मजबूर कर रहा है, जैसाकि शिक्षकों, सरकारी कर्मचारियों, छात्रों और यहां तक कि उन दुकानदारों की हड़तालों से देखा जा सकता है जो शॉपिंग मॉलों और रीटेल क्षेत्र में प्रत्यक्ष पूंजी निवेश से प्रभावित होते हैं।। ध्यान देने की एक और महत्वपूर्ण बात है कि कल के दिनों की विलासी वस्तुएं आज के उपभोक्ताओं के लिए आधारभूत जरूरतें बन गयी हैं। और इन जरूरतों की सूची बड़े पैमाने पर उपभोक्ता वस्तुओं के भारी उत्पादन और बाजार द्वारा उपभोगवादिता को बढ़ावा देने के कारण दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। अतः इस वर्ग के सदस्यों के बीच असंतोष और झुंझलाहट बढ़ रही है, क्योंकि वे इन चीजों को अपने लिए प्राप्त नहीं कर सकते हैं। चूंकि उनकी आय का अधिकांश हिस्सा मौलिक जरूरतों जैसे भोजन, कपड़े और घर पर खर्च हो जाता है।

मध्यमवर्ग इन मुद्दों से बहुत अधिक प्रभावित है, जैसे बढ़ती कीमतें,

असुरक्षा, भ्रष्टाचार, उनके बच्चों के लिए बेराजगारी, शिक्षा और स्वास्थ्य पर बढ़ता खर्च, भूमि माफिया द्वारा दी जानेवाली धमकियां इत्यादी। इनको ध्यान में रखते हुए, पार्टी ने मध्यवर्ग को संघर्ष के लिए प्रेरित करने की योजनाएं बनायी हैं।

सशस्त्र संघर्ष अनिवार्य क्यों है? क्या यह सही नहीं है कि हिंसा के कारण भारी संख्या में लोग पार्टी से दूर रहने पर मजबूर हो जाते हैं?

गणपति : सशस्त्र संघर्ष या अहिंसक संघर्ष का प्रश्न व्यक्तिपरक सनक या किसी व्यक्तिविशेष या पार्टी की इच्छाओं पर आधारित नहीं है। यह किसी एक की इच्छा से मुक्त है। यह सभी ऐतिहासिक अनुभवों के आधार पर बना एक नियम है। यह इतिहास की एक सच्चाई है कि संसार में कहीं भी, वर्ग समाज के इतिहास में, प्रतिक्रियाशील शासक वर्ग ने जनांदोलन का हिंसक दमन किये बिना सत्ता नहीं छोड़ी है, या सत्ता में बने रहने के लिए हिंसक प्रतिरोध प्रदर्शन नहीं किया है जब तक कि उन्हें जबरन न हटाया गया हो। बेशक, शांतिपूर्ण आंदोलन या प्रदर्शनों के माध्यम से समाजिक व्यवस्था में लाये गये परिवर्तनों के उदाहरण दिये जा सकते हैं, लेकिन ये सब मात्र सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तन मात्र थे – तंत्र परिवर्तन नहीं।। शासक वर्ग का एक हिस्सा एक हिंसक क्रांति के बिना शासक वर्ग के दूसरे हिस्से को सत्ता सौंप सकता है, लेकिन जब एक शासक वर्ग बिल्कुल विभिन्न सोचवाले वर्ग से प्रतिस्थापित होता है तो बात बिलकुल अलग होती है। फिर भी हम पाते हैं कि सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन भी हिंसक झड़पों के बिना हो सकते हैं जैसाकि अफ्रीका, एशिया और लैटिन अमेरिका में देखा गया है। वास्तव में हमलोगों को बिना सशस्त्र संघर्ष की जरूरत के तंत्र में परिवर्तन लाकर काफी खुशी होगी।

जब हमने संघर्ष की शुरुआत की तो यह मुख्य रूप से जनसाधारण से संबंधित मामलों जैसे जमीन, जीविका और सामंती और साम्राज्यवादी शोषण और उत्पीड़न से मुक्ति के लिए एक शांतिपूर्ण आंदोलन था। यह तो साधारण-सी बात है कि कोई सामंत जमीन पर अपना अधिकार या सत्ता इसलिए छोड़ दे, क्योंकि जनसाधारण अपने मौलिक अधिकार के रूप में इसकी मांग कर रहे हैं। जमींदार जनांदोलन/प्रतिरोध का दमन करने के लिए अपने पास उपलब्ध हर साधन का इस्तेमाल करेगा। वह स्थानीय पुलिस, और विशेष सैन्य बल, केंद्रीय अर्धसैनिक बल या जरूरत पड़े तो सेना की भी मदद लेगा। जब कभी

हम ने सामंतविरोधी संघर्ष की शुरुआत की तो हमने ऐसा ही पाया। जैसे 1970 के आखिरी के वर्षों के दौरान जगत्याल में, मजदूरों द्वारा जमींदारों का बहिष्कार किया गया तो वे गांवों से भाग गये। हमारा क्रांतिकारी आंदोलन सौ से अधिक गांवों में फैल गया तो उसने सत्ता को हिला कर रख दिया। इस अहिंसक संघर्ष के बाद जो हुआ, वह उन लोगों के लिए आंखे खोलनेवाली बात होनी चाहिए जो सशस्त्र संघर्ष के विरोध में भ्रम के शिकार हैं। कुछ हफ्तों के बाद वे जमींदार भाड़े के सिपाहियों के साथ गांवों में वापस आये और बड़े पैमाने पर हिंसा और कठोर दमनात्मक हथकंडे अपनाये, जैसे गिरफ्तारी, मज़दूरों का उत्पीड़न, उनकी सम्पत्ति की बरबादी की जाने लगी। उस क्षेत्र को अशांत घोषित किया गया, जनसाधारण के मौलिक अधिकारों से उन्हें वंचित किया गया और इसी तरह के अन्य कठोर कदम उठाये गये। और इसी बिंदु पर पार्टी शस्त्र उठाने पर मजबूर हो गयी। यही बात साम्राज्यवाद विरोधी संघर्षो तथा राष्ट्रीय आंदोलनों के साथ भी सत्य है। कौन अपनी अनमोल जिंदगी को खोना चाहेगा या मुश्किलों का सामना करना चाहेगा जब जनसाधारण की मांग जैसे जमीन पर उनका अधकिार, साम्राज्यवादी शोषण और उत्पीड़न से उनकी मुक्ति शांतिपूर्ण तरीकों के माध्यम से पूरी हो जाये। सभी आंदोलन शांतिपूर्ण आंदोलनों के रूप में शुरू हुए लेकिन प्रतिक्रियावादी शासक वर्ग की गतिविधियों के कारण इन आंदोलनों ने सशस्त्र संघर्ष का रूप ले लिया। इराक का मामला इस बात का एक खूबसूरत उदाहरण है कि कैसे वहां की पूरी आबादी को उन साम्राज्यवादियों के खिलाफ शस्त्र उठाना पड़ा, जिन्होंने तेल की लालच के लिए बेलगाम हिंसा का प्रयोग किया। यही फिलीस्तीन, कश्मीर या और कहीं के लिए भी सत्य है।

आपके प्रश्न का दूसरा हिस्सा एक बहुत बड़ी मिथ्या है। सशस्त्र संघर्ष की वजह से जनसाधारण कहीं भी पार्टी से दूर नहीं हुए है। जबकि वास्तविकता यह है कि जहां राज्य ने अपना दमनकारी हथकंडा अपनाया है, वहां प्रभावशाली प्रतिरोध की कमी एक निराशाजनक बात है। दमनकारी सैन्यबल को हराये बिना लोगों को इकट्ठा करना या उनमें विश्वास जगाना असंभव है। वास्तव में ये सिर्फ हमारी गुरिल्ला टुकड़ियां नहीं हैं जो प्रतिरोध कर रही हैं। जनसाधारण सैन्य बल के खिलाफ सशस्त्र प्रतिरोध में पीएलजीए का समर्थन करके और बहादुरी से लड़कर मुख्य भूमिका निभा रहे हैं। यह जमीनी सच्चाई है, यद्यपि बुद्धिजीवी अपने महलों में बैठ कर जो कुछ भी सोचें और सिद्धांत का निर्माण करे।

अहिंसक तरीके से आंदोलन क्यों नहीं हो सकते हैं?

गणपति : आपको यह प्रश्न दूसरे तरह से रखना चाहिए। आपको प्रतिक्रियावादी शासक वर्ग से यह प्रश्न पूछना चाहिए, यदि वे सुनने को तैयार हों, कि वे आंदोलनों को शांतिपूर्ण ढंग से क्यों नहीं होने देते? शासक वर्ग से मेरा तात्पर्य है बड़े जमींदार, बड़ी कंपनियां, साम्राज्यवादी बहुराष्ट्रीय कम्पनियां, सत्ताधारी भारत सरकार और इसके सशस्त्र बल, राज्य की पुलिस और अधिकारी वर्ग। वे लोग उन लोगों को क्यों पीटते हैं, गिरफ्तार करते हैं, प्रताड़ित करते हैं या उनकी हत्या कर देते हैं – जो हड़ताल पर जाते हैं। वे हड़ताल पर जानेवाले मजदूरों और कर्मचारियों की नौकरियां क्यों खत्म कर देते हैं? वे शांतिपूर्ण ढंग से धरना या सभा करते हुए लोगों पर गोलियां बरसाने के लिए भाड़े के सिपाहियों, सीआरपीएफ और सेना को क्यों भेजते हैं? खाकीधारियों को औरतों का बलात्कार करने, संपत्ति को बरबाद करने और भारतीय संविधान के नियमों का उल्लंघन करके फर्जी मुठभेड़ करने की अनुमति कैसे दी जाती है? लेकिन फिर भी ऐसे अमानवीय कृत्यों के बावजूद उन्हें बिल्कुल निर्दोष माना जाता है। वे कलिंगनगर, नंदीग्राम, अरवल, इंद्रावली में हुए निर्मम हत्याओं और ऐसे ही जघन्य अमानवीय कृत्यों को स्वच्छंदता से कैसे अंजाम दे देते हैं? कश्मीर में लापता लोगों के मुद्दे को लेकर किये गए प्रदर्शन को न सिर्फ नजरअंदाज किया गया है, बल्कि प्रदर्शनकारियों पर निर्ममता से आक्रमण भी किया जाता रहा है। मणिपुर में आर्म्ड फोर्सेज स्पेशल पावर एक्ट क्यों लगाया गया है जबकि वास्तव में भारतीय सेना और सशस्त्र बल ही पीड़ितों, महिलाओं पर जुल्म ढा रहे हैं जैसा कि मनोरमा बलात्कार मामले में देखा जा सकता है। क्या आप इन खाकी वर्दीधारियों के कृत्यों को भूल सकते हैं, जो प्रदर्शनकारियों को निर्ममता से पीट कर उनके सिरों को फोड़ देते हैं और यही नहीं, जब वे गंभीर रूप से घायल होकर गिर जाते हैं तब भी ये लोग उन्हें नही बख्शते।

संसार में कहीं भी शासक वर्ग ने शांतिपूर्ण ढंग से जनसाधारण की जमीन के अधिकार की मांग और यातनाओं से मुक्ति की मांग को पूरा नहीं होने दिया है; यहां तक कि प्रजातांत्रिक राज्य भी उसी हद तक ऐसा होने देते हैं जहां तक उनकी पूर्ववत स्थिति यथावत् बनी रहे, उन्हें शोषण करने और काफी मुनाफा का मौका मिले। अहिंसा और कर्म-भाग्य-शोषक वर्ग के सिद्धांत और दोअर्थी नारे हैं, जिनके आधार पर वे जनसाधारण पर जुल्म करते हैं और अपना आधपित्य स्थापित करते हैं। शुरुआत में कोई भी अपनी समस्याओं का समाधान

करने के लिए हिंसात्मक तरीकों को नहीं अपनाता है और न ही ऐसी कोई इच्छा रखता है। यह सिर्फ तभी होता है जब उनके शांतिपूर्ण प्रदर्शनों, रैलियों, धरनों, भूख हड़ताल इत्यादि पर ध्यान नहीं दिया जाता है या दमन करने की कोशिश की जाती है और तब उन्हें मजबूरी में हिंसात्मक तरीकों को अपनाना पड़ता है। यह एक निर्विवाद सत्य है, फिर चाहे यह सामंत विरोधी सशस्त्र कृषि संघर्ष हो या उत्तर पूर्व या कश्मीर का राष्ट्रवादी आंदोलन हो या कोई भी साम्राज्य विरोधी संघर्ष हो। इस सार्वभौमिक सत्य की पुष्टि करने के लिए आपको न सिर्फ भारत के बल्कि संसार के किसी भी हिस्से में सशस्त्र आंदोलनों की उत्पत्ति पर नजर डालने की जरूरत है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि जनसाधारण द्वारा अपनाए गए संघर्ष का प्रारूप हमेशा से ही शासक वर्ग की गतिविधियों पर निर्भर करता है न कि शासक वर्ग संघर्ष के आधार पर अपनी गतिविधियां तय करता है। और आपको यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि आज भी हम हिंसात्मक और अहिंसात्मक दोनों ही तरह के संघर्षों को अपनाते हैं।

आपकी हिंसा स्वरक्षा के लिए है या सत्ता हासिल करने के लिए?

गणपति : कहा जाये तो आप इन दोनों उद्देश्यों को अलग नहीं कर सकते। दीर्घकालीन परिदृश्य में या अन्ततः हमारा उद्देश्य सत्ता हासिल करना है जिसके बिना लोगों को साम्राज्यवाद या सामन्तवाद के चंगुल से छुड़ाया नहीं जा सकता। वर्तमान अन्यायपूर्ण सामाजिक आर्थिक व्यवस्था को बदला नहीं जा सकता। लेकिन अपनी सत्ता को यथावत बनाये रखने के लिए शासकवर्ग पार्टी पर, जनसाधारण पर बर्बर दमनकारी हथकण्डों का उपयोग कर रहा है। अतः जनसाधारण को आंदोलनों के लिए प्रेरित करने के क्रम में शुरुआती अवस्था में ही हमें सशस्त्र संघर्ष को बढ़ावा देना पड़ता है और लम्बे समय तक हमारे युद्ध की यही प्रकृति होगी और हमारे सभी हमलावर विरोधी रणनीतिक योजनाएं और अभियान स्वसुरक्षा के रूप में देखे जायेंगे।

भारतीय सत्ता बहुत शक्तिशाली होती जा रही है। सत्ता से लड़ने की आपकी क्या योजना है?

गणपति : रणनीतिक तौर पर कहा जाये तो यह सत्य है कि सत्ता की ताकत बढ़ती जा रही है। वह सेना और आंतरिक सुरक्षा के लिए काफी खर्च कर रही है, क्रान्तिकारी ताकतों, राष्ट्रवादी आन्दोलन और जनतांत्रिक आंदोलनों का दमन करने के लिए थैली खोलकर राज्यों को धन का आवंटन कर रही है।

फिर भी दमनकारी ताकतों की वृद्धि एक महत्त्वपूर्ण मुद्दे को सामने लाती है कि भारतीय सत्ता के लिए दमनकारी ताकतों को बढ़ाए बिना जन आंदोलनों पर नियंत्रण करना असंभव हो रहा है। इस तरह से देखा जाये तो सुरक्षा बल में वृद्धि सामर्थ्य को नहीं दर्शाती, बल्कि यह इस बात को उजागर करती है कि सत्ता कमजोर हो गयी है और यह पुराने ढंग से शासन करने में विश्वास नहीं करती। यह सत्ता में बने रहने के लिए और शोषण की प्रक्रिया जारी रखने के लिए शासक वर्ग द्वारा निरंकुश बल पर आश्रित रहने के दुस्साहस को दर्शाता है। यदि देश में जनतांत्रिक आंदोलनों की वृद्धि नहीं हुई होती तो राज्य तन्त्र को मजबूत बनाने और दमनकारी बल को बढ़ाने की आवश्यकता ही नहीं होती।

लेकिन मैं आपको लगभग भुला दी गई सच्चाई से अवगत कराता हूं कि कोई भी सत्ता, चाहे वह कितनी ही ताकतवर क्यों न हो जनता की ताकत के आगे नहीं टिक सकती। जैसा कि कामरेड माओ ने इंगित किया है कि सबसे ताकतवार सत्ता भी कागजी शेर होती है। कल के दिनों में हमने देखा कि किस प्रकार सबसे शक्तिशाली देश की सबसे शक्तिशाली सेना को वियतनाम में करारी हार स्वीकार कर बैठना पड़ा। आज सम्पूर्ण संसार इराक में साधारण अप्रशिक्षित पर दृढ़ राष्ट्रीय मुक्ति के लड़ाकुओं और अमरीकी साम्राज्यवाद के नेतृत्व में लड़ रही शक्तिशाली सेना के बीच की भिड़ंत को देखकर आश्चर्यचकित है। अन्ततः निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि स्वतंत्रता प्रेमी लोग सत्ता से ज्यादा शक्तिशाली हैं और इस सार्वभौमिक सत्य को भूला नहीं जा सकता कि जहां उत्पीड़न होगा वहां प्रतिरोध होगा। सत्ता चाहे कितनी भी ताकतवर क्यों न लगे या हो, इसे जनसाधारण के प्रतिकार के सामने घुटने टेकने होंगे।

अभी हाल में हुई हमारी एकता कांग्रेस-नौवीं कांग्रेस में इस मुद्दे पर विस्तार से विश्लेषण किया गया है और योजनाएं तैयार की गई हैं कि किस प्रकार जनसाधारण द्वारा सत्ता का प्रतिकार किया जाए, जो सामन्तवादी, साम्राज्यवादी ताकतों तथा बड़ी कम्पनियों द्वारा प्रताड़ित हुए हैं। और बेशक इसके साथ-साथ सैन्य बल की क्षमताओं की वृद्धि करके प्रतिरोध होना चाहिए। भारतीय सत्ता की ताकतों और कमजोरियों के विशेष अध्ययन की शुरुआत की गयी है। आप तो जानते ही होंगे कि सबसे शक्तिशाली शत्रु का भी कोई न कोई कमजोर पहलु होता है। हमें इन कमजोर पहलुओं को ठीक ढंग से पहचानना है और जीत हासिल करने के लिए उन पहलुओं पर हमला करना है।

आप चुनाव के माध्यम से संसद में जाकर प्रजातांत्रिक तरीके से मुद्दों

को क्यों नहीं उठाते?

गणपति : यह उस व्यक्ति के लिए एक तर्कसंगत प्रश्न है जो तथाकथित संसदीय प्रजातंत्र के बाह्य आवरण से ही अवगत है। जरूरी है सिर्फ प्रारूप को ही नहीं बल्कि उसके सार, उसके केंद्र को देखना। यदि आप प्रजातंत्र के बाहरी आवरण को हटायेंगे तो अन्दर सड़े हुए दुर्गंधयुक्त शव को पायेंगे/सड़ा हुआ तंत्र पायेंगे। इसलिए लेनिन ने संसद को सुअरबाड़ा के रूप में और महज एक हलचलवाली बातूनी दुकान के रूप में वर्णित किया है। हमलोग इसे बातूनी दुकान क्यों कहते हैं? सबसे पहले संसद द्वारा लोगों की वास्तविक समस्याओं को कभी संबोधित ही नहीं किया जा सकता, उनके हल की बात तो छोड़ ही दी जाये। संसदीय संस्था उसके लिए बनी ही नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि उनके पास कोई सामर्थ्य नहीं है। वे जनसाधारण के लिए लाभकारी कुछ प्रस्तावों को पारित तो कर सकते हैं लेकिन उन्हें कार्यपालिका के माध्यम से लागू किया जाता है जिसके पास वास्तविक शक्ति होती है। हमलोग लैंड सीलिंग एक्ट, अस्पृश्यता, दहेज इत्यादि पर बने कानून की स्थिति से वाकिफ़ तो हैं ही। यह कार्यपालिका ही है जो सभी प्रक्रियाओं, नियमों, कानूनों का कार्यान्वयन करती है। इंदिरा गांधी के शासनकाल में आपातकाल के दौरान जब संसद की ताकत को उच्छेदित किया गया था तो कार्यपालिका की वास्तविक ताकत सामने आई थी। लेकिन गलियों में गुजर बसर करनेवाला आदमी जानता है कि किस प्रकार कर अधिकारी, सिपाही और स्थानीय मजिस्ट्रेट उसकी जिंदगी तय करते हैं। कितना ही खूबसूरत और आकर्षक कोई अधिनियम क्यों न लगे, अन्ततः पैसे की ताकत बल और भाई-भतीजवाद ही उसकी जिन्दगी के हरेक पहलू को तय करते हैं।

दूसरी ओर संसदीय संस्था सदा यथास्थिति को बनाये रखने के लिए प्रयासरत रहती है और तंत्र में परिवर्तन की कोई आवश्यकता ही नहीं समझती। वे जनसाधारण के बीच अपनी विश्वसनीयता को बनाए रखने के लिए समय-समय पर कुछ दिखावटी परिवर्तन कर देते हैं। सबसे महत्वपूर्ण तो यह बात है कि वास्वतिकता यही है कि साम्राज्यवादी, सामन्तवादी ताकतें बड़े जमींदार और माफिया संसद पर अपना नियंत्रण बनाये हुए हैं। जो संसद का हिस्सा बनते हैं वे इन लॉबियों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं और इनके हाथों की कठपुतली मात्र होते हैं। एक नेक इरादे वाला संसद सदस्य भी इन बड़े प्रभावशाली लोगों द्वारा बनाए गए कानून से बाहर जाने की कल्पना नहीं कर सकता। यदि संसद के कार्यों का आकलन किया जाए तो आप पाएंगे कि

लगभग 90 प्रतिशत कार्यवाही कचरे जैसी है, जिसका लोगों की वास्तविक समस्याओं से कोई लेना-देना नहीं है।

'चुनाव का तंत्र एक बहुत बड़ा ढोंग है' इस बात को स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है, एक स्कूल जानेवाला बच्चा भी इस बात को जानता है। क्या शराब और पैसे से मतों को खरीदने और जातीय, धार्मिक भावनाओं को प्रेरित करने को आप प्रजातंत्र कहेंगे? और चुनाव के बाद विधायकों को बाजार की किसी वस्तु की तरह खरीदने को क्या प्रजातंत्र कहा जायेगा? यदि नरेन्द्र मोदी, गुजरात में हजारों मुसलमानों का हत्यारा, चुनाव जीत कर मुख्यमंत्री पद के लिए दोबारा चुना जा सकता है; यदि अपराधी, डकैत और बिल्कुल भ्रष्ट राजनीतिज्ञ चुने जा सकते है; यदि मतों को बन्दूक की नोंक पर और बूथ पर कब्जा करके प्राप्त किया जा सकता है तो क्या आप सच में यह सोचते हैं कि इस तथाकथित प्रजातंत्र का कोई अर्थ है?

इसलिए हमारी पार्टी में उन दूसरी कम्युनिस्ट राजनैतिक पार्टी से अलग बिल्कुल स्पष्टता पाई जाती है जो क्रान्तिकारी होने का दावा तो करती है परन्तु वास्तविकता तो यह है कि वे संसदीय राजनीति में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेते हैं। हमारी यह मान्यता है कि संघर्ष से ही जनसाधारण की समस्याओं को हल किया जा सकता है और संसदीय संस्थाएं भ्रामक स्थिति पैदा करने के अलावा कुछ नहीं कर सकतीं। संसद लोगों के आक्रोश को निकालने का सेफ्टी वाल्व है, नहीं तो तंत्र टुकड़ों में विस्फोटित हो जाएगा। आप सोचते हैं कि संसद में मुद्दा उठाना प्रजातंत्र है लेकिन हमारा मानना है कि जनसाधारण सुसंगठित रूप से प्रदर्शन करके प्रजातंत्रिक तरीके से मुद्दा उठाये। हमलोग हमेशा इस तरह के संघर्षों का समर्थन करेंगे और गैर प्रजातांत्रिक ढंग से चुने गए उन शक्तिहीन संसदीय संस्थाओं के दलदल में कभी पांव नहीं रखेंगे जो बड़े व्यापारिक संस्थानों और सामंतों के उपकरणों का काम करते हैं और साम्राज्यवादियों के सिद्धांत के अनुसार चलते हैं।

क्या आपको डर है कि यदि आप संसद में शामिल होंगे तो आपकी पार्टी भी भ्रष्ट हो सकती है?

गणपति : इस प्रश्न का उत्तर मेरे पहले दिये गए स्पष्टीकरण में समाहित है। एक शब्द में कहा जाये तो संसद में शामिल होकर भ्रष्ट होने से ज्यादा सच तो यह है कि भ्रष्ट दल और राजनीतिज्ञ ही संसदीय तंत्र का हिस्सा बन सकते हैं। विशेष रूप से हमारी पार्टी का मानना है कि संसद की आर्थिक ताकत के

समक्ष सच्चे व्यक्तियों की प्रजातांत्रिक सत्ता कायम करना ही लोगों के लिए वास्तविक विकल्प है। हमलोग देश के कुछ हिस्सों में लोगों की सत्तावाली ऐसी संस्थाएं बना चुके हैं जैसे दण्डकारण्य में जनता सरकार। ये क्रांतिकारी संस्थाएं दिखाती हैं कि किस प्रकार वास्तविक सामर्थ्य का इस्तेमाल किया जाता है जो कि नपुंसक, भ्रष्ट और आपराधिक संसदीय संस्थाओं से बिल्कुल भिन्न होती है।

आपका जनाधार क्या है?

गणपति : हमारे जनाधार में वृहत पीड़ित जनसमुदाय, धरती पर रह रहे शोक संतप्त लोग, कंगाल, विमुख, विक्षुब्ध लोग समाहित हैं। मजदूर, किसान, मध्यम वर्ग, दलित, औरतें, आदिवासी और करोड़ों मेहनती लोग हमारे जनाधार का निर्माण करते हैं ये वृहत आबादी वास्तविक भारत है न कि समाज के पांच या दस प्रतिशत शोषक वर्ग की आबादी से भारत की पहचान होती है। इस वृहत आबादी को क्रान्ति की जरूरत है और वे हमारी ओर आशाभरी दृष्टि से देखते हैं, यद्यपि उन्होंने वास्तविकता में हमें देखा भी नहीं है। जब हमारे व्यक्तिपरक बल में वृद्धि होगी तो हम देश भर में इन पीड़ितों के बीच प्रवेश करेंगे। आज उन सारे क्षेत्रों में समाज के इस पीड़ित हिस्से के बीच हमारा एक मजबूत ठोस आधार बन गया है जहां हम सशस्त्र सामन्त विरोधी कृषि संघर्ष का नेतृत्व कर रहे हैं। फिर भी अब भी शहरी क्षेत्रों में समाज के दूसरे हिस्सों जैसे मजदूर वर्ग, छात्रों, युवाओं, मध्यवर्ग, छोटे व्यापारियों, फेरीवालों के बीच अपनी पैठ बनाने की आवश्यकता है।

क्या आप कोई सांख्यिकी आंकड़ा दे सकते हैं जिससे पता चले कि पिछले एक वर्ष में आपके कैडर बेस में कितनी वृद्धि हुई है?

गणपति : मैं ठीक-ठीक सही आंकड़े नहीं दे सकता हूं क्योंकि हम अपने दुश्मनों को अपने पार्टी के वास्तविक विकास के बारे में सही जानकारी नहीं दे सकते हैं। उन्हें अन्वेषण संस्थाओं और खुफिया एजेंसियों के माध्यम से अंदाजा लगाने और आंकड़े इकट्ठा करने दीजिए। लेकिन इन एजेन्सियों द्वारा तैयार किए गए हमारी पार्टी के विकास की रफ्तार और हमारे संघर्ष के आंकड़ों को देखकर हमलोग प्रभावित हैं। लेकिन एक बात मैं स्पष्ट कर देना चाहूंगा कि कुछ राज्यों में काफी नुकसान के बावजूद हमने पिछले एक साल में अपने कैडर बेस, मास बेस में काफी वृद्धि की है।

भारतवर्ष का कितना हिस्सा माओवादी नियंत्रण के अन्तर्गत है? एक बार भारत के प्रधानमंत्री ने कहा था 604 जिलों में से 160 जिलों में माओवादी नियंत्रण है। क्या यह अतिशयोक्ति है?

गणपति : जैसा कि मैंने पहले कहा कि हमारे आन्दोलन के विषय में ऐसे आंकड़ों को देखकर हम काफी प्रभावित होते हैं, लेकिन प्रधानमंत्री के इस कथन से तो यह स्पष्ट है कि भारत के प्रतिक्रियावादी शासक वर्ग के लिए हम कितना भयानक दुःस्वप्न बन गए हैं। वास्तव में कई एजेंसियां आंकड़े यह दिखाने के लिए निकालती हैं कि माओवादी कितना बड़ा खतरा बन गए हैं। एक लेखक का कहना है कि हम 2 जिला प्रति सप्ताह के रफ्तार से बढ़ रहे हैं। दूसरे का कहना है कि 2005 में हम 64 जिलों से बढ़कर 2007 में 169 जिलों में फैल गए हैं। दूसरे शोधकर्ता का कहना है कि माओवादी अरुणाचल प्रदेश, बिहार, झारखण्ड, छत्तीसगढ़ और उड़ीसा के अधिकांश हिस्सों में फैल चुके हैं। ये सारे आंकड़े मात्र उनकी कल्पना की उपज हैं और वे इन्हें बढ़ा-चढ़ा कर पेश करते हैं ताकि अधिक से अधिक सैन्य बल भेजा जा सके और क्रांतिकारी आन्दोलन का दमन करने के लिए अधिक से अधिक केन्द्रीय फंड का आवंटन हो।

यह कहना अतिशयोक्ति होगी कि माओवादी उतने सारे जिलों को नियंत्रित करते हैं लेकिन जहां तक हमारे प्रभाव का प्रश्न है तो वह दिए गए आंकड़ों से कहीं अधिक है।

जनशक्ति से आपका क्या तात्पर्य है, जैसा कि हमने पश्चिम बंगाल में देखा है – कम्युनिस्ट क्या करते हैं जब वे सत्ता में आ जाते हैं? आप कैसे सुनिश्चित करेंगे कि आप जनसाधारण को ताकत दे पायेंगे?

गणपति : इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि अधिकांश लोगों की तरह आप भी नामों से उलझन में पड़ गए होंगे। बस इसलिए कि एक पार्टी अपने आप को कम्युनिस्ट पार्टी कहती है, वह पार्टी कम्युनिस्ट बन गई। ठीक उसी प्रकार भारतीय जनता पार्टी कहने से वह भारत के जनसाधारण की पार्टी या समाजवादी पार्टी करने से समाजवादी दर्शनवाली पार्टी नहीं बन जाती। वास्तविकता तो यह है कि सीपीआइ (एम) ने बहुत पहले ही साम्यवादी परियोजना तथा मार्क्सवादी दर्शन को त्याग दिया था, यद्यपि यह अपने आप को मार्क्सवादी पार्टी कहती है। यह 1967 में नक्सलबाड़ी के सशस्त्र कृषक

आंदोलन की शुरुआत के साथ सामाजिक फासीवादी पार्टी बन गयी, जब बाद के 1960 से लेकर 1970 के दशक के शुरुआती वर्षों के दौरान पश्चिम बंगाल के गृहमंत्री ज्योति बसु के आदेश पर हजारों क्रान्तिकारियों का संहार कर दिया गया था। 14 मार्च को नंदीग्राम में हुआ नरसंहार, सिंगुर में लोगों के संघर्ष का निर्मम दमन और बड़ी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को सेज बनाने की अनुमति देने की मुक्तकण्ठ से की गई घोषणा तथा राज्य को इन शार्कों के लिए आश्रय स्थल में तब्दील करने का प्रयास इस बात की ओर इशारा करता है कि किस प्रकार बुद्धदेव की मार्क्सवादी पार्टी टाटा, सलेम और दूसरी साम्राज्यवादी कम्पनियों के आदेश पर काम करती हैं नन्दीग्राम में पुलिस और सीपीआइ (एम) के कार्यकर्ताओं ने जिस प्रकार मिलकर पहले से ही रचे गए षड्यंत्र के तहत नरसंहार को अन्जाम दिया उससे भारत की नई पीढ़ी के सामने उनका सामाजिक फासीवादी चेहरा उजागर हो गया है। पश्चिम बंगाल में सिर्फ फासीवादी सत्ता ही रह गई है।

अब जनशक्ति के आपके प्रश्न की ओर आते हैं। हमलोग जनशक्ति तभी कहते हैं जब सत्ता वास्तव में लोगों के हाथों में हो। आप इसे दण्डकारण्य, बिहार और झारखण्ड के कुछ हिस्सों में देख सकते हैं। हमलोगों ने आंधप्रदेश के कुछ गांवों में इसे स्थापित किया था, लेकिन हमारे सशस्त्र बलों की कमजोरियों के कारण ये बर्बाद हो गए, क्योंकि केन्द्रीय और राज्य के विशेष बलों के प्रतिकार के सामने ये टिक नहीं पाये। जहां कहीं हमने प्रारम्भिक अवस्था में लोगों की सत्तावाली संस्थाओं को स्थापित किया है, वहां अपनी जिन्दगी का निर्वहन करने में उनकी भागीदारी को और सामूहिक ढंग से स्कूल, टंकियों, अस्पताल का निर्माण करने तथा अपनी उत्पादकता को बढ़ा कर गांवों को विकसित करने, सामन्ती न्यायलयों में गए बिना आपसी मतभेदों को सुलझाने, संक्षेप में अपनी मंजिल तय करने में जनसाधारण की ऊर्जा और नेतृत्व को देखा जा सकता है। जहां हमारी लोक सेना सरकार के सशस्त्र बलों को नेस्तनाबूत करने में सफल हुई है, वहां लोगों का जमींदारों, जंगल अधकारियों, बड़े ठेकेदारों और सिपाहियों द्वारा शोषण नहीं होता है। जनसाधारण के दावों के कारण बड़ी औद्योगिक और बहुराष्ट्रीय कम्पनियां दूर ही रहती हैं। इन हिस्सों में औरतों को भी देश के दूसरे हिस्सों में रह रही औरतों की तुलना में अधिक स्वतंत्रता प्राप्त है।

हमलोगों को लोक सेना को मजबूत करके शक्तिशाली बल का निर्माण करके, लोकयुद्ध को तीव्र करके दुश्मनों के बल को क्षीण करके और आधार

क्षेत्र की स्थापना करके जनसाधारण की शक्ति को स्थानीय स्तर से बढ़ा कर ऊंचे स्तरों पर ले जाना है। इन आधार क्षेत्रों में ही यह शक्ति और ठोस बनती है फिर भी देशभर में सत्ता पर अंतिम कब्जा होने तक लोगों को गांवों और दूसरे क्षेत्रों में अपनी शक्ति का इस्तेमाल करने में मुश्किलें होंती हैं। इन सीमाओं को ध्यान में रखते हुए आपको लोगों की शक्ति को देखना होगा।

लेकिन विश्वस्तर पर यह संघर्ष अब वैश्वीकरण समर्थक बनाम इस्लाम के उभार का रूप ले रहा है – इस संदर्भ में आप एक वर्गरहित समाज को कैसे देखते हैं?

गणपति : वैश्वीरकण लोगों पर, सदियों से लोगों के मन में संजोए गए नैतिक मूल्यों पर आक्रमण है। वैश्वीकरण बाजारू फंडामेंटलिज्म की विचारधारा है। बाजारू फंडामेंटलिस्ट देश में सदियों से संजोयी गयी हर चीज को बरबाद कर रहे हैं। वे वैश्विक आधपित्य की स्थापना के उद्देश्य से मात्र लालच और स्वार्थ को बढ़ावा देते हैं और इस 'उच्च' उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वे सोचते हैं कि विश्व की बरबादी भी कोलेटरल डैमेज है।

संसार भर में वैश्वीकरण के खिलाफ लोगों की एक लहर उमड़ पड़ी है। और इस्लामी उभार साम्राज्यवाद, वैश्वीकरण और युद्ध के खिलाफ विश्वस्तर के जन उभार का एक अभिन्न हिस्सा है।

एक वर्गरहित समाज-साम्यवाद-की स्थापना सचेत मानवीय कर्तव्य है और यह मानवीय चेतना के परिवर्तन से सम्भव है। और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विश्वस्तर पर साम्राज्यवाद को खत्म करना होगा और हर देश में इसकी प्रतिक्रिया को समाप्त करना होगा। इस्लामी उभार साम्राज्यवादी वैश्वीकरण के खिलाफ लोगों की, खास कर मुसलमानों की प्रतिक्रिया है। जब तक साम्राज्यवाद का अस्तित्व है और जब तक यह एशिया और अफ्रीका के देशों में इस्लाम के पतनोन्मुखी प्रतिक्रियावादी शासक वर्ग का समर्थन करेगा तब तक मुसलमानों के लिए अपनी रुढ़िवादिता से बाहर निकलना सम्भव नहीं होगा। सिर्फ विश्वस्तर पर साम्राज्यवाद की समाप्ति के बाद ही मुसलमान जनता अपनी अस्पष्ट विचारधाराओं और नैतिक मूल्यों से बाहर निकल सकती है और यह वर्गहीन समाज की स्थापना का मार्ग प्रशस्त करेगा।

इस्लामी उभार के विषय में आपकी क्या धारणा है?

गणपति : इस प्रश्न का उत्तर दिये गए स्पष्टीकरण में समायोजित है। संक्षेप

में कहा जाये तो हम इस्लामी उभार को समकालीन संसार में एक प्रगतिशील साम्राज्यवादी विरोधी बल के रूप में देखते हैं। इराक, अफगानिस्तान, फिलिस्तीन, कश्मीर, चेचन्या और दूसरे देशों में चल रहे संघर्ष को इस्लामी कट्टरपंथियों द्वारा हो रहा संघर्ष मानना गलत होगा। संघर्ष के इस प्रारूप को सभ्यताओं का टकराव भी नहीं माना जा सकता, जिसे बहुत पहले सैम्युअल हटिंगटन द्वारा सिद्धांत के रूप में पेश किया गया था और इसे अब फिर से पुनर्जीवित किया जा रहा है। संक्षेप में, ये सभी राष्ट्रीय मुक्ति के युद्ध हैं यद्यपि इन संघर्षों में इस्लामी कट्टरपंथियों की भूमिका को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। हमलोग वैचारिक तथा राजनैतिक दोनों ही दृष्टिकोणों से धार्मिक कट्टरपंथ का विरोध करते हैं क्योंकि यह वर्ग भेद और वर्ग संघर्ष को अस्पष्ट बना देता है और जनसाधारण को वर्ग उत्पीड़न का शिकार बना देता है। फिर भी, मेरे अनुसार इस्लामी कट्टरपंथ अमेरीका, इंग्लैंड, जापान और दूसरे साम्राज्यवादी देशों द्वारा प्रोत्साहित बाजारू फंडामेंटलिज्म के खिलाफ संघर्ष में जनसाधारण का मतैक्य है।

यह उभार निश्चित रूप से मुसलमान जनसाधारण के बीच साम्राज्यवाद विरोधी प्रजातांत्रिक चेतना को बढ़ाएगा और उन्हें दूसरी धर्मनिरपेक्ष, प्रगतिशील और क्रांतिकारी ताकतों के नजदीक ले आएगा। मैं इस्लामी उभार को इस्लाम के आंदोलन में कट्टरपंथी विचारधारा के आधपित्य के बावजूद मुसलमान लोगों के बीच प्रजातांत्रिक जागरूकता की शुरुआत के रूप में देखता हूं। हमारी पार्टी इस्लामी उभार का समर्थन करती है और सभी साम्राज्य विरोधी बलों से उनका जुड़ाव चाहती है।

हिज्बुल्ला के नसरुल्ला ने कहा है कि लेफ्ट को इस्लामवादियों के नजदीक आना चाहिए। भारतीय संदर्भ में आपकी क्या सोच है?

गणपति : मौलिक रूप से मैं हिज्बुल्ला के नसरुल्ला के कथन से सहमत हूं। यह समझना चाहिए कि नसरुल्ला इस्लामिक देशों में साम्राज्यवाद से राष्ट्रीय मुक्ति के संघर्ष की ओर इशारा करते हैं।

समय की मांग यह है कि साम्राज्यवाद, खासकर अमरीकी साम्राज्यवाद के खिलाफ सभी ताकतों को एक होना पड़ेगा क्योंकि यह हजारों वर्षों के इतिहास द्वारा प्राप्त मानव मूल्यों को बलपूर्वक बर्बाद कर रहा है और एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के हर राष्ट्र को प्रताड़ित कर रहा है। लेफ्ट भी प्रजातांत्रिक होने का दावा नहीं कर सकता यदि वह इस्लामिक आंदोलन में सम्मिलित उन

बलों से नहीं एकीकृत हो जो साम्राज्यवाद से मुक्ति के लिए संघर्ष कर रहे हैं। वे सभी आन्दोलन जो विभिन्न देशों में इसलामी ताकतों के नेतृत्व में चलाए जा रहे हैं, प्रकृति से प्रजातांत्रिक हैं। इन आंदोलनों के नेतृत्व के द्वारा इस्तेमाल की गई धार्मिक भाषा इनकी प्रजातांत्रिक और साम्राज्य विरोधी प्रकृति को परिवर्तित नहीं करती।

नेपाल के विषय में आपका क्या मानना है?

गणपति : हमारी पार्टी के अधिकारिक मोर्चे से सम्बंधति जानकारियां हमारी पत्रिका, पीपुल्स वार के पिछले अंक में कथनों, साक्षात्कारों और लेखों में दे दी गई है। पिछले साल हमारे पार्टी प्रवक्ता का साक्षात्कार भी छपा था। हमलोग नेपाल में हो रहे परिवर्तन को लेकर विभिन्न माओवादी दलों से विचार विमर्श कर रहे हैं।

नेपाल के लोगों ने राजतंत्र के खिलाफ संघर्ष में बहुत योग्यता दिखाई थी लेकिन यह संघर्ष अभी अधूरा ही रहा। वास्तविक संघर्ष ज्ञानेन्द्र और उस राजतंत्र के खिलाफ नहीं है जो नेपाल के जनसाधारण के शोषण और सामन्ती साम्राज्यवादी उत्पीड़न का प्रतीक है। सामन्ती बलों, साम्राज्यवादियों, भारतीय तथा स्थानीय व्यापारिक संस्थानों को उखाड़ कर फेंके बिना, मात्र ज्ञानेन्द्र के निष्कासन से नेपाली जनसाधारण की समस्याओं का समाधान नहीं होगा। यह लोकयुद्ध में जीत के उपरान्त ही संभव हो सकता है। कोई संसद भी इन प्रतिक्रियावादी शासकों का कुछ बिगाड़ नहीं सकती।

हमारा मानना है कि इक्किसवीं सदी के प्रजातंत्र के नाम पर कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ नेपाल (माओवादी) ने बहुदलीय प्रजातंत्र का जो कदम उठाया है उससे नेपाल में लोक युद्ध में भटकाव का गम्भीर खतरा पैदा हो गया है। यह कहते हुए कि क्रांति के बाद पूंजीवाद के वापसी को रोकने के लिए ऐसा कदम जरूरी है, वे राजनैतिक अधिग्रहण के पहले ही चुनाव में हिस्सा ले रहे हैं। यह क्रांति को दुष्प्रभावित करेगा। हमलोग इन प्रश्नों पर नेपाल के माओवादियों से विचार विमर्श कर रहे हैं। हमलोग उन्हें बता रहे हैं कि संसदीय प्रजातन्त्र के विषय में भ्रम न रखें। लगभग छह दशकों का संसार भर में और भारत के संसदीय प्रजातंत्र का इतिहास दिखता है कि यह कितना गलत है।

समझौते का सबसे खतरनाक हिस्सा हथियारों को जब्त करके और कैंटोनमेंट में योद्धाओं को रखकर पीएलए को निरस्त्रीकृत करना है। इससे कुछ अच्छा परिणाम प्राप्त नहीं होगा बल्कि जनसाधारण को निरस्त्रीकरण करके

उन्हें फिर से आततायिओं की दया पर छोड़ दिया जाएगा। न ही साम्राज्यवादी और न हीं बड़े पड़ोसी जैसे भारत और चीन नेपाल की समाजिक आर्थिक अर्थव्यवस्था में कोई आधारभूत परिवतर्न होने देंगे। यदि उनकी अभिलाषाओं को माओवादियों के द्वारा लोक युद्ध या संसद द्वारा क्षति पहुंचाई गई तो वे मूक दर्शक नहीं बने रहेंगे। अतः बहुदलीय प्रजातंत्र के नाम पर संसद में प्रवेश करके माओवादी सामन्ती और साम्राज्यवादी शोषण को खत्म करने के उद्देश्य को कभी प्राप्त नहीं कर पा सकते हैं। उन्हें या तो तंत्र में समायोजित होना होगा या शासक वर्ग के साथ सत्ता को बांटने की वर्तमान नीति को छोड़कर सत्ता हासिल करने के लिए सशस्त्र संघर्ष को जारी रखना होगा। बौद्ध मत के मध्यमार्ग जैसा कुछ नहीं है। वे बुर्जुआ द्वारा आविष्कार किए गए खेल के नियमों को नहीं तय कर सकते।

दोनों ही, राष्ट्रीय और अन्तराष्ट्रीय क्षेत्रों में काफी तेज रफ्तार से परिवर्तन हो रहे हैं। इस हलचल में आप अपनी पार्टी की क्या भूमिका मानते हैं?

गणपति : हमारी पार्टी को राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय स्थिति में बहुत बड़ी भूमिका निभानी है। हमारी कांग्रेस ने वर्तमान राजनैतिक स्थिति का विश्लेषण किया है और पार्टी और लोगों के लिए अपील जारी की है। इसने स्थिति का उपयोग करने के लिए और जारी लोकयुद्ध में जीत हासिल करने के लिए जरूरी रणनीति बनाई है। नई केन्द्रीय कमीटी ने इन रणनीतियों को समयबद्ध कार्यक्रम और योजना का रूप देकर इन्हें और कारगर बनाने की कोशिश की है। कांग्रेस के द्वारा हमारे देश में और संसार के लोगों के समक्ष उत्पन्न समस्याओं को लेकर कई संकल्प लिये गए। हमें आशा है कि हम इन मामलों में कारगर रूप से काम कर पाएंगे और जनांदोलन को व्यापक राजनैतिक-सैन्य जनांदोलन का रूप दे पायेंगे।

अगले दस से बीस वर्षों में संसार भर में राजनैतिक और समाजिक उथल-पुथल का दौर होगा और हमारा देश साम्राज्यवाद के खिलाफ और शासक वर्ग की जन विरोधी नीतियों के खिलाफ जनांदोलनों का साक्षी बनेगा जैसे सेज के निर्माण, शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबों के विस्थापन, डैकोनियन कानून, सरकारी दमन, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, मुद्रास्फीति, समाजिक कल्याण की ओर सरकार की बेरुखी इत्यादि के खिलाफ वृहत पैमाने पर जनांदोलन होंगे। देशभर में लोगों और सत्ता के बीच सैन्य युद्ध आम बात होगी और मुझे पक्का पता है

कि हमारी पार्टी इन आंदोलनों में सबसे आगे होगी। यह हमारे देश की पीड़ित जनता को नेतृत्व प्रदान करने की स्थिति में पहुंच जाएगी। हमारी पार्टी पर प्रतिबंध लगा कर, हमारे साथियों की हत्या करके, लोगों का निर्मम दमन करके, क्रांन्तिकारी आंदोलन से जुड़े लोगों को डरा धमका कर, और हर सम्भव दमनकारी हथकण्डों को अपनाकर भी विशाल पीड़ित आबादी का हमारी पार्टी द्वारा नेतृत्व को टाला नहीं जा सकता। प्रतिक्रियावादी पार्टियां, संसदीय तंत्र लोगों के नजरों में गिर चुके हैं और लोग अपनी वास्तविक मुक्ति के लिए हमारी पार्टी की ओर आशापूर्ण दृष्टिकोण रखते हैं।

और अंततः क्या आपको ऐसा लगता है कि भारतीय माओवादी संघर्ष के इतिहास में यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण समय है? यदि ऐसा है, तो क्यों?

गणपति : मुझे यह नहीं मालूम कि इस प्रश्न को रखते हुए आपके दिमाग में क्या कुछ चल रहा है। लेकिन कई कारणों से मैं कहूंगा – हां। जब पहली बार आप 37 वर्षों के बाद दो मुख्य माओवादी धाराओं के मिलन के बाद क्रान्ति के लिए एक एकल निर्देशन केन्द्र की उत्पत्ति को देखते हैं तो यह वास्तव में भारतीय माओवादी संघर्ष के इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण समय है। और इससे कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण है। एकता कांग्रेस आयोजित करना हाल के वर्षों में पार्टी के लिए एक चुनौती रही है। साम्राज्यवादियों की सलाह से, शासक वर्ग ने कांग्रेस को भंग करने के हर सम्भव प्रयास किये है। फिर भी केंद्रीय कमेटी और हमारी पार्टी की अन्य कमेटियों की सतर्क योजना के कारण हमारे पीएलजीए के बहादुर योद्धाओं द्वारा प्रदान सुरक्षा के कारण और सदा सजग क्रान्तिकारी जनसाधारण के सहयोग से हमलोग इस विशालकाय प्रजातांत्रिक काम को पूरा कर सके जो दो साल पहले शुरू हुआ था। यह गर्व की बात है कि पन्द्रह दिनों तक सफल रूप से कांग्रेस का संगठन करके हमलोग अपने दुश्मनों को कड़ी मात दे पाए।

यह दूसरे कारण से भी महत्वपूर्ण समय है। आजकल माओवादी आंदोलन के सामने दूरस्थ गांवों में मजबूत पीएलए का गठन और आधार क्षेत्र का निर्माण करना बहुत बड़ी चुनौती है। भारत में प्रतिक्रियावादी शासक वर्ग आधार क्षेत्र के निर्माण को रोकने में कोई कसर नहीं छोड़ रहा है, क्योंकि इससे सड़े हुए संसदीय तंत्र और आपराधकि, जातीय, फासीवादी संसदीय दलों के खिलाफ एक वास्तविक विकल्प मिल जायेगा। अतः हमलोग सिर्फ केन्द्रीय बलों और

राज्य के विशेष बलों की चैकियों की स्थापना को ही नहीं देखते हैं बल्कि स्थानीय आबादी को सशस्त्रीकृत करके तथा प्रशिक्षित करके क्रांतिकारी आन्दोलनों के सामने प्रस्तुत करके भी नरसंहार किये जा रहे हैं जो हमें क्रांतिपूर्व रूस के ब्लैक हंड्रेड और फासीवादी हिटलर के नाज़ी दलों की याद दिलाते है। यही स्थिति दण्डकारण्य में सलवा जुडूम के नाम पर और बिहार और झारखण्ड में सेंदरा के नाम पर विद्यमान है। वे लोग और अधिक रक्तपात के लिए भारतीय सेना को भेजने से नहीं हिचकेंगे और माओवादी आंदोलन केवल दुश्मन बलों के इन हमलों को करारा जवाब देकर ही आगे बढ़ सकता है। अतः इस प्रकार हम वर्तमान समय को भारत में माओवादी संघर्ष के इतिहास का निर्णायक समय मानते हैं।

और आखिरी कारण, जिस वजह से हम वर्तमान समय को निर्णायक मानते हैं, वह यह है कि हम माओवादियों के सामने करोड़ों की जनता को उस समय नेतृत्व देने की जरूरत है जब सम्पूर्ण देश एक नव उपनिवेश में तब्दील हो रहा है, जब देश को सेज के नाम पर साम्राज्यवादियों और बड़ी कम्पनियों के हाथों में बेचा जा रहा है, जब करोड़ो लोगों को तथाकथित विकास परियोजनाओं के कारण विस्थापित किया जा रहा है, जब मजदूर, किसान, कर्मचारी, छात्र, बुद्धिजीवी, दलित, औरतें, आदिवासी, राष्ट्रीयताएं, धार्मिक अल्पसंख्यक और दूसरे क्रांति की आग में धधक रहे हैं। *अनुवाद : जन विकल्प टीम*

(दो अंकों- जून और जुलाई, 2007 में धारावाहिक प्रकाशित)

अध्याय – 35

यह सीधे-सीधे युद्ध है और हर पक्ष अपने हथियार चुन रहा है

लेखिका व समाजकर्मी *अरुंधति रॉय* से *शोमा चौधरी* की बातचीत

शोमा चौधरी *: पूरे देश में बढ़ती हुई हिंसा का माहौल है। आप संकेतों को किस तरह ले रही हैं? इन्हें किस परिप्रेक्ष्य में लेना चाहिए?*

अरुंधति रॉय : आप उतने प्रतिभासंपन्न नहीं हो सकते कि आप संकेतों को पढ़ सकें। हमारे पास उग्र उपभोक्तावाद और आक्रामक लिप्सा पर पलता हुआ एक बढ़ता मध्यवर्ग है। पश्चिमी देशों के औद्योगीकरण के विपरीत, जिनके पास उनके उपनिवेश थे, जहां से वे संसाधन लूटते थे और इस प्रक्रिया की खुराक के लिए दास मजदूर पैदा करते थे, हमने खुद को ही, अपने निम्नतम हिस्सों को, अपना उपनिवेश बना लिया है। हमने अपने अंगों को ही खाना शुरू कर दिया है। लालच, जो पैदा हो रही है (और जो एक मूल्य की तरह राष्ट्रवाद के साथ घालमेल करते हुए बेची जा रही है) केवल अशक्त लोगों से भूमि, जल और संसाधनों की लूट से ही शांत हो सकती है। हम जिसे देख रहे हैं वह स्वतंत्र भारत में लड़ा गया सबसे सफल अलगाववादी संघर्ष है – मध्यवर्ग और उच्चवर्ग का बाकी देश से अलगाव। यह एक स्पष्ट अलगाव है न कि छुपा हुआ। वे इस धरती पर मौजूद दुनिया के अभिजात के साथ मिल जाने के अधिकार के लिए लड़ रहे हैं। वे सेनापति और संसाधनों का प्रबंध कर चुके हैं, कोयला, खनिज, बक्साइट, पानी और बिजली। अब वे अधिक जमीन चाहते हैं, अधिक कारें, अधिक बम, अधिक माइंस – नयी महाशक्ति के नये महानागरिकों के लिए महाखिलौने – बनाने के लिए। इसलिए यह सीधे-सीधे युद्ध है और दोनों तरफ के लोग अपने हथियार चुन रहे हैं। सरकार और निगम संरचनागत समायोजन के लिए पहुंच गये हैं, विश्वबैंक, एडीबी, एफडीआइ, दोस्ताना अदालती आदेश, दोस्ताना नीति निर्माता, कार्पोरेट मीडिया और पुलिस

बल की दोस्ताना मदद इन सब को गरीब आदमियों के गले में बांध देंगे। जो इस प्रक्रिया का विरोध करना चाहते हैं, अब तक धरना, भूख हड़ताल, सत्याग्रह, अदालत और दोस्ताना मीडिया का सहारा लेते रहे हैं। मगर अब अधकि से अधकि लोग बंदूकों के साथ जा रहे हैं। क्या हिंसा बढ़ेगी? जी हां, यदि 'वृद्धि दर' और सेंसेक्स सरकार द्वारा प्रगति और लोगों की बेहतरी मापने के बैरोमीटर बने रहेंगे तब निस्संदेह, यह होगा। मैं संकेतों को कैसे पढ़ती हूं? आकाश पर लिखी चीज पढ़ना मुश्किल नहीं है। वहां जो वाक्य बड़े-बड़े अक्षरों में अंकित है, वह यह है कि मल जाकर पंखे से चिपक गया है। (गरीब लोग सिर चढ़ गये हैं - अनु.)

शोमा चौधरी : आपने एक बार टिप्पणी की थी कि आप खुद हालांकि हिंसा का आश्रय नहीं लेंगी, आप सोचती हैं कि देश की वर्तमान परिस्थितियों में इसकी निंदा करना अनैतिक हो गया है। क्या आप अपने इस नजरिये को विस्तृत कर सकती हैं?

अरुंधति रॉय : एक गुरिल्ले के रूप में मैं बोझ भर रह जाऊंगी। मुझे संदेह है कि मैंने शब्द 'अनैतिक' का प्रयोग किया होगा – नैतिकता एक भ्रामक विचार है, मौसम की तरह बदलनेवाला। जो मैं महसूस करती हूं वह यह है कि अहिंसक आंदोलन दशकों से देश की प्रत्येक लोकतांत्रिक संस्था का दरवाजा खटखटा चुके हैं और ठुकराये जाकर अपमानित हो चुके हैं। भोपाल गैस कांड के पीड़ितों और नर्मदा बचाओ आंदोलन को देखिए। एनबीए के पास क्या नहीं है? बहुचर्चित नेतृत्व, मीडिया कवरेज, किसी भी दूसरे जनांदोलन से अधिक संसाधन। क्या गलती हुई? लोग अपनी रणनीति पर फिर से सोचने को बाध्य किये जा रहे हैं। जब सोनिया गांधी दाओस में वर्ल्ड इकोनॉमिक फोरम से सत्याग्रह को प्रोत्साहित करने की शुरूआत करती हैं, यह हमारे लिए बैठ कर सोचने का समय होता है। जैसे कि क्या आम सिविल नाफरमानी एक लोकतांत्रिक राष्ट्र राज्य की संरचना के अंतर्गत संभव है? क्या यह गलत सूचनाओं और कारपोरेट नियंत्रित मास मीडिया के युग में संभव है? क्या भूख हड़तालों की नाभिनाल सेलिब्रिटी पॉलिटिक्स से जुड़ी हुई है? क्या कोई परवाह करेगा यदि नागला माछी या भट्टी माइंस के लोग भूख हड़ताल पर चले जायें? इरोम शर्मिला पिछले छह वर्षों से भूख हड़ताल पर है। यह हमलोगों में से कइयों के लिए एक सबक होना चाहिए। मैंने हमेशा महसूस किया है कि यह एक मजाक ही है कि भूख हड़ताल को ऐसी जगह में एक हथियार के रूप में

इस्तेमाल किया जाये, जहां अधिकतर लोग किसी-न-किसी तरीके से भूखे रहते हों। हमलोग एक भिन्न समय और स्थान में हैं। हमारे सामने एक भिन्न, अधिक जटिल शत्रु है। हम एनजीओ युग में दाखिल हो चुके हैं – या क्या मुझे कहना चाहिए-पालतू शेरों के युग में – जिसमें जन कार्रवाई एक जोखिमभरा (अविश्वसनीय) काम हो गया है।

प्रदर्शन अब फंडेड होते हैं, धरना और सोशल फोरम प्रायोजित होते हैं, जो तेवर तो काफी उग्र दिखाते हैं मगर जो वे उपदेश देते हैं, उन पर कभी चलते नहीं। हमारे यहां 'वर्चुअल' प्रतिरोध की तमाम किस्में मौजूद हैं। सेज के खिलाफ मीटिंग सेज के सबसे बड़े प्रमोटर द्वारा प्रायोजित होती है। पर्यावरण एक्टिविज्म और सामुदायिक कार्रवाइयों को सम्मान और अनुदान उन कारपोरेशनों द्वारा दिये जाते हैं जो पूरे पारिस्थितिक तंत्र की तबाही के लिए जिम्मेवार हैं। उड़ीसा के जंगलों में बाक्साइट की खुदाई करनेवाली एक कंपनी, वेदांत, अब एक यूनिवर्सिटी खोलना चाहती है। टाटा के पास 2 दाता ट्रस्ट हैं, जो सीधे या छुपे तौर पर देश भर के एक्टिविस्टों और जनांदोलनों को धन देते हैं। क्या यही वजह नहीं है कि सिंगुर में नंदीग्राम के मुकाबले कम आकर्षण है? निस्संदेह टाटाओं और बिड़लाओं ने गांधी तक को धन दिया – शायद वह हमारा पहला एनजीओ था। मगर अब हमारे पास ऐसे एनजीओ हैं, जो खूब शोर मचाते हैं, खूब रिपोर्टें लिखते हैं, मगर जिनके साथ सरकार अधिक राहत महसूस करती है। कैसे हम इन सब को उचित ठहरा सकते हैं? असली राजनीतिक कार्रवाइयों को मटियामेट करनेवाले सर्वत्र किलबिला रहे हैं। 'वर्चुअल' प्रतिरोध अब बोझ बन गये हैं।

एक समय था जब जनांदोलन न्याय के लिए अदालतों की ओर देखते थे। अदालतों ने ऐसे फैसलों की झड़ी लगा दी, जो इतने अन्यायपूर्ण, इतने अपमानजनक हैं, गरीबों के लिए उनके द्वारा इस्तेमाल की जानेवाली भाषा इतनी अपमानजनक है कि सुन कर सांस रुक-सी जाती है। सुप्रीम कोर्ट के हालिया फैसले, जिसमें वसंत कुंज मॉल का कंस्ट्रशन पुनः शुरू करने की अनुमति दी गयी है और जिसमें जरूरी स्पष्टता नहीं है, में बार-बार कहा गया कि कार्पोरेशंस की अपराध में लिप्तता का सवाल ही नहीं उठता। कार्पोरेट ग्लोबलाइजेशन के दौर में, कार्पोरेट भूमि लूट, एनरॉन, मोनसेंटो, हेलीबर्टन और बेकटेल के दौर में ऐसा कहने का गहरा अर्थ है। यह इस देश में सर्वोच्च शक्तिशाली संस्थानों के वैचारिक मानस को उजागर करता है। न्यायपालिका, कार्पोरेट प्रेस के साथ अब उदारवादी परियोजना की धुरी की कील लगने लगी है।

इस तरह की परिस्थिति में जब लोग महसूस करते हैं कि वे हार रहे हैं, अंततः केवल अपमाानित होने के लिए इन बेहद लंबी लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं में थका दिये जा रहे हैं, तब उनसे क्या आशा की जा सकती है? निस्संदेह, क्या यह ऐसा नहीं है मानो रास्ते हां या ना में हों – हिंसा बनाम अहिंसा। कई राजनीतिक दल हैं जो सशस्त्र संघर्ष में यकीन रखते हैं, पर अपनी समग्र राजनीतिक रणनीति के एक हिस्से के रूप में। इन संघर्षों के राजनीतिक कार्यकर्ताओं के साथ क्रूर व्यवहार होता है, उनकी हत्या कर दी जाती है, वे पीटे जाते हैं, झूठे आरोपों में कैद कर लिये जाते हैं। लोग इस बात से पूरी तरह अवगत हैं कि हथियार उठाने मतलब है भारतीय राजसत्ता की हर तरह की हिंसा को न्योता देना। जिस पल हथियारबंद लड़ाई एक रणनीति बन जाती है, आपकी पूरी दुनिया सिकुड़ जाती है और रंग फीके पड़ कर काले और सफेद में बदल जाते हैं। लेकिन जब लोग ऐसा कदम उठाने का फैसला करते हैं, क्योंकि हरेक दूसरा रास्ता निराषा में बंद हो चुका हो, तो क्या हमें इसकी निंदा करनी चाहिए? क्या कोई यकीन करेगा कि नंदीग्राम के लोग धरना पर बैठ जाते और गीत गाते तो पश्चिम बंगाल सरकार पीछे हट जाती? हम ऐसे समय में रह रहे हैं जब निष्प्रभावी रहने का मतलब है – यथास्थिति का समर्थन करना (जो बेशक हममें से कइयों के अनुकूल है)। और प्रभावी होना एक भयावह कीमत पर होता है। मैं उनकी निंदा करना कठिन समझती हूं, जो ये कीमत चुकाने को तैयार हैं।

शोमा चौधरी : *आपने विभिन्न जगहों के दौरे किये हैं। आपने जिन समस्याओं को पाया उनके अनुभव हमें बता सकती हैं? क्या आप इन जगहों में लड़ी जानेवाली लड़ाइयों का खाका खींच सकती हैं?*

अरुंधति रॉय : बड़ा सवाल है – मैं क्या कह सकती हूं? कश्मीर में सैन्य कब्जा, गुजरात में नव फासीवाद, छत्तीसगढ़ में गृह युद्ध, बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा ओड़िसा का बलात्कार, नर्मदा घाटी में सैकड़ों गांवों को जलमग्न कर दिया जाना, भुखमरी के कगार पर जीते लोग, वन भूमि का विध्वंस, भोपाल गैस कांड, पीड़ितों का पश्चिम बंगाल सरकार द्वारा नंदीग्राम में यूनियन कार्बाइड, जो अब खुद को दाउ केमिकल्स कहती है, की फिर से चिरौरी करते देखने के लिए जीवित रहना। मैं हाल में आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, महाराष्ट्र नहीं गयी हूं, मगर हम जानते हैं कि सैकड़ों-हजारों किसानों ने खुद को मार डाला। इनमें से प्रत्येक जगह का अपना इतिहास रहा है, अर्थव्यवस्था रही है,

पारिस्थितिक तंत्र रहा है। किसी की भी सरलीकृत ढंग से व्याख्या नहीं की जा सकती। और कुछ जुड़े हुए तार हैं, बड़े अंतरराष्ट्रीय सांस्कृतिक और आर्थिक दबाब हैं, जो उन पर डाले जा रहे हैं। मैं हिंदुत्व परियोजना के बारे में कैसे बात नहीं कर सकती जो एक बार फिर फूट पड़ने की प्रतीक्षा में निरंतर अपना जहर फैला रही है? मैं कहूंगी कि हमारा सबसे बड़ा दोष यही है कि हम अब भी एक देश हैं, संस्कृति हैं, एक समाज हैं, जो लगातार अस्पृश्यता की धारणा को पोषित करता है और व्यवहार में लाता है। जब हमारे अर्थशात्री आंकड़ों की जुगाली करते हैं और वृद्धि दर के बारे में डींग हांकते हैं, दस लाख लोग – मैला ढोनेवाले – अपनी जीविका चलाते हैं रोज अपने सिर पर दूसरों का कई किलो मल ढोकर। और अगर वे अपने सर पर पाखाना न ढोयें तो वे भूखे मर जायेंगे।

शोमा चौधरी *: बंगाल में हालिया सरकारी और पुलिसिया हिंसा को कैसे देखा जाये?*

अरुंधति रॉय : कहीं भी पुलिस और सरकारी हिंसा में कोई फर्क नहीं होता, दोगलेपन और दोमुंहेपन का मुद्दा का भी इसमें शामिल है, जिन्हें सभी राजनीतिक दल, मुख्यधारा के वामपंथ सहित सभी, व्यवहार में लाते हैं। क्या एक कम्युनिस्ट गोली पूंजीवादी गोली से अलग होती है? अजीब घटनाएं घट रही हैं। सऊदी अरब में बर्फ पड़ी। उल्लू दिन के उजाले में बाहर आये। चीनी सरकार ने निजी संपत्ति को मंजूरी देनेवाला बिल स्वीकृत किया। मैं कुछ नहीं जानती यदि इन सबका लेना-देना जलवायु परिवर्तन से है। चीनी कम्युनिस्ट 21वीं सदी के सबसे बड़े पूंजीवादी बनने की ओर अग्रसर हैं। हमें क्यों अपने यहां के संसदीय वामपंथ से कुछ अलग होने की उम्मीद करनी चाहिए? नंदीग्राम और सिंगुर स्पष्ट संकेत हैं। यह आपको आश्चर्य में डाल देगा – क्या हरेक क्रांति का अंतिम पड़ाव पूंजीवाद को और आगे बढ़ा देना ही है? इसके बारे में सोचें – फ्रांसीसी क्रांति, रूसी क्रांति, चीनी क्रांति, वियतनाम युद्ध, रंगभेदविरोधी संघर्ष और मान लेते हैं कि भारत में गांधीवादी स्वतंत्रता संग्राम, किस अंतिम पड़ाव पर वे पहुंचे? क्या यह कल्पना का अंत है?

शोमा चौधरी *: बीजापुर में माओवादी हमला 55 पुलिसकर्मियों की मौत। क्या विद्रोही राजसत्ता के ही दूसरे पहलू हैं?*

अरुंधति रॉय : विद्रोही कैसे राज्य के दूसरे पहलू हो सकते हैं? क्या कोई

कह सकता है कि जो रंगभेद के विरुद्ध लड़े – फिर भी उनके तरीके क्रूर थे- राज्य के दूसरे पहलू थे? उनके बारे में क्या जो अल्जीरिया में फ्रांस से लड़े? या वे जो नाजियों से लड़े? या वे जो औपनिवेशिक शासन से लड़े? या वे जो इराक पर अमेरिकी कब्जे से लड़ रहे हैं? क्या ये राज्य के दूसरे पहलू हैं? यह सतही, नव खबरचालित 'मानवाधिकार' विमर्श है, यह निरर्थक निंदा खेल जिसे खेलने के लिए हम बाध्य किये जा रहे हैं, हमें राजनीतिज्ञ बनाता है और सही राजनीति को हमसे छीनता है। छत्तीसगढ़ में छत्तीसगढ़ सरकार द्वारा प्रायोजित और निर्मित गृहयुद्ध चल रहा है, जो खुलेआम बुश डॉक्ट्रिन का हिमायती है – अगर आप हमारे साथ नहीं हैं तो आप आतंकवादियों के साथ हैं। इस युद्ध की धुरी की कील औपचारिक सुरक्षा बलों के अतिरिक्त सलवा जुडूम है, उन आम लोगों की सरकार पोषित मिलिशिया, जो हथियार उठाने और विशेष पुलिस अधिकारी (एसपीओ) बनने को बाध्य कर दिये गये। भारतीय राजसत्ता इसे कश्मीर, मणिपुर, नागालैंड में आजमा चुकी है। दसियों हजार मारे जा चुके हैं, हजारों ने यातनाएं सही हैं, हजारों गायब कर दिये गये हैं। कोई भी बनाना रिपब्लिक इन तथ्यों पर गर्व करेगा। अब सरकार इन विफल रणनीतियों को देश के हृदयस्थल में उठा कर ले आयी है। हजारों आदिवासी अपनी खनिज संपन्न जमीन से पुलिस कैंपों में जबरन भेज दिये गये। सैकड़ों गांव जबरन उजाड़ दिये गये। यह भूमि लौह अयस्क से भरपूर है, जिस पर टाटा और एस्सार जैसे कार्पोरेशनों की आंख गड़ी हुई हैं। एमओयू पर हस्ताक्षर किये जा चुके हैं, पर कोई नहीं जानता कि उनमें क्या है। भूमि अधिग्रहण शुरू हो चुका है। जिन देशों में ऐसी घटनाएं घटी हैं, जैसे कि कोलंबिया, वे दुनिया के सबसे तबाह देशों में से हैं। जब हरेक की नजर सरकार पोषित मिलिशिया और गुरिल्ला दस्तों की निरंतर हिंसा पर लगी थी, बहुराष्ट्रीय कार्पोरेशन बड़ी खामोशी से खनिज संपदा चुरा कर भाग रहे थे। यह उस नाटक का एक छोटा-सा हिस्सा है जो छत्तीसगढ़ में हमारे लिए रचा गया है।

बेशक यह भयावह है कि 55 पुलिसकर्मी मार दिये गये। मगर वे उसी तरह सरकारी नीतियों के शिकार हुए जैसा दूसरा कोई होता है। सरकार और कार्पोरेशनों के लिए वे तोप का चारा भर हैं – जहां से वे आये थे वहां इसकी भरमार है। घड़ियाली आंसू बहाये जायेंगे, प्राइम टीवी एंकर हम पर रोब जमायेंगे और तब चारे की और अधिक सप्लाई का इंतजाम कर लिया जायेगा। माओवादी गुरिल्लों के लिए, पुलिस और एसपीओ, जिनको उन्होंने मारा, भारतीय राजसत्ता के सशस्त्र आदमी थे, दमन, यातना, हिरासती हत्याओं और

झूठे मुकदमों के मुख्य कर्ताधर्ता। कल्पना के किसी भी विस्तार में वे निर्दोष नागरिक, अगर ऐसी कोई चीज होती हो, नहीं थे। मुझे कोई संदेह नहीं कि माओवादी आतंक, और जबरदस्ती के भी, वाहक हो सकते हैं। मुझे कोई संदेह नहीं कि वे अवर्णनीय अत्याचारों के भी आरोपित हैं। मुझे कोई संदेह नहीं कि वे स्थानीय जनता के निर्विवाद समर्थन का दावा नहीं कर सकते, पर कौन कर सकता है? फिर भी कोई गुरिल्ला आर्मी बिना स्थानीय समर्थन के नहीं टिक सकती। यह असंभव है। आज माओवादियों के प्रति समर्थन बढ़ रहा है, न कि घट रहा है। वे कुछ कहते हैं, लोगों के पास रास्ता नहीं है, लेकिन वे उस तरफ हो जाते हैं, जिसे वे कम खराब समझते हैं।

लेकिन तीव्र अन्याय से जूझते प्रतिरोध आंदोलन की तुलना सरकार से करना, जो अन्याय थोपती है, बेतुका है। सरकार ने अहिंसक प्रतिरोध की हरेक कोशिश के सामने दरवाजा भिड़ा दिया है। जब लोग हथियार ले लेते हैं, हर तरह की हिंसा शुरू हो जाती है – क्रांतिकारी, लंपट और एकदम आपराधिक भी। सरकार इस डरावनी स्थिति के लिए खुद जिम्मेवार है।

शोमा चौधरी *: 'नक्सल', 'माओवादी, 'बाहरी', ये वे शब्द हैं जो इन दिनों व्यापकता से प्रयुक्त हो रहे हैं।*

अरुंधति रॉय : 'बाहरी' एक आम अभियोग था, जिसका उपयोग सरकारें दमन के शुरूआती दिनों में करती थीं, जो अपनी लोकप्रियता में यकीन रखती थीं और यह कल्पना नहीं कर सकती थीं कि उनके अपने लोग उनके खिलाफ उठ खड़े होंगे। इस समय बंगाल में सीपीएम की यही स्थिति है, हालांकि कुछ लोग कहेंगे कि बंगाल में दमन नया नहीं है, यह केवल चरम पर पहुंच गया है। किसी मामले में 'बाहरी' क्या होता है? सीमाएं कौन तय करेगा? क्या वे गांव की सीमाएं हैं? तहसील? प्रखंड? जिला? राज्य? क्या संकीर्ण क्षेत्रीय और जातिवादी राजनीति नया कम्युनिस्ट मंत्र है? नक्सलियों और माओवादियों के बारे में अच्छा.. भारत लगभग एक पुलिस स्टेट बन गया है, जिसमें हरेक, जो वर्तमान हालात से असहमत है, आतंकवादी होने का जोखिम उठाता है। इसलामी आतंकवादियों को इसलामी होना होगा – अतः यह हम सबको अपने में समेटने के लिए बेहतर नहीं है। वे एक बड़ा कैचमेंट एरिया चाहते हैं। इसलिए परिभाषाओं को ढीला, अपरिभाषित, छोड़ना प्रभावी रणनीति है, क्योंकि वह समय दूर नहीं जब हम सभी माओवादी या नक्सलवादी, आतंकवादी या आतंकवादियों के हमदर्द कहे जायें और लोगों द्वारा मार दिये जायें, जो ये

वास्तव में नहीं जानते या परवाह करते कि कौन माओवादी या नक्सलवादी है। गांवों में, निस्संदेह, यह सब शुरू हो चुका है, देश भर में हजारों लोग जेलों में बंद पड़े हैं, सरकार को उखाड़ फेंकने की कोशिश करनेवाले आतंकवादी होने के ढीले-ढाले आरोपों के तहत। असली माओवादी या नक्सलवादी कौन है? मेरा इस विषय पर बहुत अधिकार नहीं है, लेकिन यह एक बेहद प्राथमिक इतिहास है।

भारत की कम्यूनिस्ट पार्टी-भाकपा, 1925 में बनी थी। भाकपा (मार्क्सवादी), जिसे हम सीपीएम कहते हैं, 1964 में भाकपा से टूटी थी और एक नयी पार्टी बनी थी। दोनों निस्संदेह, संसदीय राजनीतिक दल थे। 1967 में सीपीएम कांग्रेस से अलग हुए एक समूह के साथ बंगाल में शासन में आयी। उस समय देहातों में भारी भुखमरी चल रही थी। स्थानीय सीपीएम नेताओं, कानू सान्याल और चारू मजूमदार ने नक्सलबाड़ी जिले में किसान विद्रोह का नेतृत्व किया, जहां से नक्सलवादी शब्द आया है। 1969 में सरकार गिर गयी और कांग्रेस सिद्धार्थ शंकर रे के नेतृत्व में सत्ता में आयी। नक्सली उभार निर्दयता से कुचल दिया गया। महाश्वेता देवी ने इस दौर पर सशक्त ढंग से लिखा है। 1969 में सीपीआइ (एमएल)-मार्क्सवादी लेनिनवादी सीपीएम से टूटी। कुछ समय बाद, 1971 के आसपास, सीपीआइ (एमएल) अनेक पार्टियों में विभक्त हो गयी; मुख्यतः बिहार में केंद्रित सीपीआइ-एमएल (लिबरेशन), आंध्रप्रदेश और बिहार के अधिकतर हिस्सों में कार्यरत सीपीआइ-एमएल (न्यू डेमोक्रेसी) और मुख्यतः बंगाल में सीपीआइ-एमएल (क्लास स्ट्रगल)। ये पार्टियां सामान्यतः नक्सलाइट कही गयीं। वे खुद को मार्क्सवादी लेनिनवादी के तौर पर देखती रहीं न कि माओवादी के रूप में। वे चुनाव, जन कार्रवाई-और जब उन्हें विवश किया गया या उन पर हमला किया गया-तो सशस्त्र संघर्ष में यकीन रखती हैं। तब मुख्यतः बिहार में सक्रिय एमसीसी-माओवादी कम्युनिस्ट सेंटर 1968 में बना था। हाल में 2004 में एमसीसी और पीपुल्स वार ने आपस में विलय कर सीपीआइ-माओवादी का गठन किया। वे एकदम सशस्त्र संघर्ष और राजसत्ता को उखाड़ फेंकने में यकीन रखते हैं। वे चुनाव में भाग नहीं लेते। यह वह पार्टी है जो बिहार, आंध्रप्रदेश, छत्तीसगढ़ और झारखंड में गुरिल्ला युद्ध चला रही है।

***शोमा चौधरी** : भारतीय राजसत्ता और मीडिया समान्यतः माओवादियों को एक 'आंतरिक सुरक्षा' के खतरे के रूप में देखते हैं। क्या यह उन्हें देखने का*

ठीक तरीका है?

अरुंधति रॉय : मैं इसको लेकर निश्चित हूं कि माओवादी खुद को इस तरीके से देखे जाने से खुश ही होंगे।

शोमा चौधरी *: माओवादी राजसत्ता को गिराना चाहते हैं। इन निरंकुश सिद्धांतों से, जिनसे वे प्रेरणा लेते हैं, वे क्या विकल्प बना पायेंगें? क्या उनका शासन उत्पीड़क, निरंकुश, हिंसक नहीं होगा? क्या उनकी कार्रवाई पहले से ही आम जनता की उत्पीड़क नहीं है?*

अरुंधति रॉय : मैं सोचती हूं कि यह जानना हमारे लिए महत्वपूर्ण है कि माओ और स्टालिन दोनों हत्यारे अतीत के संदिग्ध नायक रहे हैं। करोड़ों लोग उनके शासनकाल में मारे गये। जो चीन और सोवियत संघ में हुआ उसके अलावा, पोलपोट ने चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के समर्थन से (जब पश्चिम जान-बूझ कर दूसरी ओर देख रहा था) 20 लाख लोगों को कंबोडिया से भगा दिया और लाखों लोगों को बीमारियों और भुखमरी से विलुप्त होने की कगार पर पहुंचा दिया। क्या हम यह दावा कर सकते हैं कि सांस्कृतिक क्रांति नहीं हुई होती। अथवा सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के लाखों लोग लेबर कैंपों, यातना कक्षों, जासूसों और मुखबिरों के जाल और खुफिया पुलिस के शिकार न हुए होते। इन शासनकालों का इतिहास उतना ही काला है, जितना कि पश्चिमी साम्राज्यवाद का इतिहास, अपवाद स्वरूप यह तथ्य है कि उनका जीवनकाल बेहद छोटा रहा है। हम इराक, फलस्तीन और कश्मीर पर कब्जे की निंदा नहीं कर सकते हैं, यदि हम तिब्बत और चेचेन्या के बारे में चुपी साधे रहें। मैं माओवादियों–नक्सलवादियों–के लिए कल्पना करूंगी, उसी तरह जैसे मुख्यधारा के वामपंथ के लिए, अपने अतीत के प्रति ईमानदार होने की, जो कि लोगों में भविष्य के प्रति विश्वास को मजबूत करने के लिए महत्वपूर्ण है। हम उम्मीद कर सकते हैं कि इतिहास दोहराया नहीं जायेगा, लेकिन यह दावा करना कि ऐसा कुछ हुआ ही नहीं, आत्मविश्वास बढ़ाने में मदद नहीं करेगा। इस पर भी नेपाल में माओवादियों ने राजशाही के खिलाफ एक बहादुराना और सफल लड़ाई लड़ी। अभी भारत में माओवादी और विभिन्न मार्क्सवादी-लेनिनवादी समूह तीव्र अन्याय के खिलाफ लड़ाई का नेतृत्व कर रहे हैं। वे केवल राजसत्ता से ही नहीं लड़ रहे हैं, बल्कि सामंती जमींदारों और उनकी सशस्त्र सेना से भी। वे अकेले लोग हैं जो कुछ सार्थक कर रहे हैं। और मैं इसकी प्रशंसक हूं। यह हो सकता है कि जब वे सत्ता में आयें, जैसा आप कह रही हैं, वे निर्दयी,

अन्यायी और निरंकुश हो जायें, या वर्तमान सरकार से भी बदतर हो जायें। हो सकता है, मगर मैं इसे इतना पहले से मान लेने को तैयार नहीं हूं। यदि वे वैसा हुए तो हम उनके खिलाफ लड़ेंगे। और यह ज्यादा संभव है कि मेरे जैसा ही कोई वह पहला आदमी होगा, जिसे वे नजदीक के पेड़ पर लटकायेंगे। लेकिन फिर भी, यह जानना महत्वपूर्ण है कि वे प्रतिरोध के अग्रिम मोरचे का आवेग झेल रहे हैं। हममें से अनेक ऐसी स्थिति में हैं जहां हम खुद को उनकी तरफ खिंचते हुए पाते हैं, जिनके धर्म में या विचारधारात्मक परिकल्पना में हमारे लिए कोई जगह नहीं है। यह सही है कि हरेक आदमी तेजी से बदलता है, जब वह सत्ता में आता है – मंडेला की एनएनसी को देखिए। भ्रष्ट, पूंजीवादी, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के सामने दंडवत, गरीबों को उनके घरों खदेड़नेवाले, लाखों कम्युनिस्टों के हत्यारे सुहार्तो को दक्षिण अफ्रीका के सबसे बड़े नागरिक सम्मान से सम्मानित करती है। किसने सोचा था कि ऐसा हो सकता है? लेकिन क्या इसका मतलब यह है कि दक्षिण अफ्रीकियों को रंगभेद के खिलाफ संघर्ष से पीछे हट जाना चाहिए था? या उन्हें इस पर पछताना चाहिए? क्या इसका मतलब यह है कि अल्जीरिया को फ्रांसीसी उपनिवेश बने रहना चाहिए था, कि कश्मीरियों, इराकियों और फलस्तीनियों को सैन्य कब्जा स्वीकार कर लेना चाहिए? उन लोगों को, जिनकी गरिमा अपमानित हुई हो, लड़ना चाहिए, क्योंकि वे लड़ाई में नेतृत्व के लिए संतों को नहीं पा सकते।

शोमा चौधरी : *क्या हमारे समाज में परस्पर संवाद भंग हुआ है?*

अरुंधति रॉय : हां।

(अनुवाद : रेयाज-उल-हक)

- अप्रैल, 2007

अध्याय - 36

पांच सौ वर्ष पुराना है कश्मीर की गुलामी का इतिहास

फिल्मकार *संजय काक* से *अनीश अंकुर* की बातचीत

कश्मीर पर फिल्म बनानी चाहिए यह ख्याल कैसे आया? 'जश्न-ए-आजादी' बनाने के पीछे कोई खास मकसद?

संजय काक : नर्मदा पर डाक्यूमेंट्री बनायी थी। वहां जाने का उद्देश्य साफ था, कुछ सवाल थे कि लोगों का राज्यसत्ता से क्या संबंध है? वे कैसे निगोशिएट करते हैं? सुप्रीम कोर्ट का निर्णय आनेवाला था। मूवमेंट में भी कई सवालों के बारे में उलझन थी। उस डाक्यूमेंट्री का नाम था 'पानी पर लिखा' (वड्‌र्स ऑन वाटर)। मैंने पंजाब की दलित रैली के दौरान एक दलित से पूछा 'क्यों वोट करते हैं?' तो उसने कहा एक ही हथियार है। नर्मदा के दौरान जनतंत्र का और पहलू सामने आया। यह लगा कि सिस्टम के जितने चेक्स एंड बैलेंसेस हैं, वे फेल हो चुके हैं। पूरी व्यवस्था बुनियादी तौर पर निष्क्रिय हो चुकी है। किस किस्म की ताकतों की चलती है, यह सब साफ होने लगा। नर्मदा वाली डाक्यूमेंट्री मैं सफल मानूंगा। अभी भी उसकी सीडी खरीदने को लेकर ई-मेल आते हैं। खासकर शिक्षा-संस्थानों एवं विश्वविद्यालयों की ओर से। इसी बीच 2001 में संसद पर हमला हुआ। एस.ए.गिलानी के डिफेंस लॉयर ने मुझसे संपर्क किया कि कश्मीरी में कुछ अनुवाद करना है। मेरी कश्मीरी ठीक-ठाक है। पर उन लोगों को कश्मीरी पंडित चाहिए था। क्योंकि उनकी समझ थी कि उसका अनुवाद कोई कश्मीरी पंडित ही करे। लगा कि कोर्ट में ये क्या हो रहा है? उन्होंने कहा कि सबसे पूछ चुकी हूं कोई तैयार नहीं है। मुझे लगा ये क्या स्थिति है? किस तरह की दरार कश्मीरी मुसलमान एवं हिन्दुस्तान के बीच बनी हुई है? कैसे व्यवस्था उस दरार को बढ़ाने में ही लगी हुई है? नंदिता हक्सर (डिफेंस लॉयर) ने एक ऑल इंडिया कमिटि बनायी तो उस

काम में लगा। फिर केस को बारीकी से फॉलो किया। मैं जितना कुछ जानता गया उतना ही हताश होता चला गया। कितने सांप्रदायिक तरीके से स्टेट की तरफ से डील हो रहा है। पहली दफा लगा कि हमारी भी कोई जिम्मेवारी है। पहले कश्मीर 1989 में गया था फिर 14 साल बाद 2003 में गया। बेटी 13-14 साल की थी उसे भी ले गया यह देखने कि हो क्या रहा है वहां? मुझे बेहद धक्का लगा कि कश्मीर को क्या हो गया। 2003 से 2007 के बीच सेना काफी रिड्यूस कर दी गयी है। 2003 में तो एयरपोर्ट से लेकर घर तक हर 20 मीटर पर बंकर, चेकपोस्ट देख लगता था कि आक्यूपाइड टेरिटरी (Occupied territory) में हैं।

नर्मदा वाली डाक्यूमेंट्री को ब्राजील फिल्म उत्सव में एक अवार्ड मिला तो मैंने सोचा कि वहां से जो पैसा मिला है उसे कश्मीर पर फिल्म बनाने के लिए लगाऊंगा। जब दूसरी बार कश्मीर गया तो अकेला था। 12-13 अगस्त का गया, तो सबने कहा कि अजीब समय पर आए हो। 14 अगस्त को पाकिस्तान इंडिपेंडेंस डे है। 15 अगस्त का इंडिया का। 13 अगस्त से ही हड़ताल सा माहौल रहता है। मेरा घर लाल चैक पर है। 15 अगस्त को जब घर से निकला तो आदमी तो क्या एक परिंदा तक न था। जिसे वहां लोग सिविल कर्फ्यू कहते हैं, जबकि आम दिनों में लाल चैक इलाका काफी व्यस्त रहता है। व्यवसायिक परिसर है पर 15 अगस्त को अजीब सन्नाटा था। कश्मीर पर यह मेरी जो फिल्म है, उसका मकसद ही है 15 अगस्त के उस सन्नाटे को समझने की कोशिश। शाम 3-4 बजे तक कोई न निकला उस दिन। मेरी फिल्म की शुरूआत 2004 के 15 अगस्त से होती है। फिल्म का टाइटिल भी उसी से जुड़ा है। 'जश्न-ए-आजादी' उसका अंग्रेजी अनुवाद है : How we celebrate our freedom. 2004 में हम 2 ही आदमी थे, मैं और मेरा कैमरा मैन। साउंड मैं ही करता था। 6 बार गया। 40-42 दिन की शूटिंग हुई। मैंने डाक्यूमेंट्री में न तो कश्मीर का इतिहास का बयान करने की कोशिश है और न ही किसी किस्म का विश्लेषण या स्पष्टीकरण की कोशिश है। यह सब तो कोई भी किताब उठाकर जान सकता है। जो बात नहीं मिलती है कि कश्मीरियों के अनुभव, उनकी भावनाएं क्या है? वे सोच क्या रहे हैं? यदि हम मास मीडिया पर भरोसा करें तो समझना न समझना बराबर है। अखाबार, टेलीविजन के जरिए कश्मीर को नहीं समझा जा सकता। मीडिया ने अपनी स्वतंत्रता वहां गवां दी है। सरकार की लाइन एवं मीडिया की लाइन लगभग एक है। मैं मीडिया की कोस नहीं रहा। दबाव रहता है। पर दबाव तो आप पर हमेशा रहता है।

हम सब एक राष्ट्रवाद के जाल में फंसे हैं हरेक यही सोचता है कि कश्मीर में मीडिया सरकार का बिना सवाल पूछे समर्थन करता है तो यह काम देश हित में हो रहा है। यह मेरे ख्याल में ठीक नहीं। मीडिया को अपनी भूमिका निभानी चाहिए। ऐसे में इंडिपेंडेंट डाक्यूमेंट्री फिल्ममेकर की जिम्मेवारी है कि जहां मेनस्ट्रीम मीडिया ईमानदारी से कवर नहीं कर पा रहा वहां उसका बहुत अह्म रोल है। मेरी फिल्म कश्मीरियों के लिए नहीं बनी है बल्कि पटना, मुबई और बंगलोर के लिए बनायी गयी है।

एक आम भारतीय के मन में कश्मीर को लेकर जो विचार आते हैं, अब तक जो समझ कश्मीर को लेकर बनी हुई है उसमें क्या दिक्कतें हैं? आपकी यह फिल्म हमारी पारंपरिक समझ से किस किस्म का रिश्ता बनाती है?

संजय काक : यदि आप 100 लोगों से पूछें कि कश्मीर-मसला क्या है? तो वे कहेंगे कश्मीर हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के बीच का मसला है। हिन्दुस्तान की जमीन है पाकिस्तान डिस्टर्ब कर रहा है। वह डिस्टर्ब करना छोड़ दे तो सब ठीक हो जाएगा। बड़ा साधारण सा मामला है जिसमें कश्मीरी या तो गायब है या फिर पिस रहा है, दो बड़े पावर के बीच। कश्मीरियों को स्वायत्तता नहीं दी जाती। वे किस नजरिऐ से देखते हैं? हिन्दुस्तान को लगता है कि आजादी वगैरह पाकिस्तान का मसला है। हमें यह तो समझना चाहिए कि आजादी की उनकी मांग क्या है?

कश्मीर को जानने वालों में दो तरह का नजरिया रहता है। एक तो हार्डलाइनर दूसरा लिबरल प्रोग्रेसिव नजरिया। जिसके अनुसार यह मानवाधिकार का मसला है, हिरासत में लेकर हत्या जैसे घटनाएं नहीं होनी चाहिए, आदि। जबकि मुख्य जरूरत है कि कश्मीर मामले पर लोगों को राजनीतिक स्तर पर शामिल करें कि भई आखिर वहां के लोग कह क्या रहे हैं?

यदि आप नर्मदा पर फिल्म बनायें तो लिबरल तबका कहेगा कि बहुत बढ़िया है, ये स्टेट क्या कर रहा है? कश्मीर पर फिल्म बनायें तो ये तबका भी काफी सोचकर आएगा कि आजादी की बात कहां से आई? कल बातचीत में किसी ने कहा कि कश्मीर के लोग राष्ट्र विरोधी हो गए हैं, आप ऐसे कैसे हो गए? दरअसल राष्ट्र का आपका जो कांसेप्ट है उसमें कश्मीर फिट नहीं बैठता। ये जरूरी नहीं कि कश्मीर के बारे में राय तुरंत बदल जाएगी पर लोग इतना तो सोचना शुरू कर दें कि निर्णय लेने का उनका हक बनता है कि वे इंडिया के

साथ रहें या नहीं। अभी तो हम हिन्दुस्तान में इस समझ से भी काफी दूर हैं।

इस देश का प्रोग्रेसिव, लेफ्टिस्ट समाज वही समझ तो नहीं रखता जो सरकार रखती है? कश्मीर को लेकर यहां के राजनैतिक नेतृत्व में भी अलग-अलग राय रही है।

संजय काक : जो हमारा लिबरल, प्रोग्रेसिव, लेफ्टिस्ट समाज है वह वहां मूवमेंट का जो इस्लामिक स्वरूप है, उससे कतराता है। इस कारण जो लोग उस मूवमेंट के सिंपैथाइजर हो सकते थे वे एक दूरी रखते हैं। फिल्म में हमने इसे संबोधित (ऐड्रस) करने की कोशिश की है। मंगलेश डबराल ने इस फिल्म की समीक्षा में बिल्कुल सही पकड़ा है जब कोई दूसरा विकल्प नहीं रहता तो इस्लामिक रास्ते के सिवा कुछ बचता नहीं है।

जयप्रकाश नारायण इस देश में एकमात्र ऐसे नेता थे जो मानते थे कि राइट टू सेल्फ डिटरमिनेशन (Right to self determination) होना चाहिए। अस्सी व नब्बे के दशके में वाहिनी वाले लोग भी मानते थे कि हां अलग होने का हक बनता है। जयप्रकाश नारायण की स्टेटेड पोजीशन (Stated position) थी। आंध्रप्रदेश के सिविल लिबर्टीज, पीयूसीएल के लोगों ने एक रिपोर्ट बनायी थी कि कश्मीर में दरअसल सेना का कब्जा है। लेकिन नब्बे के दशक के मध्य तक आते-आते ऐसे सारे लोग गायब हो गए। जेकेएलएफ (जम्मू कश्मीर लिबरेशन फ्रंट) एक सेक्यूलर संगठन था। बाद में हिज्बुल मुजाहिदीन, जो प्रो-पाकिस्तानी संगठन था, ने चुन-चुन कर सेक्यूलर लोगों को मारा। जब हिज्बुल का प्रभाव बढ़ा तो उसके पाकिस्तान परस्त होने की वजह से ऐसे लोग ठंढ़े पड़ गए। कश्मीर के बाहर के जो लोग पहले समर्थन दे रहे थे वे भी डर गए कि एक प्रो-पाकिस्तानी ताकत को कैसे समर्थन दें?

कहीं आप यह तो नहीं कहना चाह रहे कि इंडियन स्टेट का भी हित ऐसी ताकतों को बढ़ावा देने का रहा है?

संजय काक : सौ फीसदी स्टेट का रोल रहा है। यह समझ कि वे सिर्फ पाकिस्तानी हैं, गलत है। इस आंदोलन से नब्बे के दशक की शुरूआत में वैसे सेक्यूलर, लिबरल जो कश्मीरी सेंटीमेंट से जुड़े थे, उनमें से कईयों को मार डाला गया। किसने मारा? इस पर आज तक विवाद है। जैसे एक प्रसिद्ध वकील की हत्या हुई। वह आतंकवादियों का केस लड़ते थे। एक ऐसा आदमी जो मिलीटेंट का केस लड़ता है उसे वही लोग क्यों मारेंगे? स्थानीय लोग कहते हैं

कि उस वकील को इंटेलीजेंस के लोगों ने मरवाया। राज्यपाल जगमोहन के बाद कश्मीरी पंडितों का पलायन हुआ फिर भारत सरकार ने यह कहना शुरू कर दिया कि देखो ये तो पाकिस्तान चाहते हैं।

दोनों देशों के लिए कश्मीर बेहद परेशानी का सबब रहा है क्या कश्मीर के समस्या का हल दोनों देश के बंटवारे के वक्त (1947) में नहीं खोजा जाना चाहिए? 1947-48 में क्या ऐसी वजह बनी कि 60 वर्षों पश्चात भी बजाए सुलझने के कश्मीर उलझता जा रहा है?

संजय काक : मेरा अपना मानना है कि कश्मीर की समस्या को 1947 से देखना सही नहीं है। वहां की 95 प्रतिशत मुस्लिम जनसंख्या के उपनिवेशीकरण, गुलामी का इतिहास 500 वर्ष से अधिक पुराना है। 1400 ई. के करीब तक कश्मीरी राजा था। अफगान, मुगल, सिख, डोगरा आए, हर 100 साल बाद एक नई साम्राज्यवादी सत्ता आई। डोगरा महाराज ने अंत में सिक्खों से कश्मीर को 60 लाख में खरीदा था। कश्मीर के लोगों में सांस्कृतिक स्तर पर, मनोवैज्ञानिक स्तर पर यह बात घर कर गई है कि हम उपनिवेश हैं। 1930 में शेख अबदुल्ला ने सामंतवाद विरोधी संघर्ष चलाना शुरु किया। जब डोगरा महाराज का राज चला गया तो लोगों को लगा कि अब हमारा राज आ गया। शेख अब्दुल्ला पाकिस्तान से बचने के लिए हिन्दुस्तान से जुड़े। वे वैचारिक रूप से नेहरू के नजदीक थे। वे सेक्यूलर हो चुके थे। वहां के लोग काफी आशान्वित थे। 1951-52 से गड़बड़ शुरू हो गई। आपको जानना होगा कि 1950 में जो भूमि सुधार कश्मीर में हुआ उससे लोगों की आकांक्षा काफी बढ़ गयी थी। बहुत ज्यादा। 500 वर्षों से जो गुलामी की दंश झेल रहे किसान, काश्तकार थे उन्हें लगा कि हमारा राज आ गया। उसके जवाब में आपने क्या किया? उनके सबसे बड़े नेता को जेल में ठूंस दिया, तो गुस्सा स्वभाविक रूप से बढ़ेगा, ये तमाम चीजें आपको कश्मीर की आंतरिक गतिशलता को समझने में मदद करेंगी। यह सिर्फ हिन्दुस्तान-पाकिस्तान का मामला नहीं है। जेकेएलएफ 1966 में मकबूल भट्ट ने शुरू किया था, जिसे बाद में फांसी लगायी गयी। राजनीतिक स्तर पर काफी कुछ चल रहा था। 1989-90 से सामरिक पहलू (militant asfeet) प्रधान होता गया। अफगान की जंग (1979-89) खत्म हुई। पाकिस्तान को भी लगा कि सोवियत रूस को हरा दिया तो कश्मीर क्या चीज है? तो आर्म्ड मिलीटेंसी शुरू हो गयी।

आपके कहने का मतलब है कश्मीर के लोगों में गुलामी से मुक्ति एवं आजादी की कई सौ वर्षों पुरानी ख़्वाहिश है। इसलिए कश्मीर के लोग मुख्यतः आजादी चाहते हैं भारत-पाकिस्तान दोनों से? मान लीजिए कश्मीर स्वतंत्र भी हो जाए विश्व स्तर या राजनैतिक शक्ति संतुलन अमेरिका के पक्ष में जिस कदर झुका है वैसे में कश्मीर के स्वतंत्र देश के बजाए दक्षिण एशिया में एक अमेरिका अड्डा बन जाने का खतरा नहीं होगा?

संजय काक : देखिए कश्मीर के लोग क्या चाहते हैं? हमें यह वहां लोगों से पूछना चाहिए कि वे क्या चाहते हैं? आजादी या और कुछ? लोग क्या चाहते हैं यह हम तभी जान पायेंगे जब उन्हें थोड़ी ढील दी जाएगी। यदि चुनाव करवाना है तो सैनिक कंपनी मौजूद नहीं रहनी चाहिए अन्यथा आप स्वतंत्र चुनाव नहीं करा सकते। कश्मीर में 20 साल से मेजर बैठा हुआ है तो कैसे 'इलेकशन' होगा। आप कश्मीर के किसी भी छोटे शहर कुपवाड़ा, पांडीपूर आदि जायेंगे तो बोर्ड पर लिखा मिलेगा टाउन कमांडर-फलां-फलां। ऐसे में फ्री एंड फेयर इलेक्शन कैसे हुआ? कश्मीर में एसडीओ, बीडीओ, सरपंच, डीएम जैसी कोई चीज नहीं है। सब कुछ फौज के हाथ में है। तो सबसे पहला काम कश्मीर में सेना की वापसी, (De-miliratisation) होना चाहिए, कम से कम राजनीतिक कार्यकलाप सामान्य हो जाए। मैं कहना चाहता हूं कि यदि आपके आस-पास सात लाख सैनिक रहेंगे तो आपका जीवन कैसा होगा? पूरी दुनिया के सबसे ज्यादा मिलिटिराइज्ड जोन (सैन्यीकृत इलाके) में लगातार रहने पर आप कैसा महसूस करेंगे? इराक को कब्जे में रखने के लिए जितनी अमेरिकी सेना है उससे ज्यादा भारतीय फौज कश्मीर पर कब्जे के लिए तैनात की गयी है। खुफिया ऐजेंसियों का जाल बिछा है, इन पर अरबों रुपये खर्च किए जा रहे है। क्या वहां वही हो रहा है जो हमें बताया जा रहा है या दिखता है उपर से।

आप हमारे पाठकों को अपनी व्यक्तिगत पृष्ठभूमि के बारे में भी बतायें। डाक्यूमेंट्री फिल्में बनाने की ओर कैसे रूख किया?

संजय काक : बीए अर्थशास्त्र से किया जबकि एमए समाजशास्त्र में-उस वक्त न्यूज पेपर जर्नलिज्म में जाने की ख्वाहिश थी। फिर किसी ने मुझे रिसर्च करने के लिए बुलाया। पहले जो एकेडमिक शिक्षा थी उसमें किसी चीज को गंभीरता से देखने का मौका न था। डाक्यूमेंट्री फिल्मों की तरफ जब बढ़ा तो

पता लगा कि इसमें किसी भी मुद्दे पर पहले गंभीरता से रिसर्च करते हैं फिर उसे फिल्मों में अभिव्यक्त करते हैं। डाक्यूमेंट्री में काम करते हुए मुझे लगा कि यह एक इवाल्वड किस्म का फॉर्म है, इसमें काफी पोटेंशियल है। पिछले चार-पांच वर्षों से लग रहा है कि अच्छी फिल्मों का दौर है। अस्सी के दशक में टी.वी. का निजीकरण शुरू हो रहा था। दूरदर्शन की मोनोपॉली खत्म हो रही थी। इन सबके बीच 2-3 साल काम किया। फिर चुनाव पर एक कार्यक्रम बनाया। प्रणव राय ने इसे अपने प्रोडक्शन में लिया। आज जैसी दुर्गत है इन सबकी, तब ऐसा न था।

1990 के लगभग से मैं मुख्यतः डाक्यूमेंट्री पर काम कर रहा हूं। कई तरह की फिल्में बनायी हैं। डाक्यूमेंट्री फिल्म मेकिंग का काफी बड़ा स्कोप है। 1997 में आजादी की स्वर्ण जयंती पर डाक्यूमेंट्री बनायी। पंजाब में आतंकवाद के बाद औपचारिक चुनाव (formal election) जो हुआ उसे शूट किया। फिर तमिलनाडु में एक दलित रैली को। इन दोनों को लेकर देखा कि क्या बनता है? इनसे काफी बेचैन करने वाला अनुभव हुआ। पिछले 10 वर्षों से जो भी किया, लगता है उस प्रथम डाक्यूमेंट्री के दौरान उठे सवालों के ही जवाब ढूंढ रहा हूं।

- अगस्त, 2007

अध्याय – 37

प्रायः मानवीय मुद्दों को नजरअंदाज कर दिया जाता है

अर्थशास्त्री *अमर्त्य सेन* से *क्रिस्टैबिली नोरोन्हा* की बातचीत

भारत को स्वतंत्र हुए 60 वर्ष हो आए हैं, लेकिन देश का आर्थिक विकास बहुत अधिक नहीं हो पाया है। आर्थिक मॉडल के लेखे क्या अब इस बात की जरूरत आ पड़ी है कि हमारे संविधान को एक नए नजरिए से देखा जाए ताकि समाज में आय की समानता हो सके?

अमर्त्य सेन : मुझे ऐसा लगता है कि भारतीय संविधान कई मायनों में एक अद्भुत संविधान है। भले ही इसमें कुछ जगह आंशिक सुधार की जरूरत है लेकिन मेरा मानना है कि इसकी आधारभूत संरचना एकदम दुरूस्त है। यह संविधान समानता के भाव पर एकाग्र है, विशेषकर नीति निर्देशक तत्वों वाले भाग में। यह संविधान कई स्तरों पर बराबरी का भाव बरतता है। यह आय के मोर्चे पर गैरबराबरी को अच्छा नहीं समझता है, साथ ही, शैक्षणिक अवसरों की असमानता, स्वास्थ्य सुविधओं की असमानता और जीवन में असमानता के अन्य बिंदुओं पर भी संवेदनशील रूख अपनाता है। मुझे लगता है कि बंटन-विभाजन विषयक मुद्दों (distributional issues) पर भी काफी कुछ मशविरा व निर्देश संविधान से ही प्राप्त हो जाते हैं।

केवल आय संबंधी असमानता ही नहीं वरन अन्य असमानताओं से भी हम प्रभावित होते हैं। आय की असमानता अक्सर अन्य क्षेत्रों में व्याप्त असमानता के चलते ही उत्पन्न होती है। उदाहरण के तौर पर, कभी-कभी शैक्षणिक अवसरों की असमानता ही आय संबंधी असमानता की मुख्य वजह होती है।

ऐसे अनेक मुद्दों, जो कि केन्द्रीय महत्व के हैं, लेकिन लगातार उपेक्षित रहे हैं और अब भी उपेक्षित हैं, का हमारे संविधान में खास ख्याल रखा गया है।

मैं संविधान पर पुनर्विचार किए जाने की बनिस्बत संविधान को अधिक प्रभावकारी बनाये जाने का पक्षधर हूं। आय की असमानता का संबंध काफी हद तक दूसरों की अपेक्षा कुछ लोगों को अवसर नहीं मिल पाने से है।

मैं तो कतिपतय नीति निदेशक तत्वों का उन्नयन करते हुए एवं लोकनीति को समानता विषयक संवैधानिक सरोकारों की ओर मोड़ते हुए संवैधानिक प्रावधानों का लागू करने के पक्ष में हूं और मुझे लगता है कि इस दिशा में बहुत कुछ किया जाना अभी शेष है। मैं कतई अनुभव नहीं करता कि संविधान को, अभी बदलने की कोई जरूरत है। संवैधानिक गारंटी के तौर पर हमें पंक्षनिरपेक्षता तथा अल्पसंख्यकों के अधिकारों का संरक्षण प्राप्त है जो कि बहुसंख्यक समुदाय की तरफ से असहिष्णुता के खतरे से बचने के लिए खासा महत्व रखता है। हमारा संविधान धार्मिक उल्पसंख्यकों, उनकी संस्कृति एवं सरोकारों की रक्षा का वचन लेता है।

मुझे लगता है कि यह संविधान भारत के लिए एक अच्छा खासा पृष्ठपट (backdrop) मुहैया करता रहा है क्योंकि यह समानता, स्वतंत्रता एवं अवसर प्रदान करने का हिमायती है। इन सभी क्षेत्रों में हमें भारतीय संविधान के निर्माताओं, खासकर डा. आंबेडकर के प्रति शुक्रगुजार होना चाहिए।

आपका अधिकांश शोधकार्य अर्थशास्त्र के मानवीय चेहरे के इर्द-गिर्द केंद्रित है। आपका झुकाव इस ओर कैसे हुआ?

अमर्त्य सेन : मुझे लगता है कि मेरे कामों में अर्थशास्त्र के मानवीय चेहरे का आना एक जरूरी चीज है लेकिन ऐसा भी नहीं है कि मेरा अधिकांश शोधकार्य इसी के आस पास घूमता है। वस्तुतः कुछ मायनों में हर अर्थशास्त्र मानवीय पक्ष से जुड़ा होता है और इस तरह मानव जीवन, मानव-क्षमता, मानव स्वतंत्रता एवं मानवाधिकार के परिप्रेक्ष्य में प्रत्यक्ष या परोक्ष मानवीय चेहरे से दो चार हुए बिना अर्थशास्त्र का अध्ययन किया जाना असंभव है। मेरा मानना है कि मेरे काम का एक हिस्सा जरूर उन क्षेत्रों पर केंद्रित है पर वह मेरे काम का सर्वांग नहीं है। वह मेरे काम का वह अंश नहीं है जिस पर काम करते हुए मैंने अपने जीवन का अधिकांश भाग बिताया है।

मेरा शोध-अध्ययन काफी कुछ सामाजिक वरण (Social choice) की धारणा पर केंद्रित है, जिसमें मैंने दैनिक जीवन में उत्पन्न होने वाली अनेक समस्याओं को समझने के लिए एक बड़े परिप्रेक्ष्य (framework) का उपयोग किया है। ऐसी समस्याओं में निर्धनता का मूल्यांकन, असमानता का

आकलन, सापेक्षिक वंचना की प्रकृति का स्पष्टीकरण, वितरण-सामंजित राष्ट्रीय आय के स्रोतों का विकास करना, रोजगारहीनता से उपजे कष्टकारक दंडों का बयान करना, लोकतंत्र की कार्यस्थिति एवं परिणामों का अन्वेषण करना, व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं मूलभूत अधिकारों के उल्लंघन के केसों की व्याख्या करना तथा लैंगिक भेदभाव एवं महिलाओं की सापेक्षिक हानियों-कठिनाईयों की खास निशानदेही करना शामिल है।

मुझे लगता है कि अर्थशास्त्र में मानवीय मुद्दों के कतिपय पक्षों को प्रायः नजरअंदाज कर दिया जाता है क्योंकि महज अधकिाधकि लाभ पाने की दृष्टि से मानवीय व्यवहार को एक रूढ़ ढ़ग से देखना अपेक्षाकृत आसान काम होता है। ऐसे सपाट विश्लेषणों में आपसे सामाजिक सबंधों के कुछ खास पक्ष अनदेखे रह जाते हैं। हमें सार्वजनिक नीति पर प्रभाव डालने वाले अन्य पक्षों मसलन, मानव व्यवहार एवं इसकी जटिलता, मानव स्वतंत्रता एवं मानवाधिकार को भी मद्देनजर रखना चाहिए।

भारत में जनमत द्वारा सत्ताच्युत की जाने वाली पहली केन्द्रीय सरकार इंदिरा गांधी नीत सरकार थी। ऐसा आपातकाल लागू करने की वजह से हुआ था। राजनैतिक एवं नागरिक स्वतंत्रता के मुद्दे लोगों की खास चिंता का विषय हुआ करते हैं। यह सत्ता परिवर्तन महज निर्धनता के मुद्दे को लेकर नहीं हुआ था बल्कि मानवीय एवं नागरिक अधिकारों तथा सर्वाधिक महत्वपूर्ण यह कि मानवाधिकार के उल्लंघन से उपजे जनअसंतोष का नतीजा था यह।

मानव स्वतंत्रता की महत्ता पर बात करते हुए हमें यह भी जरूर पूछना चाहिए कि क्या आर्थिक कल्याण हेतु निर्धारित हमारा मापदंड सम्यक है? कदापि नहीं। वस्तुतः मानव कल्याण महत्वपूर्ण है लेकिन सामान्यतया स्वतंत्रता एवं विशेषतया अपना भला करने तथा अन्य प्रयोजनों के निमित्त भी स्वतंत्रता इतना ही महत्व रखती है।

ऐसा भान होता है कि हाल के वर्षों में आपकी चिंता का एक विषय जन सामान्य का अधिकार रहा है ताकि लोगों के जीवनस्तर में सुधार आ सके। इस आलोक में, मानव व्यवहार के नैतिक पक्षों को आप किस तरह से लेंगे? क्या वह मैकियाविलियन समाज की ओर नहीं ले जाएगा?

अमर्त्य सेन : मेरे जानते, मानवीय स्वतंत्रता का विस्तार तथा मानव जीवन की गुणवत्ता का प्रभाव ऐसा नहीं होता कि मनुष्य स्वार्थी बन जाए। बल्कि

वस्तुतः इसका उलट प्रभाव हो सकता है। हमें महज अपने जीवन-स्तर को सुधारने के लिए ही स्वतंत्रता नहीं चाहिए अपितु उन चीजों के लिए भी चाहिए जिनको हम जीवन-मूल्य मानते हैं। बहुत सी ऐसी बातें जिन्हें हम अपना जीवन-मूल्य मानते हैं, दूसरे लोगों से भी जुड़ी होती हैं और इस तरह, यह सोचने का कोई तुक नहीं कि यदि हम अपनी स्वतंत्रता या अपने जीवन की गुणवत्ता में सुधार लाते हैं तो उसका औरों पर कोई विपरीत या कि अन्यथा प्रभाव भी पड़ेगा और हम दूसरों के बारे में कम सोचने लगेंगे।

वास्तव में, मानव जीवन की गुणवत्ता में सुधार तथा मानवीय स्वतंत्रता के विस्तार का समाज में सवर्था विपरीत व सकारात्मक असर होगा। निर्धनता, निरक्षरता के कारण एवं स्वास्थ जागरूकता के अभाव में लोग अपने घर-परिवार में रुग्नता, दुख-दर्द एवं अन्य परेशानियों से लगातार दो चार होते रहते हैं। अतएव, जीवन को अधिक सुरक्षित, अधिक स्थिर एवं कम खतरनाक बनाने वाली कोई भी युक्ति हमें एक दूसरे की मदद में खड़ा करने की हमारी शक्ति में इजाफा करती है। और बेशक, उसी दिशा में चलने का हमारा उद्देश्य भी होना चाहिए।

मैकियाविली एक महान राजनैतिक विचारक थे। वह गरीबों वंचितों के प्रति काफी सहानुभूति रखते थे। जिस समाज में शक्ति का भारी संकेंद्रण था, उसमें शक्तिहीनों की क्षमता को सुधारने एवं बढ़ाने की उन्हें चिंता थी ताकि उन वंचितों को समाज में शक्तिशाली बनाया जा सके। अगर, 'मैकियाविलियन' शब्द से आप स्वार्थी होने का अर्थ लेते हैं तो मुझे नहीं लगता कि लोगों का जीवन-स्तर सुधारने से यह मतलब निकाला जाना चाहिए कि ऐसा होने से लोग अधिक स्वकेंद्रित व औरों के प्रति कम संवेदनशील हो जाएंगे। इस तर्क के पक्ष में कोई अनुभवजन्य साक्ष्य नहीं मिलता।

स्वास्थ्य एवं शिक्षा उत्पादकता के परस्पर संबंध पर आपके क्या विचार हैं?

अमर्त्य सेन : मुझे ऐसा लगता है कि विचार के लिए ये काफी रूचिकर विषय हैं क्योंकि शैक्षिक अवसर एवं स्वास्थ सुविधाओं की सीमित उपलब्धता भारत के अल्पविकसित रहने की मुख्य वजह रही है। भारत की स्वतंत्रता के अवसर पर पंडित नेहरू ने अपने ख्यात भाषण 'नियति से भेंट' (Tryst with destiny) में एक बात का खाका खींचा था उस पर जोर दिया था, वह यह कि शिक्षा और स्वास्थ रक्षा के अवसर मुहैया कराये जाएंगे। लेकिन ऐसा नहीं

हो सका है। शिक्षा एवं स्वास्थ सुविधा के क्षेत्र में असमानताएं बढ़ी हैं। हालांकि सब कुछ नाकारात्मक ही नहीं रहा है, कुल मिलाकर शैक्षिक अवसरों में वृद्धि हुई है एवं स्वास्थ सुविधाओं में सामान्यतया सुधार हुआ है लेकिन ऊपरी स्तर पर ज्यों-ज्यों अवसरों का विस्तार होता गया है त्यों-त्यों असमानता की दरार भी चौड़ी होती गई है।

आपके पास उच्चतर शिक्षा प्रदान करने वाली आईआईटी एवं अन्य अनेक तकनीकी संस्थान हैं, जिनका प्रदर्शन काफी उम्दा रहा है। भारतीय साफ्टवेयर उद्योग एवं सूचना तकनीक भारत और विदेश में काफी सफल रहे हैं। उसमें शिक्षा की बढ़ती महत्ता का पता चलता है। लेकिन यदि आप केवल उच्चतर स्तर पर ही शिक्षा का ध्यान रखेंगे और आधार स्तर या उसकी अनदेखी करेंगे तो आप उन अवसरों से वंचित हो जाएंगे जिसकी बदौलत कम सुविधा प्राप्त लोगों को अपने जीवन स्तर में सुधार लाना है और अधिक संपूर्णता में सामाजिक जीवन में सहभागिता करनी है अथवा अपनी उत्पादकता के स्तर में इजाफा लाकर अपने आय के स्तर को समृद्ध करना है।

मुझे लगता है कि आजकल स्कूली शिक्षा में विस्तार लाना, हमारे लिए केंद्रीय प्रश्न होना चाहिए। भारतीय स्कूल संख्या और गुणवत्ता, दोनों के लिहाज से बहुत कम हैं, कमजोर हैं, हालांकि ये बातें अलग-अलग प्रदेशों के स्तर पर भिन्नता रखती हैं। उदाहरणस्वरुप, अन्य भारतीय राज्यों की अपेक्षा केरल में शिक्षा की अधिक और बेहतर पहुंच है। उत्तर प्रदेश, बिहार तथा राजस्थान में काफी सीमित शैक्षणिक अवसर उपलब्ध हैं, महिलाओं के लिए तो ऐसे अवसरों की और कमी है। फिर, बेहतर तरीके से संचालित स्कूलों के होने न होने से भी अंतर पैदा होता है। स्कूलों से शिक्षकों के गैरहाजिर रहने के केस में बच्चों की शिक्षा की काफी अनदेखी हो जाती है। स्कूलों का अच्छा प्रबंधन का होना नितांत आवश्यक है। मेरा मानना है कि इसके लिए लोक नीति में बदलाव की जरूरत पड़ेगी, शिक्षा पर और अधिक व्यापक और विस्तृत लोक नीति अपनानी होगी।

मैं कहता रहा हूं कि अनेक वर्षों तक हमारी अर्थव्यवस्था बिना किसी उल्लेखनीय सफलता के चलती रही है। लकिन इसमें नाटकीय बदलाव आ सकता है, बशर्ते कि हम जापान, दक्षिण कोरिया एवं चीन जैसी सफल अर्थव्यवस्थाओं से कुछ सीखने को तैयार हों। जनसामान्य की आर्थिक स्थिति को बेहतर बनाने में शिक्षा की काफी सशक्त व अहम भूमिका हो सकती है।

भारत में अल्प उत्पादकता का मुख्य कारण कमजोर स्वास्थ सुविधा,

अल्पपोषण एवं निम्न पोषाहार है। जनस्वास्थ में सुधार तथा निरक्षरता एवं निर्धनता निवारण के लिए बहुत कम प्रयास किए गए हैं।

उदारीकृत अर्थव्यवस्था के लाभों को सामाजिक रूप से वंचित तबकों तक पहुंचाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। देश के कुछ हिस्सों में भूमि सुधार, प्राथमिक शिक्षा एवं स्वास्थ संबंधी मुद्दों को कुशलतापूर्वक निपटाया गया है। उदाहरण के लिए पश्चिम बंगाल में भूमि सुधार, केरल एवं हिमाचल प्रदेश में शिक्षा और केरल में लोक स्वास्थ के क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य हुए हैं। लेकिन समय की मांग यह है कि भारत भर में एक साथ हर जगह ऐसे विकासजन्य कार्य संपन्न हों।

अतः अब मैं अपनी मूल धारणा पर लौटता हूं कि कमजोर समाज में भी उसके सबसे अधिक लाभवंचित सदस्यों को पर्याप्त वैभव संपन्नता प्राप्त हो सकती है। जो समाज अपने निर्धन में निर्धन सदस्य का भी ख्याल रखता है, वह शैक्षिक एवं उत्पादक कार्यों के जरिए उनकी जीवन रक्षा कर सकता है, उनकी आयु बढ़ा सकता है, एवं उनके अवसरों को समृद्ध कर सकता है।

शिक्षा एवं स्वास्थ्य के क्षेत्र में सरकार एवं निगम क्षेत्र (corporate sectr) की आप क्या भूमिका देखते हैं?

अमर्त्य सेन : स्पष्टतः यहां सार्वजनकि क्षेत्र (Public sector) की भूमिका काफी अहम है लेकिन निगम क्षेत्र (Corporate sector) भी महत्वपूर्ण हैं, इसके अलावा और वह व्यक्तितक (individual) योगदान भी महत्वपूर्ण है, जन स्वास्थ एवं शिक्षा क्षेत्र में अपना योगदान दे सकता है। निजी निगमों (private corporations) की मदद से इन दोनों क्षेत्रों को विस्तार दिया जा सकता है, खास कर शहरी क्षेत्रों में जन सहयोग से इस व्यवस्था से अधिक कार्यदक्ष नतीजे प्राप्त किए जा सकते हैं। मैंने पूर्व में चर्चा की थी कि किस प्रकार शिक्षकों की अनुपस्थिति के चलते स्कूली बच्चों की पढ़ाई प्रभावित होती है। सामान्तः स्कूलों का संचालन काफी फूहड़ व बुरे तरीके से किया जाता है। इस नकारात्मक पक्ष को स्कूलों पर अभिभावकीय पहरा बिठा कर काफी हद तक पाटा जा सकता है। और यह एक तरीके से सहकारी (Cooperative) कार्रवाई होगी। मैं तो यहां तक कहूंगा कि इसमें लोक क्षेत्र की एक बड़ी भूमिका जरूर है लेकिन समाज के शेष हिस्से का भी इतना ही गुरू उत्तरदायित्व है। यह जवाबदेही जहां एक तरफ व्यक्ति से शुरू होती है वहीं निगम क्षेत्र पर जाकर खत्म होती है।

न्यासों (ट्रस्ट) की धारणा पर आप क्या राय रखते हैं?

अमर्त्य सेन : मुझे लगता है कि मानव सहयोग के तौर पर न्यास काफी महत्वपूर्ण भूमिका में है। न्यास से हमें यह लाभ प्राप्त है कि यह एक तरह का लचीलापन लिए होता है जो कि राजनीति-प्रेरित लोकनीति में नहीं होता। इसमें लोकहितकारी हस्तक्षेप के अधिक अवसर उपलब्ध होते हैं। नोबेल पुरस्कार से प्राप्त अपने पैसे के निवेश से मैंने भी एक न्यास खड़ा किया है। इससे मुझे अपने कुछ दीर्घपोषित जुनूनी कार्यों को शीघ्र अंजाम देने का सुअवसर मिला। पुरस्कार की कुछ राशि की सहायता से भारत एवं बांग्लादेश में मैंने जिस 'प्रतीची' (Pratichi) नामक न्यास की स्थापना की है वह साक्षरता, मूलभूत स्वास्थ्य सुविधा एवं लैंगिक समानता के मुद्दों पर कार्य करता है। हां, यह जरूर है कि इन समस्याओं की व्यापकता एवं परिणाम को देखते हुए हमारा यह काम काफी तुच्छ दीखता है। लेकिन शांतिनिकेतन के समीप अवस्थित गांवों में 50 से भी अधिक वर्षों पूर्व जो सांध्य स्कूल चलाये जाते थे, उस तर्ज का पुराना उत्तेजक अनुभव पुनः प्राप्त कर पाना कितना सुखद है। *(अनुवाद : मुसाफिर बैठा)*

- *अगस्त, 2007*

अध्याय - 38

भारतीय इतिहास लेखन मार्क्सवादी नहीं, राष्ट्रवादी है

इतिहासकार *सुधीर चन्द्र* से *वसंत त्रिपाठी* की बातचीत

सुधीर चंद्र उन इतिहासकारों में हैं जिन्होंने भारतीय इतिहास के अध्ययन को एक नयी दिशा दी है। 'जन विकल्प' के सहयोगी वसंत त्रिपाठी ने उनसे यह साक्षात्कार 2003 में किया था। तब दिल्ली में भाजपा सरकार थी।

हम एक ऐसे समय में रह रहे हैं जिसमें इतिहास के अंत की घोषणा एवं इतिहास के पुनर्लेखन की मांग साथ-साथ है। बतौर इतिहासकार आप इस अंतर्विरोधी समय को किस रूप में लेते हैं?

सुधीर चंद्र : 'इतिहास के अंत' की बात मैं गंभीरतापूर्वक नहीं लेता हूं, हां इतिहास के पुनर्लेखन का मुद्दा, जाहिर है, आज की परिस्थिति में बहुत अहम हो गया है, लेकिन यह भी कोई नया मुद्दा नहीं है। हर पीढ़ी अपना इतिहास नए सिरे से देखना और रचना चाहती है। आज जो परेशानी हो रही है वह यह है कि जिस तरह की राजनीतिक परिस्थितियां हमारे यहां व्याप्त हैं, जिस तरह से हिन्दुत्व जोर पकड़ रहा है और जो सरकार दिल्ली में है, वह कोशिश कर रही है कि एक ऐसा इतिहास लिखा जाए जो उनके नज़रिये को पुष्ट करे उसे मैं ज्यादा सीरियस और विकट मानता हूं। 'अंत' की बात छोड़ दीजिए, उसमें कोई जान नहीं है।

मुझे भरत झुनझुनवाला, जो मुक्त आर्थिक नीति और वर्ण-व्यवस्था के समर्थक हैं, का एक लेख याद आ रहा है जिसमें उन्होंने कहा है कि भारत का पूरा इतिहास-लेखन केवल मार्क्सवादी इतिहास लेखन है,

इसलिए वह एकांगी है। क्या आप भी भारतीय इतिहास लेखन को केवल मार्क्सवादी इतिहास-लेखन मानते हैं या इतिहास की सही-समझ?

सुधीर चंद्र : मैं बहुत पढ़ा-लिखा आदमी नहीं हूं और 'कन्फेस' करूं कि मैंने भरत झुनझुनवाला का नाम पहली बार सुना है। लेकिन आपने जो वर्णन किया है वह खासा दिलचस्प है क्योंकि मुक्त आर्थिक नीति का हिमायती वर्ण-व्यवस्था का भी हिमायती हो यह तो भयंकर आंतरिक विरोध है। यह कौन-सी सोच है जो दुनिया की अर्थ-व्यवस्था के लिए तो फ्रीडम चाहती है लेकिन आपके अपने सामाजिक ढांचे की बात हो तो उसमें किसी तरह की मुक्ति नहीं स्वीकारती। मुझे यहीं थोड़ा शक हो रहा है इन महोदय पर।

भरत झुनझुनवाला अपने लेखों में धर्म और वर्ण को आज के संदर्भ में भी महत्वपूर्ण मानते हैं और फिर मुक्त आर्थिक नीति का भी समर्थन करते हैं।

सुधीर चंद्र : हां, लेकिन देखिए कि वर्ण-व्यवस्था क्या है? यही, कि जो जिस वर्ण में पैदा हुआ उसे उसी वर्ण में रहना है और जो मुक्त अर्थ-व्यवस्था है वह यह नहीं कहती है कि जो जिस वर्ग में पैदा हुआ है, उसी में रहेगा या जो जिस वर्ण में पैदा हुआ उसी में रहेगा।

मुक्त आर्थिक व्यवस्था को ही लें। इसमें यह कितनी संभावना बनती है कि एक मजदूर या एक किसान, एक बड़ा उद्योगपति बन जाए?

सुधीर चंद्र : मैं यही बात तो कह रहा हूं। मुझे जो विडंबना लग रही है, वह यही है कि मजदूर तो बड़ा-व्यापारी हो सकता है, बड़ा 'इंडस्ट्रीयलिस्ट' हो सकता है, शूद्र ब्राह्मण नहीं हो सकता। इसमें विडंबना तो है और इसमें जो विरोध है मैं उस विरोध की बात कर रहा हूं कि आप मुक्त आर्थिक व्यवस्था के हिमायती हैं तो यह केवल आर्थिक ही क्यों हो, सामाजिक क्यों न हो, राजनीतिक क्यों न हो। खैर, ये तो उनका फैसला है और आप भी तय कर सकते हैं कि दोनों में कोई अंतर्विरोध है या नहीं। लेकिन आपका जो मुख्य सवाल है कि इतिहास-लेखन पर सिर्फ मार्क्सवादी हावी रहे हैं, तो मेरी परेशानी दूसरी है। और वह यह है कि पिछले 60-70 सालों से, अगर ज्यादा नहीं तो, (भारतीय इतिहास-लेखन) पर जो चीज हावी रही है, वह राष्ट्रवाद है। तो हमारा जो इतिहास-लेखन है, वह राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन रहा है। और एक

अर्से से, जिन्हे हम मार्क्सवादी इतिहास लेखन मानते हैं, मसलन, मैं एक ही नाम लूंगा-विपिन चंद्र। चूंकि उनका काफी बड़ा नाम है, उनको मार्क्सवादी इतिहासकार माना जाता है। मैं अक्सर अपने से सवाल पूछता हूं और औरों से भी कि मार्क्सवादी इतिहासकार कौन होता है? वो जो घोषणा करे कि मेरी विचारधारा मार्क्सवादी है, कि मैं पार्टी का कार्ड-होल्डर हूं, और उनका इतिहास-लेखन सिर्फ इसलिए मार्क्सवादी इतिहास लेखन होगा कि वो कोई कार्ड-होल्डर है या उसने घोषणा की है कि वह मार्क्सवादी है या तब वह मार्क्सवादी इतिहासकार होगा जब वह मार्क्सवादी इतिहास-लेखन के सिद्धांतों को अपने इतिहास लेखन में लागू करेगा। यदि सिर्फ विपिन चंद्र की ही बात करें तो उनके 'राइज़ एण्ड ग्रोथ ऑफ इकोनोमिक नेशनलिज्म' में, जिसको लेकर उनका इतना नाम हुआ है और बाद का लेखन भी, उसमें वर्ग-संघर्ष है ही नहीं। हिन्दुस्तान में राष्ट्रवाद जिस तरह से पनपा और विकसित हुआ अगर आप उस राष्ट्रवाद में भारतीय समाज के निहित स्वार्थ की टकराहट नहीं देखते कि किस तरह से जमींदार या उद्योगपति या पढ़े-लिखे मध्यवर्गीय तबके के निहित स्वार्थों को पूरा किया राष्ट्रवाद ने, या जो दलित, गरीब या दमित लोग हैं, उनके हितों की अनदेखी की राष्ट्रवाद ने, अगर इस बड़े वर्ग-संघर्ष को राष्ट्रवाद के आदर्श या राष्ट्रवाद की विचारधारा के नाम पर भुला दिया जाए तो मार्क्सवादी इतिहास-लेखन तो नहीं होगा। तो मेरी परेशानी यह है, और मेरी बड़ी आलोचना है भारतीय इतिहास-लेखन को लेकर कि वह प्रायः राष्ट्रवादी रहा है। मैं तो चाहता हूं कि मार्क्सवादी होता फिर उससे टकराहट होती। लेकिन कहां है मार्क्सवादी।

लेकिन यदि सुमित सरकार के इतिहास लेखन को लें, खास कर 'आधुनिक भारत' को, तो उसमें उन्होंने वर्ग-संघर्ष के बहुत प्रारंभिक स्वरूप को दिखाया है, क्या आप उन्हें भी राष्ट्रवादी इतिहासकार ही कहेंगे?

सुधीर चंद्र : आपकी बात सही है, सुमित सरकार ने वर्ग-संघर्ष को एक हद तक अपने इतिहास लेखन में लिया है लेकिन सुमित सरकार पर भी राष्ट्रवाद का आदर्श हावी है और सुमित सरकार जिस तरह से इस समय 'सबाल्टर्न हिस्टीरियोग्राफी' की आलोचना कर रहे हैं, वह इसका सबसे बड़ा उदाहरण है। सबाल्टर्न हिस्टीरियोग्राफी ने एक बड़ा काम यह किया कि जिनको वे 'फ्रेंगमेंट्स' कहते हैं टुकड़े समाज के, आप टुकड़ों को महत्वपूर्ण मानें। ऐसा

नही है कि समष्टि के नाम पर जो कुछ होता है वह अच्छा और सही होता है। सबाल्र्टन हिस्टीरियोग्राफी के ऊपर एक बड़ा चार्ज यह लगता है कि ये राष्ट्रवाद को नहीं मानते, इसलिए इनके इतिहास को गंभीरता से लिया जाए तो एक दिन देश के टुकड़े हो जाएंगे। मैं खुद सबाल्टर्न हिस्टीरियोग्राफी का सदस्य नहीं हूं अपना स्वतंत्र लेखन और शोध करता हूं लेकिन मुझे यह बहुत जरूरी लगता है कि राष्ट्रवाद की विचारधारा को लेखक 'क्वोश्चन' करना सीखें क्योंकि इतिहासकार का फलक दस या बीस साल का नहीं बल्कि सदियों का होता है और अगर सदियों का हिसाब लगाएं तो राष्ट्र आने-जाने वाली माया है। आज राष्ट्र है, कल होगा या नहीं इसका कोई भरोसा नहीं है। यदि हम यह मान लें कि यही एक इकाई है जिसके संदर्भ में हमें अपने समाज और देश के इतिहास को समझना है तो मेरे हिसाब से यह सही नहीं है। मैं यह नहीं कह रहा हूं कि देश के टुकड़े हो जाएं तो मुझे बड़ी खुशी होगी। ये तो, जो ऐतिहासिक शक्तियां हैं तथा हमारा नेतृत्व कितना विवेकपूर्ण है इस पर निर्भर करेगा। लेकिन यह मानकर न चलें कि ये शाश्वत है। कोई राष्ट्र न शाश्वत था और न शाश्वत होगा।

मुझे बहुवचन में छपा आपका एक लेख याद आ रहा है जिसमें आपने अपना धर्म परिर्वतन करने वाले कुछ ईसाइयों पर काम किया है। आपने उसमें बताया है आजादी के आंदोलन के समय धर्म और राष्ट्रवाद दो अलग-अलग कोटियां थीं। लेकिन इधर चलकर धर्म और राष्ट्रवाद एक कोटि बन गए हैं। इसकी क्या वजह है?

सुधीर चंद्र : धर्म और राष्ट्रवाद की बात है तो देखिये ये कितनी बड़ी विडंबना है कि हिन्दुत्व का जो प्रणेता था वह नास्तिक था और इसी विडंबना को आप आगे बढ़ाएं तो पाकिस्तान को बनाने में जिस एक व्यक्ति का सबसे ज्यादा योगदान था उसका भी इस्लाम से कोई लेना-देना नहीं था तो क्या वास्तव में एक हो रहे हैं या कोई और ही खेल हो रहा है यहां धर्म और राष्ट्रवाद के नाम पर। अगर आप उनसे पूछें तो वह यह भी कह देंगें कि हम धर्म की बात नहीं कर रहे। तब वे हिन्दुस्तान को 'हिन्दुस्थान' कह कर एक नई व्याख्या कर देंगे। यानि सुविधानुसार कभी धर्म और राष्ट्र एक हो जाते हैं और कभी असुविधा होने पर अलग हो जाते हैं। लेकिन जिन नवधर्मी ईसाइयों की मैं बात कर रहा था, उसमें जो महत्वपूर्ण मुद्दा है वह न सिर्फ धर्म और राष्ट्र के अंतर्संबंध का है बल्कि धर्म और संस्कृति के संबंध का भी है। अपने देश में

धर्म और संस्कृति कुछ इस तरह से अंतर्गुंफित है कि इसको अलग नहीं किया जा सकता, पैदा होने से लेकर मौत तक सभी क्रियाकलापों में आप इसे देख सकते हैं चाहे इसे आप सांस्कृतिक कहें, सामाजिक कहें या धार्मिक। तो जहां धर्म और संस्कृति बिल्कुल मिश्रित हो गए हों वहां इन नवधर्मियों ने एक बड़ी बात कही कि हम हिन्दूधर्म छोड़ रहे हैं लेकिन अपनी संस्कृति नहीं। धर्म और संस्कृति का इतना सोच समझ कर विच्छेद करने वाले ये पहले लोग थे और दूसरा महत्वपूर्ण काम इनका यह है कि इन्होंने धर्म और राष्ट्रवाद को भी इसी तरह से स्पष्ट किया कि जरूरी नहीं कि एक ही धर्म को मानने वाले लोग राष्ट्रवादी हो सकते हैं या जिसे आप विदेशी धर्म कहते हैं उसको मानने वाले लोग राष्ट्रवादी नहीं हो सकते। उन्होंने कहा कि हम भारतीय हैं, हम हिन्दू नहीं हैं, हम ईसाई हैं और राष्ट्रवाद के मामले में किसी भी भारतीय से पीछे नहीं हैं तो धर्म, संस्कृति और राष्ट्र के बीच एक नया संबंध स्थापित होता है, जिसकी पहल इन्होंने की।

कुछ इतिहासकारों ने अंग्रेजों के आने से पहले के भारत को एक सुदृढ़ भारत के रूप में देखा है। हो सकता है कुछ हद तक यह सही हो लेकिन वे भारत के तमाम अंतर्विरोधों को नकार देते हैं या चुप्पी साध लेते हैं। तो क्या वास्तव में अंग्रेजों के पहले का भारत सुदृढ़ भारत था या यह भी उन इतिहासकारों की राष्ट्रवादी सोच है?

सुदृढ़ तो नहीं था। जब एक बार मुगल साम्राज्य का विघटन शुरू हो गया तो क्षेत्रीय शक्तियां उभर कर आईं और उन क्षेत्रीय शक्तियों में कोई संतुलन नहीं बैठ पाया। संभव है कि उनमें संतुलन बैठता। ये भी संभव है कि उनमें से कोई एक शक्ति सर्वशक्तिमान होकर पूरे देश पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लेती लेकिन इससे पहले ही विदेशी शक्तियों का आगमन हो गया और उन विदेशी शक्तियों में अंग्रेज सबसे शक्तिशाली साबित हुए और उन्होंने अपना राज कायम कर लिया। तो मैं सुदृढ़ होने की बात तो नहीं कहूंगा।

लेकिन उन इतिहासकारों के विश्लेषण में जाति को अक्सर नजरअंदाज कर दिया जाता है और कहा जाता है कि अंग्रेजों ने ही जाति लिखने की परंपरा डाली जिसके कारण जाति-संघर्ष बढ़े उनसे पहले यह विस्फोटक रूप में नहीं था..

नहीं-नहीं.. मैं यह जानता हूं कि काफी लोगों का मानना है कि अंग्रेजों ने

जिस तरह से क्लासिफिकेशन करना शुरू किया और खास तरह से जनगणना में जाति को महत्वपूर्ण स्थान देना शुरू किया.. यह भी कहा जाता है कि अंग्रेजों के आने के बाद ही लोगों ने जाति-सूचक नाम अपने नाम के साथ जोड़ना शुरू किया, उससे पहले नहीं जोड़े जाते थे.. इन सबके बावजूद मेरा मानना है कि जाति तो थी और खासी मज़बूत थी और इतनी मज़बूत थी कि तब आपको अपनी जाति का नाम लगाने की भी ज़रूरत महसूस नहीं होती थी। उसके बगैर भी लोग जान लेते थे कि कौन किस जाति का है। यह संभव है कि अंग्रेजों के आने के बाद यह प्रवृति थोड़ा जोर पकड़ी होगी।

यदि आधुनिक साहित्य को देखें तो वह वैदिक परंपरा के इतिहास और मिथक से जिस तत्परता से जुड़ जाता है उतना अवैदिक परंपरा के इतिहास और मिथक से नहीं। उसमें समस्याएं कौन-सी उठाई गई हैं यह थोड़ी देर के लिए छोड़ दें तो क्या इसके पीछे साहित्यकार के अवचेतन में वैदिक परंपरा की स्वीकारोक्ति तो नहीं है? क्योंकि आप जानते हैं कि दलित साहित्य की एक प्रमुख आपत्ति इसी को लेकर है।

इस विषय पर मैंने ज्यादा मनन नहीं किया है लेकिन मुद्दा बहुत महत्वपूर्ण है, खासकर तब जब आप इसे दलितों से जोड़ देते हैं और यह जायज है। मैं बस इतना इशारा करना चाहूंगा कि 19वीं सदी के जिन नवधर्मी ईसाइयों की बात मैं कर रहा था उन्होंने अपने अतीत (भारतीय अतीत) को जब नए सिरे से समझने की कोशिश की तो उसमें बौद्ध धर्म पर उनका बहुत बल था और साथ ही संत साहित्य पर भी बहुत बल था। मसलन बंगाल में, जहां यह सिलसिला शुरू हुआ, लाल बिहारी हैं, जो 1840 में ईसाई बने, ने एक बहुत ही महत्वपूर्ण और सशक्त पत्रिका निकालनी शुरू कि 'बंगाल मैगजीन' और उन्होंने नए तरह से भारतीय इतिहास लेखन का प्रयास शुरू किया, स्वयं भी और दूसरों के मार्फत भी। उन्होंने प्राचीन भारतीय साहित्य, इतिहास और दर्शन पर लोगों से अपनी पत्रिका के लिए लिखवाया। प्राचीन भारतीय धर्मों में दो बड़ी धाराएं इनके उस पुनर्लेखन में आई-एक बौद्ध धर्म और दूसरा चैतन्य। चैतन्य के बाबत तो इनके इतिहास में यह था कि चैतन्य ने हिन्दू धर्म के खिलाफ बगाव़त की थी, लेकिन चैतन्य के जो अनुयायी थे वे अंततोगत्वा 'को-ऑप्ट' हो गए और वे चैतन्य को भूल गए। मैं इस बात पर इसलिए बल दे रहा हूं उन्होंने बौद्ध और जैन से जो मुक्तिवाले तत्व मिल सकते थे उन्हें तो लिया ही, यदि हिन्दू धर्म में भी कुछ गुंजाइश दिखती थी तो उसे भी लेते थे। ये लगभग

19वीं सदी के अंतिम दशक तक दिखाई पड़ता है। उसके बाद हिन्दू धर्म और संस्कृति का ऐसा बोल-बाला हो जाता है कि यह धारा सूख जाती है। यह केवल नवधर्मी ईसाइयों तक ही सीमित नहीं रहा। उन्नीसवीं सदी के कुछ प्रखर, धार्मिक और सामाजिक सुधार से जुड़े सुधारकों ने भी संत परंपरा के कुछ रेडिकल रूप को उजागर करने की कोशिश की।

संत साहित्य की बात हो रही है तो एक बात और, जब साहित्यकार या आलोचक मिथकों को लेता है तो उसके सकारात्मक पक्षों की बात करता है, उसके अंतर्विरोधों की बात नहीं करता और यदि पाठक उसके अंतर्विरोधों को जान रहा हो तो उस पर इसका विपरीत प्रभाव पड़ता है। जैसे भक्तिकाल के रामानुजाचार्य को लें जिनको भक्तिकाल का प्रवर्तक माना जाता है। कहा जाता है कि रामानुज ने दक्षिण में जैनों के दमन में अग्रणी भूमिका निभाई। अब यदि पाठक रामानुज के इस रूप को जान रहा है तो वह भक्तिकाल या संत साहित्य से कैसे जुड़ सकेगा? यदि दलित को मालूम है कि उसके खिलाफ लड़ने वाले व्यक्ति को प्रोजेक्ट किया जा रहा है तो वह साहित्य की उस धारा से कैसे जुड़ सकेगा?

देखिए जिसे मालूम है वह तो बड़ी आसानी से अलग हो जाएगा। लेकिन इसमें सिर्फ मालूमात का ही महत्व नहीं होता। आपने मिथकों की बात की, वह महत्वपूर्ण है। अक्सर इसमें लड़ाई किसी दूसरे स्तर की होती है। वहां यह नहीं है कि आप तथ्य का मुकाबला तथ्य से कर सकते हैं। फिर वह मिथक की बात नहीं होती। फिर आपकी मान्यता ज्यादा प्रभावशाली हो जाती है। अगर ये बात चल गई और एक ने भी चला दी और चूंकि यही सही कि उसको मान लिया जाए तो वह चला जाएगा और उसे चलना चाहिए।

इधर उपन्यासों में सीधे इतिहास को कथ्य बनाने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ रही है जैसे-'पहला गिरमिटिया', 'कितने पाकिस्तान' या और भी। यदि साहित्य में सीधे इतिहास को कथ्य बनाया जाए तो साहित्यकार को किन बातों का ध्यान रखना चाहिए?

देखिए, मेरा मानना तो यह है कि जो साहित्य और इतिहास का वर्गीकरण होता है उसका कोई सबल आधार नहीं है। यह एक प्रोटोकॉल है। जैसे परंपरा चली आ रही है कि आप एक चीज़ को साहित्य कह देते हैं और दूसरे को

इतिहास। विधाओं का यह जो वर्गीकरण है उसमें काफी मनन और चिंतन की गुंजाइश है। मैं तो चाहूंगा कि इतिहासकार ही साहित्यकार हो लेकिन अगर साहित्यकार इतिहास में जाता है तो उसे कुछ तो उससे भिन्न करना होगाा जो पारंपरिक रूप से इतिहासकार करते रहे हैं। मैं फिर से कहूं कि आदर्श स्थिति तो वह होगी जिसमें इतिहासकार और साहित्यकार मिलकर कुछ ऐसा करें कि वह काल अथवा वह व्यक्ति जीवन्त बनके मुखरित हो, जिसके बारे में आपने लिखने का फैसला किया है जिसे समझने का आपने फैसला किया है। तो 'पहला गिरमिटिया' यदि सिर्फ पारंपरिक इतिहास की पुस्तक बन कर रह जाती है तो उसे उपन्यास का नाम ही क्यों दिया जाए? फिर फर्क सिर्फ इतना हो जाता है कि गिरिराज जी पेशे से उपन्यासकार हैं और कोई दूसरा पेशे से इतिहासकार। तो जो बात मैं मार्क्सवादियों के इतिहास की कर रहा था वैसी ही बात हो गई कि यह उपन्यास कैसे हो गया? केवल इसलिए कि इसे लिखने वाला उपन्यासकार है। तो कहीं कोई फर्क आएगा और वह फर्क मैं इस तरह प्रकट करना चाहूंगा, अगर आपको आपत्ति न हो तो, कि इतिहासकार कुछ विवश हो जाता है अपने पेशे के प्रोटोकॉल के चक्कर में कि जो लोगों के असल नाम हैं, उनका इस्तेमाल करे। उपन्यासकार पर ऐसी कोई पाबन्दी नहीं रहती।

- अक्टूबर-नवंबर, 2007 (संयुक्तांक)

अध्याय – 39

भूमंडलीकरण को स्वीकार करना ही होगा

इतिहासकार *बिपन चंद्र* से भूमंडलीकरण, 1857 और भगत सिंह पर *रोहित प्रकाश* की बातचीत

रोहित प्रकाश : *भूमंडलीकरण पूरी दुनिया में व्यापक चर्चा का विषय बना हुआ है, अलग-अलग अनुशासन के लोगों ने इसे परिभाषित किया है और इसके प्रभावों की व्याख्या की है, भूमंडलीकरण के बारे में आपके क्या विचार हैं?*

बिपन चन्द्र : मेरे हिसाब से भूमंडलीकरण की आलोचना का आधार इसमें निहित खामियां होनी चाहिए। यह कहना कि भूमंडलीकरण की प्रक्रिया रूकनी चाहिए, बिल्कुल बेवकूफाना बात है, क्योंकि भूमंडलीकरण अब शुरू नहीं हुआ है। यह पूंजीवाद का हिस्सा है। अगर आप मार्क्स को पढ़ें तो पता चलेगा कि वह इसकी तरफ ध्यान दिलाने वाले पहले व्यक्ति थे। उन्होंने 1848 में कम्युनिस्ट घोषणापत्र में लिखा है कि पूंजीवाद एक विश्व-व्यवस्था है। तो भूमंडलीकरण क्या है? यह भी विश्वव्यवस्था है। भूमंडलीकरण का मतलब और कुछ नहीं बल्कि यह है कि आप भी विश्व की आर्थिक व्यवस्था का हिस्सा बन रहे हैं। उसने कहा कि यह बाहर के लोगों को सिर्फ दो विकल्प देता है। या तो आप इसमें शामिल हो जाइये या फिर इसके द्वारा पराजित। तीसरा कोई समाधान नहीं है। चीन एकमात्र देश है जिसने 19वीं सदी में भूमंडलीकरण का विरोध किया था। उन्होंने कहा कि हम पूंजीवादी व्यवस्था का हिस्सा नहीं बनेंगे। 1840 और 1860 में उन्हें हार का मुंह देखना पड़ा। उन्हें अपमानजनक स्थितियों को स्वीकार करना पड़ा। लेकिन उन्होंने फिर कहा कि हम इससे अलग ही रहेंगे। उसके बाद माओ तथा अन्य लोगों के अनुसार चीन एक अर्ध औपनिवेशिक देश बन गया। भारत की तुलना में अधिक पिछड़ा। दूसरी तरफ जापान की हार थी। लेकिन उन्होंने कहा हम इसलिए हारे हैं क्योंकि हम इस व्यवस्था का हिस्सा नहीं हैं। उन्होंने उन स्थितियों को स्वीकार किया जो उनपर

लादी गई थी। कोई आर्थिक या शारीरिक अपराध होता है तो उसकी जो कोर्ट होती थी उसमें अध्यक्षीय जज विदेशी होता था। अगर विदेशी जज न हुआ तो पार्षद या राजदूत या कोई और लेकिन कोई विदेशी दूतावास से जरूर होगा।

जापान ने मान लिया और फिर अपने लोगों को अमेरिका, इंग्लैंड और फ्रांस भेजा। उन्हें कहा कि अध्ययन करके आओ उनके कानूनों को। यह नहीं कहा कि हमारे पारंपरिक कानून हैं। हम तुम्हारे कानून को नहीं मानेंगे, तुम हमें उपनिवेश बना रहे हो। फिर उद्योगों की तरफ ध्यान दिया। उन्होंने कहा कि हमने अपनी न्यायिक व्यवस्था बदल ली है। हमारे जज तुम्हारे यहां से पढ़े हुए हैं। तुम किस आधार पर हम पर अधिकार जताते हो। हम जापानी कानून नहीं इस्तेमाल कर रहे हैं। हम आधुनिक कानूनों का इस्तेमाल कर रहे हैं। हम आधुनिक प्रशिक्षित जजों का इस्तेमाल कर रहे हैं। जो तुम्हारे यहां प्रशिक्षित हुए हैं और अर्थव्यवस्था के बारे में उन्होंने कहा कि हम भी मजबूत हो गये हैं। अब शर्तों को हमारे ऊपर से हटाओ। बल्कि यह भी देखो कि हम तुम्हारी तरह साम्राज्यवादी भी हैं। उन्होंने चीन की तरफ कूच किया।

तो जापान एकमात्र एशियाई देश है जो स्वतंत्र बना रहा। चीन की तो बुरी स्थिति हो गई और भारत के पास तो विकल्प ही नही था। हम पराजित होकर विश्व-व्यवस्था का हिस्सा बने। क्योंकि हमारे यहां टीपू सुल्तान को छोड़कर 18वीं सदी में किसी ने समझा ही नहीं कि यह क्या हो रहा है। दुनिया के बारे में उसने भी थोड़ा-बहुत ही समझने की कोशिश की। तो मैं समझता हूं कि भूमंडलीकरण का विरोध नहीं करना चाहिए बल्कि गलत तरीके के भूमंडलीकरण का विरोध करना चाहिए। हमें कहना चाहिए कि भूमंडलीकरण को हम अपनी शर्तों पर चाहते हैं।

रोहित प्रकाश : *तीसरी दुनिया के देशों के लिए या भारत जैसे देश के लिए क्या यह संभव है कि भूमंडलीकरण को अपनी शर्तों पर स्वीकार करे?*

बिपन चंद्र : तीसरी दुनिया को पृथक योग नहीं बनाया जा सकता। आपको भूमंडलीकरण को स्वीकार करना ही होगा। आप पहले से ही भूमंडलीकरण का हिस्सा हैं, उपनिवेशवाद ने आपको इसका हिस्सा बनाया है। आप उत्तरी कोरिया की तरह पृथक होने की बात नहीं कर सकते। चीन क्या कर रहा है? चीन का बहुत बेहतर ढंग से भूमंडलीकरण हो रहा है। यह चीन की आर्थिक समृद्धि के रूप में आ रहा है। भूमंडलीकरण का विरोध करना महा बेवकूफी है। हमें उनकी शर्तों पर होने वाले भूमंडलीकरण का विरोध करना चाहिए। इसे

अपने हित में इस्तेमाल करना चाहिए।

रोहित प्रकाश : *आपने अपने एक पूर्व के साक्षात्कार में केंद्र और परिधि के देशों की चर्चा करते हुए कहा था कि भारत केंद्र का देश बनने की दिशा में बढ़ता हुआ देश है। अगर यह आर्थिक समृद्धि व्यापक और बहुसंख्यक भारतीय जनता के हित में नहीं है और साम्राज्यवादी नीतियों का अनुसरण करके ही इस लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है, तो यह किस तरह उचित है?*

बिपन चंद्र : यह दूसरी चीज है। जैसे जापान ने खुद का भूमंडलीकरण किया और विश्व पूंजीवादी व्यवस्था का हिस्सा बना। लेकिन जापानी जनता को इससे कतई फायदा नहीं पहुंचा। जापान के टेक्स्टाईल मिलों में न्यूनतम मजदूरी की दर मुंबई के मजदूरों से भी कम थी, जबकि जापान बड़े पैमाने पर टेक्सटाईल का उत्पादन और निर्यात कर रहा था। जापान ने जनहित के आधार पर अपना भूमंडलीकरण नहीं किया। इसलिए जापान की समाजवादी और कम्युनिस्ट धारा ने 1920-30 में इस शोषण का विरोध किया। उन्होंने कहा कि जापानी जनता को फायदा मिलना चाहिए। उन्होंने भूमंडलीकरण का विरोध नहीं किया क्योंकि वे मार्क्सवादी थे। उन्होंने यह नहीं कहा कि विश्व पूंजीवादी व्यवस्था का हिस्सा मत बनो। उन्होंने कहा कि विकास करो लेकिन विकास जनता के हित में होना चाहिए।

रोहित प्रकाश : *अगर भारत में भूमंडलीकरण जनहित के आधार पर नहीं हो रहा है बल्कि इसका चरित्र जनविरोधी है तो हम क्यों इसे स्वीकार करें?*

बिपन चंद्र : इस बारे में हमारे अर्थशास्त्रियों और राजनीतिज्ञों से चर्चा करनी चाहिए। मैं तो यह कह रहा हूं कि भूमंडलीकरण का विरोध करने की जगह हमें इसकी नीतियों में बदलाव करने के प्रयास करने चाहिए। हमें भूमंडलीकरण विरोधी नहीं होना चाहिए बल्कि गलत तरह के भूमंडलीकरण का विरोध करना चाहिए। हम एक उपनिवेश के तौर पर वैश्विक अर्थव्यवस्था का हिस्सा थे। चीन एक अर्ध उपनिवेश के तौर पर इसका हिस्सा बना। जापान एक स्वतंत्र देश के तौर पर शामिल हुआ। जनता के साथ क्या हुआ चाहे ये पूंजीवाद था या कुछ और। सोवियत क्रांति हुई और रूस एक समाजवादी देश बना। लेनिन ने काफी कुछ किया इसका हिस्सा बनने के लिए। हर तरह की छूट दी जो वे चाहते थे सिर्फ विश्व व्यवस्था का हिस्सा बनने के लिए। ये तो स्तालिन ने बाद में कहा कि हम समाजवादी विश्व की पृथक अर्थव्यवस्था हैं।

1923-24 के लेनिन के लेखन का अध्ययन करना चाहिए।

रोहित प्रकाश : *यह एक कार्यनीतिक कदम था..*

बिपन चंद्र : कार्यनीतिक और रणनीतिक क्या होता है, यह लेनिन बखूबी जानते थे। आप विश्व अर्थव्यवस्था से बाहर नहीं रह सकते। कोई रास्ता नहीं है। आप अपने आंतरिक व्यवस्था के संदर्भ में इस पर चर्चा कर सकते हैं कि कौन सी शर्तों पर आप तैयार होंगे। लेकिन शर्तें ठेके जैसे नहीं होंगी (हंसते हुए)। आप अमेरिका को यह नहीं कह सकते कि यह हमारी शर्त है तब तो हम भूमंडलीकरण में हिस्सा लेंगे वरना नहीं। हमें अपने यहां के भूमंडलीकरण की नीति के बारे में निर्णय लेना चाहिए। यह एक प्रक्रिया है। करना तो है ही, सवाल यह है कि प्रक्रिया क्या होगी।

रोहित प्रकाश : *आपने उस साक्षात्कार में यह भी कहा है कि भूमंडलीकरण और उपनिवेशीकरण अलग-अलग प्रक्रियाएं हैं। क्या भूमंडलीकरण के द्वारा दूसरे किस्म का प्रभुत्व बड़े और विकसित देश स्थापित नहीं कर रहे हैं?*

बिपन चंद्र : दोनों बिल्कुल अलग प्रक्रियाएं हैं। यह भूमंडलीकरण नहीं है। विदेशी पूंजी का कुछ उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल किया जाता है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों का कुछ खास उद्देश्यों के लिए। दूसरी तरफ बहुराष्ट्रीय कंपनियां अन्य उद्देश्यों के लिए भी हो सकती हैं। इनके प्रभावों पर चर्चा होनी चाहिए। वैश्विक अर्थव्यवस्था का हिस्सा हम कैसे बनने जा रहे हैं, आंतरिक स्थितियों में क्या परिवर्तन होने जा रहे है – इन सब पर चर्चा होनी चाहिए।

रोहित प्रकाश : *क्या परिधि से केंद्र बनने की प्रक्रिया बाह्य या आंतरिक शोषण पर आधरित है? दूसरे देशों को अधीनस्थ करना भी इसमें शामिल है?*

बिपन चंद्र : यह विश्वव्यवस्था है; मैं इससे सहमत नहीं हूं कि केंद्र होगा, परिधि होगी। यदि, हम केंद्र की ओर बढ़ते हैं तो इससे मेरा अर्थ यह है कि हम विकास की ओर बढ़ते हैं, लेकिन आपको इसके लिए किसी और स्वतंत्र अर्थव्यवस्था को अधीनस्थ करने की जरूरत नहीं है। बल्कि मैं पूर्णतः इस सिद्धांत से सहमत नहीं हूं कि एक केंद्र और दूसरी परिधि होगी। ऐसे में यदि एक देश केंद्र में जायेगा तो किसी अन्य देश को परिधि पर जाना होगा तो मैं यह सवाल करता हूं कि चीन और भारत यदि केंद्र के देश हो जायेंगे तो परिधि पर कौन देश होंगे। परिधि बहुत छोटी हो जायेगी (हंसते हुए), अगर अमेरिका,

इंग्लैंड, फ्रांस और जर्मनी आदि देशों को भी ले लें तो परिधि बहुत छोटी होगी। इसलिए मैं इस सिद्धांत को स्वीकार नहीं करता कि केंद्र और परिधि में हमेशा संतुलन रहेगा। केंद्र में दो देश नये आयेंगे तो कैंद्र के दो पुराने देश परिधि पर पहुंच जायेंगे, मैं इसे स्वीकार नहीं करता। मेरा अर्थ यह था जो बहुत आसान और सीधा है कि हमें विकास के लिए प्रयास करने चाहिए। हमें आधुनिक अर्थव्यवस्था के निर्माण के लिए प्रयास करने चाहिए। आंतरिक तौर पर जो होता है वह हमारी सामाजिक व्यवस्था है, कैसे वह व्यवस्था बचे हुए वैश्विक समूह के साथ जूझती है, ये देखना चाहिए। देखिये, कई बार लोग भूमंडलीकरण का उपयोग एक किस्म के कूट शब्द के रूप में साम्राज्यवाद की जगह करते हैं, यह सही इस्तेमाल नहीं है। हम एक उपनिवेश या नवउपनिवेश या अर्थ-उपनिवेश नहीं बनने जा रहे। लेकिन वे इस मुद्दे से इस तरह इसलिए जूझते हैं क्योंकि वे चर्चा से बचते हैं। यदि हम ऑटोमोबाईल उद्योग का विकास कर रहे हैं तो क्या हम उपनिवेश बन रहे हैं? अगर हम मोटरगाड़ियों या पुर्जों का निर्यात कर रहे हैं तो कैसे हम उपनिवेश बन जायेंगे। अगर जनहित में नहीं है तो इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि आप उपनिवेश बन जाने या किसी के द्वारा अधीनस्थ होने को मजबूर हैं, और आप स्वतंत्र नहीं रह सकते। अमेरिका की अर्थनीति जनहित में नहीं है तो क्या यह उपनिवेश है? आप बिना अधीनस्थ हुए या बिना किसी को अधीनस्थ किये पूंजीवाद का विकास कर सकते हैं। लेकिन पूंजीवादी विकास का मतलब असमान विकास होता है। यह लोगों को गरीब-अमीर और मध्यवर्ग में बांटता है। यह भूमंडलीकरण का हिस्सा नहीं है, बल्कि पूंजीवादी विकास का हिस्सा है, इसलिए मैं कह रहा हूं कि पूंजीवाद का विरोध करना चाहिए, भूमंडलीकरण का नहीं। उदाहरण के लिए चीन ने हमसे अधिक करोड़पतियों को पैदा किया है। हमारी तुलना में उनके उच्च-मध्यम वर्ग की संख्या दुगुनी है। चीनी यात्री, जो विदेशों का भ्रमण कर रहे हैं, भारतीय यात्रियों से दस गुणा ज्यादा हैं। फिर भी चीन में बड़े पैमाने पर असमानता है। लेकिन चीन एक उपनिवेश नहीं है, न ही अर्थ-उपनिवेश। सी.पी.आई, सी.पी.एम, नक्सलवादी या अन्य वामपंथी कोई यह नहीं कहते हैं कि चीन एक उपनिवेश है। चीन ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका और स्वीडन की तुलना में ज्यादा असमानता पर आधारित समाज है। आंतरिक तौर पर क्या होता है यह एक दूसरा प्रश्न है। चीन भूमंडलीकृत दुनिया का हिस्सा है, और कतई उपनिवेश नहीं है। हमें यह चर्चा करनी चाहिए कि क्या हम पूंजीवाद चाहते हैं? क्या हम इस तरह का पूंजीवाद चाहते हैं? लेकिन, आप भूमंडलीकरण के विरोध के नाम पर पूंजीवाद

का विरोध नहीं कर सकते। पूंजीवाद का विरोध करना चाहिए, मुझे भी यह असमानता पसंद नहीं है, मैं भी इसका विरोध करना चाहूंगा जो कुछ भी हो इसमें बुरा है।

रोहित प्रकाश : *इन दिनों यू.पी.ए. के शासन में भूमंडलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण की प्रक्रियाएं जारी हैं। कम्युनिस्ट पार्टियां इसे समर्थन दे रही हैं। कम्युनिस्ट पार्टियों की राजनीतिक कार्यनीतिक लाइन से आप सहमत हैं?*

बिपन चंद्र : मैं समझता हूं कि सांप्रदायिकता हमारे लिए एक बड़ा खतरा बन गई थी और उस सरकार को हटाकर नया शासन लाना जरूरी था।

रोहित प्रकाश : *वर्ष 2007 भगत सिंह का जन्म शताब्दी वर्ष है। आप भगत सिंह पर काम कर रहे हैं। उनके बारे में आपकी क्या राय है?*

बिपन चंद्र : मैं भगत सिंह को हिन्दुस्तान के सर्वश्रेष्ठ क्रियाशील और मार्क्सवादी विचारकों में से एक मानता हूं। वे प्रत्येक समस्या के साथ जूझते थे। उनमें एक विकासक्रम था। प्रत्येक 6 महीने में वे एक नये रूप में, नये विचारों के साथ सामने आते थे, वे भारतीय यथार्थ का अध्ययन करने में सक्षम थे। मैं उन्हें सर्वश्रेष्ठ विचारक एक विकासशील विचारक के अर्थ में कहता हूं। मैं नहीं समझता कि वह पूर्णतः विकसित विचारक थे और मैं यह भी नहीं कहूंगा कि जो उन्होंने कहा वह सब ठीक है, क्योंकि वह मात्र 23 वर्ष के युवा थे। वह विकास कर रहे थे, अगर आप लेनिन के 1891-92 के लेखन को पढ़ें तो आज उस क्रियाशीलता को देख सकते हैं, मगर यह नहीं कह सकते कि वह महान मार्क्सवादी होगा ही। वैसे ही माओ के शुरूआती लेखन में भी देख सकते हैं। लेकिन यह कहना मुश्किल है कि 1920 के आसपास का माओ एक महान विचारक था। आप उनके अध्ययन के क्रम में यह कह सकते हैं कि यह आदमी है जो चीन का महान नेता बनने में सक्षम है। वैसे ही युवा ट्राटस्की में विकसित होने की तमाम संभावनाएं मौजूद थीं। इसलिए खासतौर पर भगत सिंह जिस तरह उपलब्धियां हासिल कर रहे थे और हर मुद्दे को समझने का प्रयत्न किया, यह नहीं कहा कि मार्क्स ने कहा है तो मान लो, मैं उनका सम्मान करता हूं, और समझता हूं कि उनकी मृत्यु आधुनिक भारत की बहुत बड़ी त्रासदी है।

रोहित प्रकाश : *गांधी और भगत सिंह के अंतर्विरोध के बारे में आप क्या समझते हैं?*

बिपन चंद्र : उन दोनों में बहुत अंतर था। गांधी ने वर्गीय दृष्टिकोण से चीजों को नहीं देखा जबकि भगत सिंह के पास वर्गीय दृष्टिकोण था। दूसरी तरफ भगत सिंह ने वर्गीय क्रांति को प्रधानता दी। मगर गांधी को लगा कि हमारा समाज दूसरों से अलग है इसलिए रास्ता भी अलग ही होगा। पहले बिंदु पर मैं भगत सिंह से सहमत हूं और दूसरे पर गांधी से। गांधी के विचार इस बारे में बिल्कुल स्पष्ट हैं। आप स्थितियों के बीच का संघर्ष (War of Position) नहीं चला सकते, ऐसा सिर्फ लोकतंत्र में संभव है। ग्राम्शी ने जो अध्ययन किया वह हमने भी किया है कि क्यों किसी लोकतांत्रिक समाज में मार्क्सवादी क्रांति नहीं हुई। उन्होंने अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि लोकतंत्र में वार ऑफ पोजिशन जरूरी है न कि वार ऑफ मुवमेंट। रूसी क्रांति सिर्फ रूस में ही हो सकती थी, चीन की क्रांति सिर्फ चीन में, भारत पूर्णतः एक अलग देश है।

खासतौर पर अब यह एक लोकतांत्रिक समाज है एवं चीन की हम कभी पड़ताल नहीं करते कि भारत में क्रांति का चरित्र क्या होगा। हम इस सवाल को पूछते भी नहीं। 1964 तक सी.पी.आई. और उसके बाद सी.पी.एम सशस्त्र संघर्ष का पक्ष नहीं लेती, लेकिन वे कोई अन्य रास्ता भी नहीं चुनते कि कैसे और किस तरह बढ़ा जाये। यूरोप के सभी देशों में आंदोलन विफल रहा। हमें इससे सबक सीखना चाहिए कि उन्होंने रूसी क्रांति को दोहराने की कोशिश की। मैं नेपाल के बारे में ज्यादा नहीं जानता, लेकिन क्या माओ की चीनी क्रांति को कहीं और दोहरया जा सकता है। चेग्वारा ने भी सोचा था कि क्यूबा को बोलिविया और निकारागुआ में दोहराया जा सकता है, लेकिन ऐसा नहीं हुआ, अब वे देश दूसरी तरफ मुड़ रहे हैं।

रोहित प्रकाश : *नेपाल से कोई आशा बनती है?*

बिपन चंद्र : शासन को उखाड़ फेंका गया यह तो बहुत अच्छी बात है। लेकिन मैं इन लोगों को बहुत बेहतर ढंग से नहीं जानता।

रोहित प्रकाश : *आपने 1990 में एक लेख लिखा था 'आरक्षण और आर्थिक विकास' जो 'एशेज ऑन कन्टेमप्रोरी इंडिया' शीर्षक किताब में संकलित है। उसमें आपने लिखा था कि 'आरक्षणवादी और आरक्षणविरोधी दोनों यह भूल रहे हैं कि वर्तमान परिवेश में आरक्षण से भारतीय अर्थव्यवस्था को दीर्घकालीन और दूरगामी नुकसान होगा'। आज लगभग 15 सालों बाद*

फिर से आरक्षण पर विवाद हो रहा है। मंडल दो के नाम से। इस पर बहुत बहसें भी हो रही हैं और पक्ष एवं विरोध में आंदोलन भी हो रहे हैं। आपके उस वक्त के दृष्टिकोण में कोई परिवर्तन आया है?

बिपन चंद्र : मैंने उस वक्त विरोध किया था और आज भी विरोध करता हूं। मैं आरक्षण के समर्थन में नहीं हूं। मेरे ख्याल से यह आर्थिक विकास के लिए ठीक नहीं है। लेकिन यदि आरक्षण होता है तो क्रीमीलेयर को उससे बाहर नहीं रखा जाये। इस बार भी मेरा तर्क विकास से संबंधित है। अगर आप क्रीमीलेयर को बाहर रखते हैं तो किसे नियुक्त करेंगे, अशिक्षितों को या अर्धशिक्षितों को। यह और नुकसानदायक है। अगर आरक्षण हो तो उसमें क्रीमीलेयर को शामिल किया जाये। वे आरक्षण के द्वारा योग्यता प्रदर्शित कर सकते हैं और विकास में मदद भी कर सकते हैं। बहस बड़ी लंबी हो जायेगी।

रोहित प्रकाश : *उस समय कम्युनिस्ट पार्टियां आरक्षण का विरोध कर रहीं थी और आज समर्थन कर रही हैं..*

बिपन चंद्र : हो सकता है वे सही हों। उन्होंने पुनर्विचार किया है लेकिन मैंने कोई पुनर्विचार नहीं किया है। मैं जाति को स्वीकार नहीं करता हूं। मैं समझता हूं कि यह हमारे समाज की सबसे बड़ी कमजोरी है। हमें जाति व्यवस्था का विरोध करना चाहिए और इसका संरक्षण करने की बजाय उखाड़ फेंकना चाहिए।

रोहित प्रकाश : *ऐसा किस माध्यम से हो सकेगा?*

बिपन चंद्रा : माध्यम बहुत आसान है। हमने बहुत सारी समाजिक कुरीतियों का सफलतापूर्वक विरोध किया है और इसका भी विरोध करना चाहिए। हमें लोगों को शिक्षित करना चाहिए और बताना चाहिए कि वे जाति छोड़ दें। गांधी के पास बहुत आसान समाधान था। नाम के आगे जाति सूचक शब्द मत लगाइये, ताकि किसी को आपकी जाति पता न चले।

रोहित प्रकाश : *जो लगाना चाहते है, वे किसी भी तरह लगा लेते हैं।*

बिपन चंद्र : मैंने छोड़ दिया है। क्या है मेरी जाति आप अंदाजा लगाईये। जब मैंने विरोध किया तो दक्षिण में कुछ लोगों ने कहा कि मैं ब्राह्मण हूं इसलिए डिफेंड कर रहा हूं। मैं ब्राह्मण तो हूं नहीं। मेरी जाति का आप अंदाजा नहीं लगा सकते।

रोहित प्रकाश : *जाति के बारे में वर्गीय दृष्टि से सोचना आपको सही लगता है?*

बिपन चंद्र : देखिये, मार्क्सवादी यह समझने में विफल रहे कि जाति वर्ग नहीं है। लेकिन दोनों में संबंध है। जाति को प्रमुखता देकर वह वर्ग की उपेक्षा कर रहे हैं, पहले जाति की उपेक्षा कर रहे थे। दोनों एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। बुद्धिजीवी और कार्यकर्ताओं के आगे कई सामाजिक मुद्दे हैं जिससे उन्हें जूझना चाहिए। मैं कोई गुरू नहीं हूं। मेरे पास समाधान नहीं है। मेरे पास यही जवाब है। जिसमें मुझे विश्वास है कि आपको जाति को उखाड़ फेंकना है और इस व्यवस्था को भी। अगर यह व्यवस्था बनी रहती है तो आरक्षण कोई मदद करने नहीं जा रहा।

रोहित प्रकाश : *1857 के विद्रोह के डेढ़ सौ वर्ष पूरे हो रहे हैं। इसे इतिहासकारों और विचारकों ने विभिन्न रूपों में परिभाषित करने की कोशिश की है। आज डेढ़ सौ वर्षों बाद आप इसकी महत्ता को किस रूप में देखते हैं?*

बिपन चंद्र : मेरे हिसाब से 1857 की सार्थकता इसमें निहित प्रेरणा है कि हमारे देशवासियों ने हमेशा अपने इस देश की आजादी के लिए लड़ाई लड़ी है। 1857 के पहले भी जब-जब अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान के किसी हिस्से पर कब्जा किया तो वहां जबर्दस्त विद्रोह हुए। यह बात ध्यान रखने योग्य है कि उन्होंने हिन्दुस्तान को एक बार में या एक समय में नहीं जीता था। सबसे पहले उन्होंने बंगाल लिया फिर दक्षिण भारत और उसके बाद पश्चिम भारत, सबसे अंत में उन्होंने मध्य भारत पर अधिकार प्राप्त किया। ऐसे आहिस्ता-आहिस्ता करके उन्होंने जहां-जहां कब्जा किया, कुछ सालों के अंदर ही वहां विद्रोह पनप उठे। इन विद्रोहों में किसान शामिल थे, जमींदार थे, कई जागीरें थी जिन्हें बेदखल कर दिया गया था, वह भी थे। जैसे बंगाल में 1756 के बाद अंग्रेजी राज बढ़ा तो 1770 से संन्यासी विद्रोह हुए जो अगले 25 सालों तक चलते रहे। जिसका जिक्र वंकिम ने अपने उपन्यास में किया है। उस उपन्यास के पहले संस्करण में संन्यासी विद्रोह अंग्रेजों के खिलाफ ही थे। वैसे ही जब आगरा जीता गया तो वहां भी बगावत हुई, तमिलनाडु में, केरला में, सारे हिन्दुस्तान में। चूंकि उत्तरी भारत जो अवध है। नार्थ-वेस्ट फ्रंटियर प्रोविंस जिसे हम यू.पी. कहते हैं और बिहार के कुछ हिस्से 1820 के बाद कब्जे में आये और खासकर कब्जा जब खुले रूप में प्रकट हो गया तो भयंकर विद्रोह हुए, क्योंकि कई रजवाड़े जो थे

वह अंग्रेजों के कब्जे में थे और नाम के लिए हिन्दुस्तानी बने रहते थे। तो सबसे बड़ी रिवोल्ट मानी जाती है 1857 की।

मैं समझता हूं कि इसकी जो सबसे बड़ी महत्ता है वह इस बात में है कि इस बगावत या विद्रोह के सफल नहीं होने के बावजूद भी हमने लड़ाई लड़ी और कभी भी विदेशी शासन को हमारी जनता ने इसलिए स्वीकार नहीं किया कि हम हार गये हैं। जबकि जबरदस्त दमन हुआ था और 1857 से हिन्दुस्तानियों ने यह भी सीखा कि अंग्रेजों को इस ढंग से नहीं हराया जा सकता, नये ढ़ंग से सोचना होगा। क्योंकि अंग्रेजी शासन बाकी विदेशी शासनों की तरह नहीं था। यह मूलतः आर्थिक आधपित्य था, उद्देश्य भी आर्थिक ही थे, राजनीतिक नहीं, तो फिर नये ढंग से आजादी की लड़ाई लड़ी गई और 1947 में हम सफल हुए। दूसरी मुख्य बात यह भी कि यह हमारी आखिरी लड़ाई थी, पुराने ढंग की। बल्कि सौ सालों से जो लड़ाई थी उसकी चरम स्थिति थी, आखिरी कड़ी थी उस तरह के बगावत या विद्रोह की। इसके बाद जनता और इंटेलिजेंसिया ने मिलकर नये ढ़ंग से सोचना शुरू किया और पिछली लड़ाइयों से प्रेरणा लेकर 1918 के बाद हमारी लड़ाई अहिंसक ढंग से गांधीजी के नेतृत्व में लड़ी गई। प्रेरणा यह नहीं थी हम बंदूक से लड़ें बल्कि यह थी कि हम लड़ें और गांव-गांव में जनता ने उन पुरानी लड़ाइयों से प्रेरणा ली। इसका सबसे बड़ा सबूत फोक सांग्स (Folk songs) है। यह दुर्भाग्य है कि वे गीत ज्यादातर नहीं छप सके क्योंकि अंग्रेजों के ख़िलाफ़ बात करना जेल जाने के बराबर था। सुभद्रा कुमारी चैहान का गीत हिन्दुस्तान का और खासतौर पर उत्तरी भारत का हर बच्चा जानता था, हालांकि वह कहीं छपी नहीं थी, तो खूब लड़ी मर्दानी रानी झांसी, तात्या टोपे, हजरत महल, कुंवर सिंह ये सब नाम हम जब बच्चे थे तो जानते थे, तात्या टोपे पर कई किताबें भूमिगत रूप से छपती और बिकती थीं, फोक सांग्स पर तो प्रतिबंध लग ही नहीं सकता था, अब हम कोशिश कर रहे हैं उन फोक सांग्स की स्मृति की। जो सत्याग्रही लड़ते थे वो इन गीतों को भी गाते थे, इसमें कोई विरोध नहीं था कि वह सशस्त्र संघर्ष था और यह अहिंसक। सवाल यह था कि लड़ाई है और अंग्रेजों के ख़िलाफ है, अंग्रेजों के अधपित्य के ख़िलाफ है।

रोहित प्रकाश : *कुछ इतिहासकार और विचारक यह मानते हैं कि 1857 का विद्रोह उच्च जाति के हिन्दुओं का विद्रोह था। आप इससे कितना सहमत हैं?*

बिपन चंद्र : यह गलत बात है। बात सिर्फ इतनी है कि अंग्रेजों की नीति के हिसाब से सिपाही ज्यादातर उच्च जाति के होते थे और 1857 की बगावत सर्वप्रथम उन्होंने ही शुरू की। लेकिन वे अपने लिए तो नहीं लड़े। 4 लाख के करीब अंग्रेजी फौज में हिन्दुस्तानी थे। बंगाल आर्मी में आधे हिन्दुस्तानी बागी बने। (बंगाल आर्मी सिर्फ बंगालियों की नहीं थी, ज्यादातर अवध और यू.पी. के लोग थे, कुछ बिहारी भी थे)। तो उस वक्त ज्यादातर ब्राह्मण नियुक्त होते थे या दूसरी उच्च जाति के। लेकिन सवाल यह नहीं है कि यह लड़ाई उच्च जाति की थी। वे किसलिए लड़े? कोई उच्चजाति की मांग नहीं थी। रानी झांसी हो या तात्या टोपे, हजरत महल थी, मौलवी फैजाबाद के लड़े थे, कुंवर सिंह थे-ये तो नेताओं के नाम हैं। आम जनता में तो किसान-मजदूर थे। छोटे कारीगर थे-सब लड़े थे, वे तो ज्यादातर पिछड़ी जाति के होते थे, मुसलमान-हिन्दू सब थे। हो सकता है कि पिछड़ी जाति के लोग कम हों उच्चजाति के ज्यादा हों। मैंने तो कोई विश्लेषण नहीं पढ़ा है। लेकिन वे सब हिन्दुस्तान की आजादी के लिए लड़े। उन्होंने अपनी कोई मांग नहीं रखी। सिर्फ इसलिए कि महात्मा गांधी उच्चजाति के थे उनकी लड़ाई उच्चजाति की लड़ाई हो गई। कोई पिछड़ी जाति का व्यक्ति अंग्रेजों के हक में लड़ता है तो वह पिछड़ी जाति का नेता बन गया। गांधी, नेहरू, लोकमान्य तिलक उच्चजाति के लोग थे? उनकी मांग क्या थी? दादाभाई नौरोजी तो न उच्चजाति के थे न पिछड़ी जाति के। सबसे पहले आलोचक थे उपनिवेशवाद के। जब उनसे कहा गया कि इन्कम टैक्स देने वालों की संख्या चार गुणा बढ़ गई है, तुम क्यों कहते हो कि हिन्दुस्तान गरीब है। उन्होंने कहा कि मैं अमीरों की बात नहीं करता, गरीबों की बात करता हूं, उनका क्या हाल हुआ है? और दुनिया में उपनिवेशवाद की सबसे पहली आलोचना दादाभाई नौरोजी ने की। तो हम कहें कि वह पारसी था इसलिए हिन्दू-मुसलमान या पिछड़ी जातियों का प्रतिनिधित्व नहीं करता था। पिछड़ी या अगड़ी जाति का मुद्दा तब आता है जब हम मांगों को देखें। सिपाहियों ने जो बगावत की तो उन्होंने एक भी उच्च जाति की मांग नहीं रखी। मेरठ के सिपाहियों ने जब लड़ाई की शुरुआत की तो थोड़े ही दिनों के अंदर पश्चिमी उत्तर प्रदेश का और बाद में अवध का खड़ा हो गया लड़ने के लिए। तो कोई मांग उन्होंने नहीं रखी अगड़ी या पिछड़ी जाति की।

रोहित प्रकाश : *1857 पर कई किस्म के अध्ययन प्रकाशित हुए हैं। नये अध्ययन भी हो रहे हैं। रामविलास शर्मा की किताब '1857 की राज्यक्रांति' में*

इसकी विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है। अभी विलियम डालरिम्पल की किताब 'द लास्ट मुगल' काफी चर्चा में है। आप उससे परिचित ही होंगे। क्या इन अध्ययनों के आलोक में विभिन्न दृष्टिकोणों से 1857 के विद्रोह को देखने की जरूरत आप महसूस करते हैं?

बिपन चंद्र : मेरी रूचि उस कालखंड में नहीं है। मैं गांधीजी के ऊपर काम कर रहा हूं। अभी भगत सिंह के ऊपर भी काम कर रहा हूं। नेशनल अर्काइव में सैकड़ों बंडल पड़े हैं। 1857 के ऊपर। वैसे ही स्टेट अर्काइव में भी काफी सामग्री है। 1857 के बारे में, फिर लोक-स्मृतियां हैं, गीत हैं। इन सबके अध्ययन की जरूरत है। इतिहास में ऐसी कोई घटना नहीं होती जिसे नये और आलोचनात्मक दृष्टिकोण से देखने की जरूरत नहीं होती। ऐसा पहले भी होता रहा है। 1857 के बाद जो किताबें लिखीं अंग्रेजों ने ही लिखीं और उनमें इसे Sepoy Mutiny कहा गया और इस बात पर जोर दिया गया कि बागियों ने क्या-क्या गलत काम किये। हालांकि ठोस शोध के ऊपर आधारित उस वक्त की किताबें हैं। जैसे विलियम के. की जो अंग्रेजों के दृष्टिकोण से ही लिखी गयी। लेकिन सामग्री और सूचना उसमें इतनी है कि उसी को नये दृष्टिकोण और एप्रोच से देखा जा सकता है। उसके बाद 1857 पर शोध तो नहीं हुआ क्योंकि इसकी इजाजत ही नहीं थी। स्वतंत्रता के बाद काफी शोध हुए। एस.बी.चौधरी ने काम किया है। दो वॉल्यूम में उनकी किताब है। पहला, Civil Rebelion up to 56 और दूसरा, Civil Rebelion up to 57-58. उन्होंने सबसे पहले बताया कि इस तरह के विद्रोह पहले भी हुए थे लेकिन सीमित क्षेत्रों में ही थे, बड़े क्षेत्र को इसने अपने घेरे में नहीं लिया। 1857 की प्रेरणा भी वहीं से मिली।

मुझे नहीं मालूम कि रामविलास शर्मा ने Original sources कितनी देखी थी और मैंने उनकी किताब पढ़ी भी नहीं है। इसके ऊपर आशु मुखर्जी की थीसीस है। कुछ अप्रकाशित पीएचडी थीसीस भी हैं। रूहेलखंड में जो मध्यप्रदेश और बिहार की भूमिका पर लिखे गये हैं एरिक स्ट्रोक्स ने इस पर काम किया है। नये शोध हमारे इतिहास के छात्रों को आकर्षित नहीं कर रहे हैं। शायद इसलिए क्योंकि बंडल खोलकर काम करना पड़ेगा।

रोहित प्रकाश : *हिंदी वाले इसमें काफी रूचि ले रहे हैं।*

बिपन चंद्र : अच्छा है। लेकिन वे डोक्यूमेन्ट नहीं पढ़ते। रामविलास शर्मा जी का तो मैं प्रशंसक रहा हूं। मैंने उनकी किताब 'भारत में अंग्रेजी राज और

मार्क्सवाद' पढ़ी है लेकिन वह पूर्णतः गलत सूचनाओं पर आधारित है। क्योंकि सेकेंडरी किताबों को आधार बनाकर लिखना ठीक नहीं। टेक्स्ट-बुक लो तो ठीक है, उसमें बड़ा रिस्ट्रेन करना पड़ता है। मुझे नहीं पता कि हिंदी वाले शोध कितना कर रहे हैं। जब तक आप नेशनल अर्काइव और स्टेट अर्काइव के मेटेरियल को न पढ़े आप बेहतर इतिहास नहीं लिख सकते।

रोहित प्रकाश : *आपने 1857 के प्रमुख नेताओं की चर्चा की। रानी झांसी, कुंवर सिंह, तात्या टोपे, हजरत महल आदि। आप इनकी भूमिका और योगदान को किस रूप में देखते हैं? क्या विद्रोह इनके नेतृत्व में कुशलतापूर्वक चलाया जा सका?*

बिपन चंद्र : देखिये, दिलचस्प चीज यह है कि उच्च वर्ग के जो पुराने शासक थे, बड़े जमींदार और बड़े शासक उनका भी नुकसान हुआ। किसान उठ खड़े हुए क्योंकि ईस्ट इंडिया कम्पनी ने रेवेन्यू बढ़ा दिया और कड़ाई से वसूली करने लगे। पुराने जमाने में यह था कि फसल खराब हो जाये तो माफी मिल जाती थी। अंग्रेज आधुनिक तरीके से काम कर रहे थे। वे कहते थे कि हमारा बजट वार्षिक है। हम अगर माफी देंगे तो हमारे वार्षिक बजट में नुकसान हो सकता है। हम सिपाहियों को तनख्वाह देते वक्त यह तो नहीं कर सकते कि ज्यादा वसूली हो तो ज्यादा लो और कम हो तो कम लो। इसके कारण किसान कष्ट झेल रहे थे और नाराज थे। हस्तशिल्पी इसलिए खड़े हुए क्योंकि हिन्दुस्तान उत्पादन-संकट झेल रहा था। अंग्रेजों ने अपने देश और उपनिवेशों में यहां के उत्पादक को प्रतिबंधित कर दिया और अपना माल मुफ्त भेजना शुरू कर दिया। जमींदार और शासक इसलिए खड़े हुए कि उनकी सत्ता जा रही थी। क्योंकि अंग्रेज न सिर्फ लैंड-रेवेन्यू बढ़ा रहा था बल्कि अवध के बड़े जमींदारों को भी हटाने की कोशिश कर रहा था। शासकों को हटाकर अपना सीधा प्रशासन थोपने की कोशिश कर रहा था। 1830 से लेकर 1855-56 डल्हौजी तक यह नीति अपनाई गई कि देशी रियासतों को खत्म करके उन्हें कम्पनी शासन के अधीन कर लिया जाये तो फिर जमींदारों ने भी विद्रोह में हिस्सा लिया। नाना साहेब ने इसलिए हिस्सा लिया क्योंकि उनकी पेंशन रूक गई थी। रानी झांसी इसलिए लड़ी कि जो बेटा उसने गोद लिया था उसे अंग्रेज उत्तराधकारी के रूप में स्वीकार नहीं कर रहे थे, बल्कि उसने कहा कि तुम मेरे बेटे को मान लो मैं हिस्सा नहीं लूंगी। हजरत महल ने इसलिए हिस्सा लिया कि नवाबी खत्म हो गई। लेकिन दिलचस्प चीज यह है कि जब इन्होंने हिस्सा

लिया तो बहुत बहादुरी से लड़े, पीछे मुड़कर नहीं देखा। रानी झांसी लड़ी तो जान दी, तात्या टोपे, नाना साहेब के आदमी थे, कुंवर सिंह थे – सब एक बार लड़े तो आखिरी दम तक लड़ते रहे। बहादुरशाह तक ने बहादुरी दिखाई जबकि राजनीति में उसकी कोई भूमिका नहीं थी।

बाद में अंग्रेजों ने इस बारे में अध्ययन और शोध किया। एक अमेरिकन स्कॉलर है टॉम्स मेडकॉफ उसकी भी एक किताब है। शायद India after revolt शीर्षक से। अंग्रेजों ने अपनी नीति में तीन बदलाव किये। जमींदारों से जमींदारी छीनना बंद कर दिया और जिनका लिया था उन्हें भी वापस कर दिया। जैसे कि अवध में उन्होंने यह किया कि जो लड़े थे, उन्हें तो मारा और उनसे जमींदारी ले ली, लेकिन उनके भाई-भतीजा या जो भी रिश्तेदार थे, जो लड़े नहीं थे या साथ दिया था, साथ न भी दिया तो कम से कम लड़े नहीं थे, उन्हें जमींदारी सौंप दी। अपने पास नहीं रखी, न जब्त किया। पहले तो बिना लड़े ही जब्त कर रहे थे। इसी प्रकार States में इस नीति को उलट दिया। उन्होंने शासकों को नियंत्रण में रखने की नीति अपनाई। एक तिहाई हिन्दुस्तान States में विभाजित था। उन्होंने देखा कि राजा-महाराजा भी लड़े हैं तो उन्होंने उन्हें खरीदना शुरू कर दिया। इनकी States वापस कर दो और नई States किसी भी सूरत में मत लो। वे ही नेतृत्व दे सकते थे और यह सच्चाई थी कि हमारे ट्रेडिशनल सोसायटी में नेतृत्व था तो जमींदार के हाथ में होता था या राजा के। जो नई लड़ाई लड़ी गई तो इंटेलीजेंसिया सामने आया। तो उन्होंने कहा कि जमींदारी को हाथ में रखो, राजा को साथ रखो, यह नहीं कहा कि यह लड़े थे इसलिए इनको मारो। तीसरा यह था कि हिन्दू-मुस्लिम एकता थी, इसका कोई प्रचार नहीं किया जाता था जैसे आज लोग करते हैं, उस समय सांप्रदायिकता नहीं थी। हिन्दुस्तान में ऐसी कोई लड़ाई नहीं लड़ी गई जिसमें एक तरफ हिन्दू हों और दूसरी तरफ मुसलमान। औरंगजेब लड़ता था शिवाजी से तो उसकी फौज में राजपूत ज्यादा होते थे। जयसिंह मुख्य कमांडर था। औरंगजेब के बाद दूसरे नंबर की हैसियत रखता था। दूसरी तरफ शिवाजी की सेना में तोप का इंचार्ज मुसलमान था। 18वीं सदी की हमारी सबसे बड़ी लड़ाई अब्दाली के ख़िलाफ़ थी। अब्दाली के साथ अवध के नवाब थे। उसने जो फौज भेजी वह नागा सिपाहियों की थी। जो बिना कवच के, नंगे बहादुरी के साथ लड़ते थे। मराठा लड़ते थे, तो उनके साथी जाट भी थे और इमादुर मुल्क वजीर भी था। मुगलों का पूरब कोर्ट भी उनके साथ था। हिन्दू-मुस्लिम की कोई लड़ाई नहीं थी। मध्यकालीन पीरियड पर लिखी गयी किताबों में यह बताया गया कि हम

विधर्मियों या दूसरे धर्म के लोगों के ख़िलाफ़ बहुत बहादुरी से लड़े तो उन किताबों को आधार बनाकर अंग्रेजों ने लिखा कि वे लड़ाईयां हिन्दू-मुस्लिम के बीच थी। हम यह देखते हैं कि औरंगजेब की तरफ से राजपूत लड़ रहे हैं और उसके दुश्मन दक्कन के मुसलमान हैं। हिन्दू-मुस्लिम एकता जान-बूझकर थोपी नहीं गई थी। यह हिन्दुस्तान की संस्कृति और राजनीति का हिस्सा था। लेकिन अंग्रेजों ने देखा कि इसमें बड़ा खतरा पैदा हुआ। इसकी उन्हें कभी उम्मीद नहीं थी। तब उन्होंने बांटो और राज करो की नीति जोर-शोर से शुरू की। 1858 के बाद उन्होंने कहना शुरू किया कि हम हिन्दुओं के पक्षधर हैं और दुबारा बगावत हुई और बहादुरशाह हजरत महल जैसे शासक जीते तो मुसलमानों का शासन होगा। उन्होंने हिन्दुओं को डराया जैसे कभी औरंगजेब ने किया था। 1878 के बाद उन्होंने जब नये आंदोलन देखे जो इंटेलिजेंसिया के हाथ में थी जो पारसी थे, हिन्दू थे, मुसलमान कम थे तो फिर उन्होंने कहा कि वोट हुआ तो मुसलमान मारे जायेंगे, बल्कि 1930 के बाद उन्होंने यहां तक कहना शुरू किया कि आंदोलन उच्च जाति के लोगों के हाथ में है और अगर यह जीत गये तो ब्राह्मणों का राज होगा, उच्चजाति का राज होगा। हम दलितों के पक्षधर हैं इसलिए हमारा राज यहां रहना चाहिए। 1858 से 1878 के बीच यह कहा कि हम हिन्दुओं को बचा रहे हैं मुस्लिम Domination से और 1878 के बाद यह कहना शुरू किया कि हम मुसलमानों को बचा रहे हैं हिन्दू Domination से।

रोहित प्रकाश : *आप इससे कितना सहमत हैं कि 1857 के विद्रोह में पुनरूत्थानवादी ताकतें सक्रिय हो उठीं और बंगाल और मराठी क्षेत्रों में हो रहे पुनर्जागरण का विस्तार हिन्दी प्रदेशों में नहीं हो सका या बाधित हुआ?*

बिपन चंद्र : बिल्कुल गलत है। आप देखेंगे कि पुनर्जागरण की ताकतें 1920 और 1940-42 के बीच सबसे ज्यादा मजबूत कहां थी? हिंदी पट्टी में आप उस पीरियड के साप्ताहिक देखिये, आप हैरान होंगे कि 1920-32 के Journals में यह छपता था कि नौजवान Movements रोमानिया में क्या है, किसान आंदोलन हंगरी में कैसा चल रहा है। हिन्दी पत्रकारिता जो पैदा हुई 1870-80 के बाद वह पुनर्जागरण में बंगाल और महाराष्ट्र से पीछे नहीं था, यह कहना कि पुनरूत्थानवादी ताकतें इससे बढ़ी, यह बिल्कुल गलत बात है। बल्कि दूसरा पहलू अलग है। जिसे लोग कहते हैं कि उस वक्त के इंटेलिजेंसिया ने 1857 का समर्थन नहीं किया। उनका विचार था कि इससे पुनरूत्थानवादी

ताकतें बढ़ेंगी, अगर 1857 वाले जीत गये और पुनर्जागरण बाधित होगा। 1855-56 का जो नया इंटेलिजोंसिया था। वह समझता था कि अंग्रेजों के रहने से पुनर्जागरण की शक्तियां मजबूत होंगी। वे रूसो, बाल्तेयर, जॉन स्टुअर्ट मिल को पढ़ते थे। उनका ख्याल था कि अंग्रेजों की वजह से नई अर्थव्यवस्था आयेगी और नये विचार आयेंगे और विद्रोह सफल हो गया तो उल्टा होगा। वह यह भूल गये कि उपनिवेशवाद पुनर्जागरण की ताकतों के हक में नहीं है। वह न आर्थिक विकास करेगा न ही आधुनिक विचारों का प्रसार करेगा। 1858 के बाद अंग्रेजों ने यह कहना शुरू किया कि हिन्दुस्तान में आधुनिक उद्योग लग ही नहीं सकते। इसके पहले कहा करते थे कि हम हिन्दुस्तान में डेमोक्रेसी लायेंगे, फ्री-प्रेस लायेंगे जिससे हमारा इंटेलिजेंसिया प्रभावित हुआ था। लेकिन फिर इंटेलिजेंसिया ने भी आलोचनात्मक अध्ययन करना शुरू किया। दादाभाई नौरोजी 1860-62 तक समझते थे कि अंग्रेज उन्नत हैं और ईस्ट इंडिया कम्पनी के उपनिवेश के रूप में आधुनिक अर्थव्यवस्था और विचारों से हम भी लाभान्वित होंगे। लेकिन 1870 के बाद उन्होंने उल्टा लिखना शुरू किया। इस बीच यह भी हमारे इंटेलिजेंसिया ने महसूस किया कि उपनिवेशवाद सामंती शक्तियों को मजबूत कर रहा है। देसी रियासत खत्म हो रहे थे और भारत राजनीतिक और प्रशासनिक तौर पर एक देश बनता जा रहा था। अंग्रेज फिर राजाओं के शासन को वापस ला रहे थे, एक तिहाई हिन्दुस्तान स्थायी तौर पर States में बंट गया। उन्हें समय नहीं लगा समझने में कि हिन्दुस्तान का एकीकरण कम हो रहा है बल्कि हिन्दू-मुस्लिम टकराव बढ़े, भाषायी और जातीय टकराव भी बढ़े, इसलिए जो नया इंटेलिजेंसिया था उसने उपनिवेशवाद का विरोध करना शुरू किया खासतौर पर आर्थिक मामलों में। उनका पहले ख्याल था कि इंग्लैंड अकेला आधुनिक देश है जहां आधुनिक उद्योग हैं, उस समय न अमेरिका में था न फ्रांस में। तो उन्होंने सोचा कि इनके सन्निध्य में आ गये हैं तो नम्बर दो हम हो जायेंगे। वे नई मशीनरी लायेंगे, उद्योग लायेंगे और अंग्रेज कहते भी थे, विलियम बेंटिक से लेकर डल्हौजी तक यही कहते थे-यह करेंगे, वह करेंगे। लेकिन उन्होंने देखा कि अंग्रेज पुराने उद्योगों को भी खत्म कर रहे हैं और नये उद्योग पनपने नहीं दे रहे हैं। इसलिए हमारा आधुनिक इंटेलिजेंसिया पुनर्जागरण के हक में नही था। अंग्रेजों ने सामंती शक्तियों, मौलवियों, पंडितों को प्रोत्साहित करना शुरू किया। अवार्ड देने की स्कीम चलाई, रायबहादुर, राय साहब बांटने लगे, पंडितों के लिए भी रखा और मौलवियों के लिए भी। फिर उन्होंने आधिकारिक रूप से कहना शुरू किया कि हिन्दुस्तान का इतिहास ऐसा है वह डेमोक्रेटिक हो ही

नहीं सकता, हमेशा उन्हें शासन चाहिए, Despot चाहिए। लेकिन वह उदार होना चाहिए। हम उदार हैं हम अशोक हैं, अकबर हैं, हम औरंगजेब नहीं हैं। यह लोकतंत्र के खिलाफ था, आधुनिक शिक्षा न फैले और बहाना यह बनाया कि प्राईमरी शिक्षा पर ज्यादा ध्यान देने के उद्देश्य से ऐसा किया जा रहा है। लेकिन वह भी नहीं हो सका। दोनों में कोई अंतर्विरोध नहीं था। राष्ट्रवादियों ने कितनी बार कहा कि यदि आप प्राइमरी शिक्षा फैलाना चाहते हैं तो जितनी संख्या में स्कूल शिक्षक आपको चाहिए वे कहां से आयेंगे। Higher education और Primery education में कोई अंतर्विरोध नहीं है, दोनों फैलने चाहिए। प्राइमरी शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए। गोखले ने 1912 में बिल रखा। वे विश्वविद्यालय के हक में थे। अब भी कई लोग कहते हैं कि विश्वविद्यालयी शिक्षा में रुपये ज्यादा लगते हैं। सच तो यह है कि प्राईमरी शिक्षा के प्रसार के चक्कर में उच्च शिक्षा की उपेक्षा के कारण विश्वविद्यालय बर्बाद हो रहे हैं। कोई आदमी नहीं मिल रहा है विज्ञान-टेक्नालॉजी, इंजिनियरिंग-मेडिसीन में। सच तो यह भी है कि उस पीरियड में इंटेलिजेंसिया ने अपनी गलती को बहुत जल्दी महसूस किया कि ईस्ट इंडिया कम्पनी हमारी मदद के लिए आई है। असली पुनर्जागरण 1858 के बाद आया जब ये मध्यवर्ग और निम्न-मध्य वर्ग तक पहुंचा। उसके बाद सैंकड़ों लोगों ने बी.ए. पास किया। नौकरियां छोड़कर हिंदी पत्रकारिता शुरू की। उर्दू पत्रकारिता में गये। कुछ लोगों ने राजनीति में भाग लिया। उस समय पत्रकारिता बहुत उन्नत क्षेत्र नहीं था। घोष ब्रदर्स ने साढ़े तीन रूपये में भूखों मर के अपनी पत्रिका शुरू की। यह कौन कहता है कि पुनर्रूत्थानवादी ताकतें बढ़ीं? कहां बढ़ीं? सब जगह पुनर्जागरण की ताकतें मजबूत हुईं। महराष्ट्र में भी, पंजाब में भी। दयाल सिंह ने 'ट्रिब्यून' शुरू किया। कॉलेज खोले। 1857 में सामंती ताकतें नेतृत्व में थी। लेकिन वे लड़े इसलिए कि उनकी स्टेट जा रही थी। राज जा रहा था। सिपाही और किसान इसलिए लड़ा कि भू राजस्व बढ़ा दिया गया था। हस्तशिल्पी लड़े क्योंकि हस्तकला उद्योग चैपट हो रहा था। इस आंदोलन में कई किस्म की ताकतें इकट्ठे मिलकर लड़ी। इस आंदोलन ने चेतना का विस्तार किया और सबने महसूस किया कि यह रास्ता अब नहीं चलेगा। क्योंकि अंग्रेजों ने जमींदारों और राजाओं को खरीद लिया था। उन्हें ऐश करते रहने की छूट दी और जमींदारों से जमींदारी न छीनने का वादा किया। पहले जो छीनी गयी थी उसे भी वापस कर दिया गया। इसलिए जो नये आंदोलन हुए वह इंटेलिजेंसिया के नेतृत्व में लड़े गये।

- फरवरी, 2007

अध्याय - 40

जाति केवल मानसिकता नहीं

चिंतक *योगेन्द्र यादव* से *अनीश अंकुर* की बातचीत

अनीश अंकुर : *आपने-अपने यहां पटना में दिए व्याख्यान में जाति को सिर्फ सामाजिक श्रेणी (सोशल कटेगरी) के रूप में देखा जबकि यह एक आर्थिक श्रेणी (इकोनॉमिक कटेगरी) भी है। आप हमेशा शब्द इस्तेमाल करते हैं 'ब्राह्मणवाद।' जबकि यह एक स्थापित सा तथ्य है कि 'जाति' भारतीय सामंतवाद की विशिष्ट अभिव्यक्ति है। सामंतवाद का जिक्र आप प्रायः नहीं करते। क्या यह सचेत है?*

योगेन्द्र यादव : हम आरक्षण या ऐसे किसी भी मामले पर मीडिया या बुद्धिजीवियों में पूर्वाग्रह को सीधे-सीधे उनकी जाति व उसमें एक सचेत जातिवाद से जोड़कर देखते हैं। अमूमन ऐसा विचार बन गया है कि जातिवादी पूर्वग्रह इसलिए आते है क्योंकि किसी न किसी स्तर पर यह अगड़ों का जातीय षडयंत्र है। मैं इस धारणा से दूर हटना चाहता था। मैने कहा कि जातीय चेतना जाति के असर का केवल एक स्तर है इसके अलावा अवचेतन स्तर पर जातीय संस्कारों का बड़ा असर होता है। तीसरी और सबसे महत्वपूर्ण चीज है जातीय ढांचा। एक ढांचे के बतौर जाति कैसे उन परिस्थितियों का निर्माण करती है जिसमें हम सोचते हैं। जाति के कई और परिणाम होते हैं। जाति की खुद की बुनावट कई चीजों को लेकर बनी है जिसमें परंपरागत पेशा बहुत जरूरी चीज है। अगर मुझे समय मिले, जाति व्यवस्था के बारे में विस्तार से कहने के लिए, तो शायद मैं इन चीजों का जिक्र करूं। आरक्षण के सवाल पर मैंने खुद कहा था कि अब मेरी मान्यता है कि पिछड़ों के लिए आरक्षण केवल जातीय आधार पर नहीं होना चाहिए क्योंकि हमारे समाज में जो भेदभाव है वह अनेक स्तरों पर व अनेक कारणों से बना है जिसमें आर्थिक कारण भी शामिल हैं। लेकिन एक बात आप ठीक कह रहे हैं कि 'सामंतवाद' शब्द का मैंने जिक्र नहीं किया।

यह निश्चय ही किसी न किसी स्तर पर सचेत रहा होगा। मुझे अक्सर महसूस होता है कि भारतीय समाज की विशिष्टता को समझने के लिए सीधे-सीधे यूरोपीय इतिहास से रूपक उठाकर इस्तेमाल करना हमारी बहुत मदद नहीं करता। क्योंकि रूपक की अपनी ताकत होती है। वह किन्हीं स्मृतियों से नहीं चले आते। अगर आप यह कहें कि मै सामंतवाद शब्द व उससे जुड़े तमाम सिद्धांतों के बोझ से बचना चाहता हूं तो यह गलत नहीं होगा। मुझे यह जरूर महसूस होता है कि हमारे यहां के इतिहास लेखन में जिस किस्म से सामंतवाद शब्द का प्रयोग हुआ है वह बहुत उपयोगी नहीं है। खासतौर पर जाति व्यवस्था की विशिष्टता को समझने के लिए। इसकी उपयोगिता पर मुझे शंका होती है। इसका मतलब यह नहीं कि किसी भी बड़े फ्रेम का इस्तेमाल नहीं करना चाहिए। मैं किसी भी मामले में पोस्ट मार्डर्निस्ट नहीं हूं और अपने लेखन व सोच में इसका आलोचक रहा हूं। तो आग्रह यह नहीं है कि किसी बड़े फ्रेम का इस्तेमाल न किया जाए लेकिन सामंतवाद वह बड़ा फ्रेम हो सकता है, इसमें मुझे संदेह है।

अनीश अंकुर : *आपने कहा कि सामंतवाद से बचना सचेत कोशिश है। मैं थोड़ा और जानना चाहता हूं। इस जातीय चेतना को पुनरूत्पादित करने वाली कौन सी शक्तियां हैं? आप कहते हैं कि आधुनिकता 'जाति' को मजबूत बनाती है। जाति एक पूर्व आधुनिक श्रेणी (प्री-मॉडर्न कटेगरी) है। जब आधुनिकता आई तो स्वभाविक प्रक्रिया में जाति को खत्म हो जाना चाहिए था। क्या कारण है कि यह आधुनिक युग में भी बनी हुई है। आपने जाति को महज 'मानसिकता' का प्रश्न बताया। मैं यही जानना चाहता हूं कि इस मानसिकता को बनाए रखने वाली, इसे खुराक पहुंचाने वाली शक्तियां कौन सी हैं?*

योगेन्द्र यादव : मेरे हिसाब से जाति को पूर्व आधुनिक कहना गलत है। या यूं कहें कि पूर्व आधुनिक और आधुनिक शब्द का इस्तेमाल एक विश्लेषण के तौर पर करना बहुत ज्यादा उपयोगी नहीं है। किसी चीज को पूर्व आधुनिक इसलिए कहना कि वह औपनिवेशिक राज से पहले हिंदुस्तान में थी तो इस वर्णात्मक अर्थ में तो है पूर्व आधुनिक। लेकिन जब हम किसी चीज को आधुनिकता से पूर्व या कई बार परंपरागत संस्थाएं बोलते हैं तो उसके पीछे सिद्धांत, एक पूरे सिद्धांत का बोझ होता है; जो बताता है कि कौन सी चीजें पुरातन हैं। हमें आज के समाज का विश्लेषण करते वक्त जहां तक हो सके इस बोझ को परे रख कर सोचना चाहिए। मैं नहीं समझता जाति केवल

मानसिकता है। जाति एक सामाजिक ढांचा है, संगठन है। केवल मानसिकता होती तो उसका शुद्ध विचारधारा से विरोध किया जा सकता था लेकिन चुंकि वह शुद्ध मानसिकता नहीं है उसके पीछे बहुत बड़ा सामाजिक संगठन है, जो दिन-रात अपने आपको पुनरूत्पादित करता है जो परंपरागत पेशे से जुड़ा है। व्यवसाय, शिक्षा में अवसरों और उनकी अनुपस्थिति, समाज में ऊंच-नीच, शक्ति समीकरण से जुड़ा है इसलिए जाति व्यवस्था, जब तक उसमें कोई व्यवस्थित हस्तक्षेप नहीं किया जाए यह व्यवस्था अपने आपको पुनरूत्पादित करती रहेगी। इसमें आधुनिकता के दो किस्म के बहुत बड़े योगदान हैं जिसे हमें समझना चाहिए। पहला आधुनिक शिक्षा का योगदान। जिसे हमने सोचा था कि जाति व्यवस्था को तोड़ने का सबसे बड़ा औजार बनेगी वही आधुनिक शिक्षा व्यवस्था दरअसल जाति व्यवस्था को पुख्ता करने का औजार बनी, दो-तीन मायनों में। एक तो यह कि हमारे समाज में आधुनिक शिक्षा, तामाम किस्म के जो विशेषाधिकार थे, उनका जरिया बनी। जिसके पास अंग्रेजी थी उनको जिंदगी में बेहतर नौकरी के अवसर मिले। चूंकि अंग्रेजी और आधुनिक शिक्षा समाज के उन्हीं वर्गों, जातियों, समुदायों को मिल पाई जो आज से 100-150 साल पहले इस स्थिति में थे कि वह इस शिक्षा को ग्रहण कर सकें। इसलिए हमारे यहां अंग्रेजी और आधुनिकता एक जातीय ढांचे में घुल मिल गई। इस वजह से यह असर हुआ। दूसरा आधुनिक राजनीति। आधुनिक राजनीति ने जो प्रतिस्पर्धात्मक परिस्थिति पैदा की, चुनावी राजनीति का जो गणित है उसने यह मांग पैदा की कि आपको अपने लिए वोट बैंक ढूंढना है, न मिले तो उसका आविष्कार करना है। इसलिए कई जगह जातियों का आविष्कार किया गया या तो खोज की गई। जिस जाति को बिहार में आजकल यादव कहा जाता है वह दरअसल तीन उपजातियों या समुदायों का राजनैतिक गठबंधन है। समझौतावादी राजनीति के चलते जिसका अविष्कार किया गया। इसी तरह से आप तमाम राज्यों में देखिए। चुनावी राजनीति जिसको हम पार्टी पॉलिटिक्स कहते हैं। हम भूल जाते है कि 'Party' शब्द अंग्रेजी 'Part' शब्द से निकला है यानी कि 'Party' आस्तित्व में आती ही इसलिए है ताकि वो समाज का विभाजन कर सके। विभाजन एक संयोग नहीं है, वह इसका मूलमंत्र है। आधुनिक राजनीति इस मान्यता पर आधारित है कि समाज को टुकड़ो में बाटेंगे, उसमें प्रतिस्पर्धा कराके सत्ता का निर्धारण करेंगे इसलिए चुनावी राजनीति दुनिया के हर इलाके में यह मांग करती है कि उसके लिए विभाजन किया जाए या तो बने बनाए विभाजनों को प्रज्जवलित किया जाए या फिर विभाजनों का अविष्कार

किया जाए। चाहे वह श्वेत-अश्वेत हो, फ्रेंच भाषा भाषी हो फ्लेमिस्ट भाषा भाषी का सवाल हो बेल्जियम में। चाहे वह नस्ल का सवाल हो, रंग काया धर्म का। दुनिया के तमाम देशों में आधुनिकता एक समुदाय के निर्माण की मांग पैदा करती है। हमारे यहां आधुनिकता ने जाति समुदाय के निर्माण की मांग का स्वरूप लिया है इसलिए आधुनिकता ने जाति को पुष्ट किया है और यही करना था। पता नहीं क्यों नेहरू के जमाने में हम इस भोलेपन में थे कि ये आधुनिकता के मंजर इन संस्कारों को समाप्त कर देंगे। यह उस जमाने का भोलापन था और कुछ नहीं। हकीकत उससे अलग थी। यह होना स्वाभाविक था।

अनीश अंकुर : *यहां पर मैं सवाल के रूप में एक बात रखना चाहता हूं। कल आपने व्याख्यान में कहा था कि लालू यादव इसलिए हारे क्योंकि वे गलत लोगों के हाथों में फंस गए थे। उनके इरादे (इन्टेंशन) गलत नहीं थे जबकि कल ही आपने कहा था कि मैं सही-गलत इरादे के सिद्धांत, या तर्क को नहीं मानता। यह अंर्तविरोध क्यों है? क्या आपको नहीं लगता कि सामंतवाद शब्द इस्तेमाल न कर पाने की वजह से आपको इरादे वाले तर्क का सहारा लेना पड़ा। जैसे मैं एक उदाहरण देना चाहूंगा। देखने का एक नजरिया यह है कि लालू यादव एक खास ऐतिहासिक अवसर पर लंबी-लोकतांत्रिक प्रक्रिया के दौरान आए। स्वामी सहजानंद का किसान आंदोलन, त्रिवेणी संघ, समाजवादी आंदोलन, कम्युनिस्ट आंदोलन व जयप्रकाश आंदोलन यानी लोगों के बीच जो सामंतवाद विरोधी चेतना थी उसकी अभिव्यक्ति लालू यादव में हुई। पर बाद में लालू यादव ने उन्हीं सामंती शक्तियों के साथ समझौता किया। रणवीर सेना इन्हीं के वक्त सबसे खूंखार रूप में आयी। यदि हमारे इलाके में जाएं वहां के बड़े सामंत लालू के साथ हैं। यदि आप पिछले चुनाव के 3-4 सीटों का विश्लेषण करें तो आप पाएंगे कि तमाम उच्च जातियों का ध्रुवीकरण उच्च जातियों का विरोधी मानी जाने वाली राजद के पक्ष में हुआ। विशेषकर जहां उसकी लड़ाई एमएल से थी – यदि आप सामंतवाद से बचेंगे तो इसे कैसे समझेंगे?*

लालू यादव की हार के कई विश्लेषणों में एक महत्वपूर्ण विश्लेषण यह है कि जिस सामंतवाद विरोधी मंच पर लालू आए बाद के दौर में उन्हीं शक्तियों से समझौते की वजह से निचली जातियों, तबको से उनका अलगाव बढ़ा। परिणामस्वरूप उनकी हार हुई।

योगेन्द्र यादव : लालू यादव चुनाव हारे इसलिए कि समाज के अलग-

अलग तबकों का एक बड़ा गठबंधन जो उन्होंने बनया था वह गठबंधन बिखरने लगा। उस गठबंधन में सेंध लगी। क्योंकि लालू का राज लोगों की अपेक्षाओं को पूरा नहीं कर पाया। उसने एक सीमित अपेक्षा को पूरा किया और वह था जातीय वर्चस्व की घुटन से मुक्ति दिलाने का सपना। उसको उन्होंने आंशिक रूप से पूरा किया। उस लिहाज से 1991 में लालू की जीत, 1989 में जो जीत थी वो अधूरी थी, बहुत बड़ी जीत थी। लालू प्रसाद की पहली सरकार को यदि आप सामाजिक अर्थ में क्रांतिकारी कहें तो मैं उसको स्वीकार करूंगा। इसलिए नहीं कि सरकार ने कुछ क्रांतिकारी काम किया बल्कि इसलिए कि इस सत्ता परिवर्तन, कि सत्ता अगड़ों के संपूर्ण वर्चस्व से हटकर उसके बाहर हाशिये पर पड़े समूहों के हाथ में आ सकती थी, यह बात स्थापित करना बिहार के संदर्भ में क्रांतिकारी था। जैसे-जैसे समय बीता वैसे-वैसे यह क्रांतिकारी पक्ष जो था वह गौण होता गया। दो-तीन वजहों से। एक तो इसलिए कि वह धीरे-धीरे पिछड़ों की सत्ता होने की बजाए, पिछड़ों में एक जाति विशेष की सत्ता बनती गई और दरअसल जाति विशेष के साथ-साथ एक परिवार विशेष की सत्ता बन गई। और यह चेहरा बहुत खुल कर सामने आ गया था जो लोकतांत्रिक कतई नहीं था। दूसरा कि सरकार से लोगों की जो न्यूनतम अपेक्षा रहती है कम से कम सुरक्षा, थोड़ा बहुत विकास, वह लेशमात्र भी पूरी नहीं हुई। दरअसल गरीबों की असुरक्षा बढ़ी और यह बात गरीबों से बहुत समय तक ओझल नहीं रह सकती थी। इसके चलते, उन्हीं के जो पक्के समर्थक थे, उनका मोह भंग होना शुरू हुआ और उन्होंने विकल्प की तलाश शुरू की। बिहार की इतने सीमित विकल्पों की जो राजनीति है उसके चलते लोगों को नया विकल्प जल्दी से मिला नहीं, इसलिए 90 के दशक के चुनावों में बात नहीं बन पाई। 2000 में भी किसी तरह काम चला। इसलिए इतना लंबा अरसा लगा। नहीं तो मेरे ख्याल में 2000 आते-आते उस सरकार की जो कुछ भी, सामाजिक बदलाव की क्षमता थी, चूक गई थी। 95-96 तक काफी हद तक चूक चुकी थी उसके बाद कुछ बचा नहीं था सरकार में। लेकिन ये विकल्पहीनता थी बिहार की और जो सबसे बड़ा विकल्प था वो कहीं न कहीं अगड़ों के राज से जुड़ा था। यह भय इसको टाल रहा था। असली सवाल यह नहीं कि वह हारे क्यों बल्कि यह है कि वह इतना कम क्यों हारे? और इतनी देर से क्यों हारे अगर ऐसी सरकार कोई हरियाणा में चलाता, तमिलनाडु में चलाता तो उसे एक सीट भी नहीं मिलती। लालू सरकार का एक पक्ष जिसे 'शुद्ध सामंती' कहना चाहिए वह था उनका व उनके परिवार का व्यक्तिगत व्यवहार। उसका जो सांस्कृतिक पहलू

है वह शुद्ध रूप से सामंती है, था। उनका व्यक्तिगत व्यवहार, परिवार व दूसरे लोगों से, उनकी बेटियों की शादियां, तमाम जो शैली है लालू की, उसे सामंतवाद की नकल कहा जा सकता है और वह एक बहुत बड़ी त्रासदी की तरफ इशारा करता है कि जो हाशिया ग्रस्त समूह सत्ता पर कभी काबिज भी होते हैं तो उनके सामने सत्ता का कोई मॉडल नहीं होता। सरकार बना के, 'राजा' बन के क्या करना है इनके सामने कोई स्वस्थ मॉडल नहीं है। राजा बनके पिछले राजाओं की नकल करनी है। वह भी भोंडी नकल। यह बताता है कि हमारे यहां का पिछड़ा नेतृत्व वाकई वैचारिक, मानसिक राजनैतिक तौर पर पिछड़ा हुआ है। वह न सिर्फ समाज के पिछड़े तबके का नेता है बल्कि दुर्भाग्यवश वह बहुत पिछड़ा नेता है। लालू यादव उसकी जीती जागती मिसाल हैं। इसको मैं सामंतवाद कहने से इसलिए कतराता हूं क्योंकि सामंतवाद केवल एक शैली नहीं है। सामंतवाद केवल एक सांस्कृतिक आग्रह नहीं है। वह एक आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्था का नाम है। मुझे लगता है कि अगर लालू और उनके दरबारियों के व्यवहार के सामंती पक्ष को नोट कर लें, उसके बाद सामंतवाद जैसे भारी शब्द का इस्तेमाल करने से हमें विश्लेषण में भारी मदद मिलती है-ऐसा मुझे दिखाई नहीं देता। मेरे लिए कोई भी श्रेणी अपने आप में सच्ची या झूठी नहीं होती। वह उपयोगी अथवा अनुपयोगी होती है। मुझे अक्सर पश्चिम के इतिहास से ली गई इन बड़ी अवधारणाओं के बारे में यही लगता है कि वह दिखाती कम है छुपाती ज्यादा है। यह बात सच है कि राजनैतिक सत्ता अक्सर या कुछ बुनियादी मायने में ढांचागत सीमाओं के भीतर काम करती है लेकिन हम अक्सर इसे ढांचागत सीमाओं को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर देखते हैं। हम भूल जाते हैं कि उन सीमाओं के भीतर कितना कुछ किया जा सकता है। सामान्य दैनंदिन राजनीति उन सीमाओं के भीतर होने वाला खेल है अगर प्रश्न यह है कि लालू प्रसाद यादव की सरकार ने बिहार में बुनियादी आर्थिक क्रांति क्यों नहीं की तो उत्तर वही होगा, जो आपने कहा यानी जो यहां स्थापित आर्थिक-सामाजिक सत्ता के समीकरण से टक्कर नहीं लेगा। जिसका एक पक्ष सामंती है (पूरा नहीं) वो व्यक्ति आर्थिक सामाजिक जीवन में क्रांति नहीं ला सकता। लेकिन अगर आपका सवाल यह है कि उस सरकार ने 15 साल में सड़कें क्यों नहीं बनवाई? सरकार ने प्राइमरी स्कूल में व्यवस्था को दो सूत भी बेहतर क्यों नहीं किया? सरकार ने उच्च शिक्षा के संस्थानों का समस्त सत्यानाश क्यों कर दिया? यहां के प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओ की हालत बद से बदतर क्यों होती गई? इन सवालों का सीधा उत्तर आपको आर्थिक ढांचे में

नहीं मिलेगा। क्योंकि अगर आप इसका उत्तर आर्थिक ढांचे में ढूढना चाहेंगे तो फिर आपको देखना पड़ेगा कि देश के अन्य राज्यों में जहां कमोबेश इस किस्म का आर्थिक ढांचा है बिहार जितना बुरा नहीं लेकिन कमोबेश रहा है। वहां ये चीजे क्यों हो जाती हैं? हम जब राजनीति की ढांचागत सीमाओं की बात करते हैं या एक जमाने में मार्क्सवादी लोग 'बेस एवं सूपरस्ट्रक्चर' की बात करते थे हम कहते हैं In the last instance हम यह भूल जाते हैं कि राजनीति में उस Last instance से पहले अनेकानेक instance होते हैं जिसमें हम अपना जीवन जीते हैं। रोजमर्रे की राजनीति को समझना, उस पर टिप्पणी करना उन सीमाओं के भीतर का खेल है वो एक बहुत बड़ा सवाल है। ढांचे को क्यों नहीं तोड़ा? ये प्रश्न बिहार में 1952 से लेकर आज तक आ रही हर सरकार पर लागू होता है इससे यह आप समझ नहीं सकते कि लालू जी की सरकार 15 साल क्यों चली। जब गिरी तब क्यों गिरी? पहली बार क्यों नहीं गिर गई। हमारा ज्यादातर समय इन छोटे सवालों में गुजरता है इसलिए हमें उसे बारीकी से देखना पड़ेगा और कोई रास्ता मैं नहीं देखता।

अनीश अंकुर : *बिहार, पूर्वी उत्तरप्रदेश व बंगाल स्थायी बंदोवस्त (परमानेंट सेटलमेंट) का इलाका माना जाता है। जिसे लार्ड कार्नवालिस ने लागू किया था। बंगाल ने अपने आपको सचेत रूप से स्थायी बंदोवस्त से अलग किया। जो कि दूसरी जगहों पर संभव नहीं हो पाया। बिहार वगैरह चूंकि स्थायी बंदोवस्त का इलाका है कहीं इसी वजह से तो दिक्कत नहीं है?*

योगेन्द्र यादव : राजनीति का बुनियादी विश्लेषण करने में यही एक खोट रहती है कि हम भूल जाते हैं कि एक ही बुनियाद पर अलग-अलग किस्म की इमारत बन सकती है। प्रश्न पर निर्भर करता है और मुझे लगता है कि हम अक्सर जरूरत से ज्यादा बुनियाद के आधार पर चीजों को विश्लेषित करने की कोशिश करते हैं। इससे एक आत्मिक सुख मिलता है कि हमने बहुत अच्छी एक्सप्लानेशन दे दी। लेकिन दरअसल रोजमर्रे की राजनीति की बहुत गहरी एक्सप्लानेशन देना कई बार बड़ा खतरनाक होता है। जैसे स्थाई बंदोबस्त के सवाल से पश्चिम बंगाल की सरकार को जोड़ देना। यह मान कर चलना है कि जहां-जहां स्थाई बंदोबस्त था वहां-वहां इस किस्म का वामपंथी उभार होना अनिवार्य था। सीपीआई जो बिहार की बहुत महत्वपूर्ण पार्टी थी वो बिहार में विफल क्यों हुई। बंगाल में सफल क्यों हुई। इन सवालों का जवाब देने के लिए मैं फिर कहूंगा हम बुनियाद का सहारा न लें, तो वह समझदारी होगी और

पश्चिम बंगाल में सीपीएम इसलिए सफल है क्योंकि उसने सामंतवाद को खत्म कर दिया, मैं इससे सहमत नहीं हूं। देखिए बहुत बड़े जमींदार बचे ही नहीं थे। 1977 में बिहार जैसी स्थिति नहीं थी। पश्चिम बंगाल में सीपीएम ने यही किया कि बंटाईदार बेदखल नहीं हो सकें इसकी गारंटी कर दी। अब उसे सीधे-सीधे कार्नवालिस से जोड़ना वो राजनीति की अपनी Reductionists Reading है। मुझे खौफ होता है क्योंकि मैंने इस प्रकार के अध्ययन के दुष्परिणाम देखे हैं। एक गैर यूरोपीय मुल्क के इतिहास और राजनीति को समझने के लिए यूरोप से ली गई विचारधारा को Reductionist तरीके से इस्तेमाल करना बहुत खतरनाक हो सकता है।

अनीश अंकुर : *अब थोड़ी बात आरक्षण संबंधी बहस पर कर लें। 1990 में आरक्षण विरोधी आंदोलन हुआ था। उसके बाद आरक्षण करीब-गरीब हमारे राजेमर्रा की बातचीत का हिस्सा बन चुका है। 16 वर्षों बाद फिर से दुबारा आरक्षण विरोधी उभार हुआ। इन दोनों उभारों में बुनियादी फर्क क्या है? वह क्या चीज है कि 16 वर्षों बाद दुबारा उसी ताकत से उभर कर आ जाती है?*

योगेन्द्र यादव : पहले देखिए कॉमन क्या है। हमारे समाज में अभी भी हालांकि आरक्षण व्यवस्था लागू है लेकिन सामाजिक न्याय के बारे में समाज में एक राय नहीं बन पाई है। खास तौर पर समाज के उस तबके में जिसे इसका कोई फायदा नहीं मिला। उस तबके में इसको लेकर एक छटपटाहट है। शहरी मध्यम वर्ग और अगड़ी जाति के लोगों में इसको लेकर कहीं दबा छुपा गुस्सा है। जैसे ही वक्त मिलता है वह गुस्सा बाहर आ जाता है। यह व्यवस्था भले ही 60 साल पुरानी हो लेकिन हमारे अगड़े समाज का मानस इसे स्वीकार नहीं कर पाया है। इसकी वजह से जब भी मौका मिलता है यह बाहर आ जाता है। दूसरा, जो हमारा मीडिया है उसकी ताकत बहुत बढ़ी है, पिछले कुछ सालों में। मीडिया जो सवर्ण पूर्वग्रहों का काफी शिकार है, इसको काफी हवा देता है। आपने देखा होगा कि इस बार आरक्षण के खिलाफ जो आंदोलन हुआ उसे मीडिया ने लगभग आग्रह करके चलवाया। शुरू में तो लोग इस आंदोलन में शामिल नहीं हो रहे थे लेकिन जब टीवी चैनल चार-पांच लोगों के विरोध को रैली के रूप में दिखाने लगे तो जाहिर है उसमे थोड़ी जान आ गई। तो मीडिया उसका बहुत बड़ा पक्ष है। तीसरा, हमारी राजनैतिक मुख्यधारा है जो हमारे राजनैतिक दल हैं उनमें एक वैचारिक कमजोरी आई है। कहने को हर कोई इसके प्रति प्रतिबद्ध है क्योंकि किसी की हिम्मत नहीं है इसका विरोध करने

की। हरेक को वोट दिखाई देता है लेकिन थोड़ा सा आप खुरचिए तो दलों के अंदर इस सवाल को लेकर उहापोह है। यह कुछ हद तक कांग्रेस में और बहुत हद तक बीजेपी में है। इन दोनों पार्टियों ने, जिन्होंने औपचारिक रूप से इसका समर्थन किया है, लेकिन कहीं न कहीं दुविधाग्रस्त हैं। तो ये तीनों पक्ष हैं जिसकी वजह से ये चीजें बार-बार आती हैं। अब अंतर क्या है? एक तो यह कि मीडिया की ताकत पहले से तो बढ़ी है लेकिन मीडिया का पूर्वग्रह पहले से कम हुआ है। सामाजिक न्याय के प्रवक्ता इस बात को मानते नहीं हैं लेकिन मेरी अपनी समझ है कि मीडिया खास तौर पर संपादकीय पृष्ठों में जहां मीडिया राय देता है, 90 की तुलना में ज्यादा संतुलित था। लेकिन मीडिया की ताकत कई गुना बढ़ गई तो उसका कम असंतुलित होना भी भारी पड़ा। दूसरा रोचक अंतर है कि इस बार आरक्षण का विरोध करने वाले अपने आपको समतावादी कह रहे थे। मतलब कि आरक्षण के विरोधियों ने 16 साल में कुछ सीखा। मुझे लगता है कि आरक्षण के समर्थकों ने 16 साल में बहुत कुछ नहीं सीखा। वे लगभग वहीं खड़े हैं जहां 16 साल पहले थे। वही बेचारगी, वही स्थूल तर्क और वहीं छुपाने की प्रवृत्ति यानी ओबीसी के भीतर जो तमाम सतहें हैं उनके बारे में चुप्पी साधने की प्रवृत्ति। वे इसके बारे में आंकड़े तर्क और सिद्धांत गढ़ने में असफल रहे लेकिन मंडल-2 का एक असर जरूर हुआ कि कहीं न कहीं सबके मन में ज्यादा डर बैठा हुआ है कि ये कुछ ऐसा है जिसको हाथ लगा दोगे तो पता नहीं कहां डसेगा इसलिए राजनैतिक सत्ता और आंदोलनकारी, सब इसकी सीमाओं के प्रति कहीं ज्यादा सजग हैं।

अनीश अंकुर : *योगेन्द्र जी क्या आपको लगता है कि आरक्षण विरोध का इस बार एक अर्थशास्त्र था। उदाहरण के लिए मैं बताऊं जब 93वां संविधान संशोधन आया तो उसमें कहा गया कि जितने वित्तरहित प्रोफेशनल कॉलेज हैं उसमें भी 50 प्रतिशत आरक्षण लागू होगा। एक अध्ययन के अनुसार निजी वित्तरहित प्रोफेशनल संस्थानों में 5 लाख 15 हजार छात्र हैं। 20 हजार के लगभग मेडिकल छात्र हैं। मान लीजिए यदि एक छात्र के लिए इन संस्थानों में 3 लाख रुपया भी लिया जाता है तो कितनी बड़ी पूंजी इसमें शामिल है, इसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है। और क्या ये संयोग नहीं है कि मुंबई में जो आरक्षण विरोधी आंदोलन हुए उसे प्रोफेशनल event managers ने ऑर्गेनाइज किया। चूंकि निजी संस्थानों को भी आर्थिक घाटा उठाना पड़ता आरक्षण लागू होने पर। अतः प्राइवेट में आरक्षण की बात पहुंचे इससे पहले*

सरकारी संस्थानों में ही आरक्षण के मुद्दे को ब्लॉक कर दिया जाए। क्या इसके पीछे एक सुचिंतित अर्थशास्त्र नहीं था? जिसकी ओर आप लोगों ने भी कम ध्यान दिया, मेरे ख्याल से सिर्फ पूर्वग्रह पर ही ज्यादा जोर रहा?

योगेन्द्र यादव : यह आसान अर्थशास्त्र तो नहीं ही था। आरक्षण विरोध के पीछे कुछ बहुत बड़े स्वार्थ काम कर रहे थे। उन स्वार्थों में आर्थिक स्वार्थ का हिस्सा भी था। अगर निजी वित्तरहित संस्थानों में भी आरक्षण होता तो ये स्पष्ट नहीं है कि वो आरक्षण में भी अधिक फीस क्यों नहीं मांग सकते। सीधा-सीधा आर्थिक घाटा उनको हो रहा है ये अभी स्पष्ट नहीं है। घाटा यह था कि उनको जाति विशेष के लोगों को लेना पड़ता। जो आर्थिक घाटा नहीं है एक दूसरे किस्म का घाटा है। जब तक आप जाति का द्वार नहीं खोलेंगे तब तक आप उस घाटे को घाटे की तरह समझ नहीं सकते। इसके पीछे दूसरी रणनीति थी वो यह कि निजी क्षेत्र की नौकरियों में आरक्षण की बात भारत सरकार ने ठीक उसी समय चलाई थी। मुझे ऐसा महसूस होता है कि समझ यह थी कि यहीं पर इतना बवाल खड़ा कर दो, अगर इस बवाल खड़ा करने से शैक्षणिक संस्थानों में आरक्षण रूकेगा नहीं तो भी सरकार व राजनेता सचेत हो जाएंगे। भई ये तो बड़ा लफड़ा है। निजीक्षेत्र की अपने यहां तक आरक्षण न पहुंचने देने की एक रणनीति इसमें थी जो शायद सफल हुई लेकिन वह भी शुद्ध आर्थिक नहीं है।

टाटा को अगर ओबीसी के उम्मीदवारों को बहाल करना पड़े तो टाटा को आर्थिक घाटा क्या है, यह मुझे अभी स्पष्ट नहीं है। जब तक आप उनकी मानसिकता में जातीय पक्ष को नहीं देखेंगे तब तक आप इस नफे-घाटे को समझ ही नहीं पाएंगे। हिन्दुस्तान की राजनीति व समाज का विश्लेषण करने में जब तक आप आर्थिक पक्ष के अलावा कुछ भारतीय संदर्भ में आर्थिक पक्ष को नहीं समझेंगे जिसको हमारे मित्र कहते थे 'Social logic of capitalism' अन्यथा टाटा को ओबीसी को आरक्षण देने में क्या जाता है, लेकिन उसका कुछ जाता है। वो परेशान है। क्यों परेशान है, आर्थिक घाटे की वजह से नहीं। ये कोई दूसरा गेम है।

अनीश अंकुर : *1990 के बाद, ग्लोबलाइजेशन की प्रक्रिया शुरू होने के साथ मीडिया की भूमिका में क्या बदलाव आया है? आपने कहा कि अब मीडिया ताकतवर हो गया है। क्या मीडिया ऐसी स्वतंत्र चीज (Independent entity) है जो ताकतवर या कमजोर हो सकती है? या कहीं यह ताकतवार*

इस कारण तो नजर नहीं आती क्योंकि यह ताकतवर लोगों के पक्ष में खड़ी है? जैसे ही यह कमजोर लोगों का मुद्दा उठाती है इसे अपनी हैसियत, अपनी औकात पता चल जाती है, किसानों की आत्महत्या का मामला हो या फिर अन्य मुद्दे राज्य उन पर कोई ध्यान ही नहीं देता।

1990 के बाद के दौर में जिसे मीडिया के शक्तिशाली हो जाने का दौर कहा जाता है। इस दौर में कहीं यह मीडिया का शक्तिशाली लोगों के पक्ष में निर्णायक झुकाव मयासंबद्धता (decisive shift) तो नहीं है?

योगेन्द्र यादव : मैं निश्चित मानता हूं कि मीडिया ताकतवर हुआ है। निश्चित ही वह ताकतवर लोगों के पक्ष में खड़ा है लेकिन यह मानना कि केवल ताकतवर लोगों के पक्ष में खड़े होने की वजह से वो ताकतवर बना है यह बात कतई गलत है। आज से 20 साल पहले भी मीडिया ताकतवर लोगों के पक्ष में खड़ा था। हिन्दुस्तान का मीडिया कभी भी गरीब-गुरबे का मीडिया नहीं रहा है लेकिन उस वक्त मीडिया की यह औकात नहीं थी कि सरकारों को झुका दे, राजनेताओं पर इतना दबाव बनाए कि उनके लिए असंभव हो जाए उसका प्रतिकार करना। ये बात सच है कि जब मीडिया की आवाज समाज में ताकतवर आवाज के साथ जुगलबंदी करती है तो उसका असर बढ़ जाता है लेकिन मीडिया की अपनी ताकत को आप कम करके मत आंकिए। फिर मैं यही कहूंगा कि ये तो विश्लेषण है क्योंकि जो आपका प्रश्न है उसके पीछे यह समझ है कि एक शासक वर्ग है जिसके हाथ में कई औजार हैं और महत्वपूर्ण बात वह औजार नहीं वह वर्ग है जो उन औजारों को चला रहा है। मीडिया उनमें एक औजार है। मैं समझता हूं यह एक अधूरी समझ है। गलत नहीं है। इसलिए कि हर औजार अपनी एक स्वायत्तता लेकर आता है। यह बात सच नहीं है कि मीडिया ने जब-जब गरीब की आवाज उठाई है तो उसका असर कुछ नहीं हुआ है। यह बात सच नहीं है कि मीडिया ने किसानों की आत्महत्या के मामले को उठाया। केवल दो अखबारो ने उठाया, केवल कुछ दिनों के लिए उठाया। अगर हिंदुस्तान का मीडिया जिस किस्म से आरक्षण जैसे छोटे सवाल को डेढ़ महीने तक पहले पेज की सुर्खियां बनाए रख सकता है तो अगर उस तरह से किसानों की आत्महत्या को 15 दिनों के लिए सुर्खियां बना देता तो आप देखते कि देश की सरकार हिल जाती। यह सच नहीं है कि मीडिया ने राजस्थान के अकाल की कोई खबर नहीं बनाई। हकीकत ये है कि मीडिया ने देश की गरीबी पर बहुत व्यवस्थित रूप से पर्दा डाला है। गरीब के सच को लोगों की आंखों से ओझल किया है। इसलिए मेरा मानना है कि मीडिया खास

तौर से इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के आने के बाद से मीडिया की ताकत बढ़ी है। आप कह सकते हैं कि जो शासक होते हैं वो अलग-अलग मुंह के जरिए अपनी बात रखते हैं। कभी-कभी मीडिया भी वैसा ही प्रतीत होता है लेकिन अगर ऐसा भी है तो हमारे लिए जरूरी है ये देखना कि कब शासक वर्ग किस मुंह से बोलता है और कब कौन सा मुंह पीछे हो जाता है। अगर हम यह विश्लेषण नहीं करेंगे तो फिर हम रोजमर्रा की राजनीति के दांव-पेंच को नहीं समझ पाएंगे।

अनीश अंकुर : *आरक्षण के समर्थन में जो बड़ी-बड़ी रैली आयोजित हुई, मीडिया ने उसे लगभग उपेक्षित किया। पिछले 16-17 वर्षों में मीडिया की जो सामाजिक भूमिका रही है उसमें क्या बदलाव आया है? वैसे तो मीडिया के भीतर अभी भी पहले की तरह एक प्रतिबद्ध समूह है, जो मिशनरी भाव के साथ काम करता है। लेकिन सामान्य प्रवृति देखें तो पिछले डेढ़ दशकों के बदलाव को आप कैसे देखते हैं? बड़े सवालों पर भयानक व रहस्यमय चुप्पी और गैर महत्वपूर्ण सवालों को जरूरत से ज्यादा उछालना। इसे कैसे देखते हैं आप?*

योगेन्द्र यादव : आप ठीक कह रहे हैं। मैं इसको एक दूसरी चीज से जोड़कर देखता हूं जो लोग नहीं देखते। वो ये कि पिछले 15 सालों में मीडिया का अभूतपूर्व विस्तार हुआ है। अखबरों का पाठक वर्ग और टीवी के दर्शकों की संख्या में एक अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। पहले 50 साल में मीडिया का जितना विस्तार हुआ होगा लगभग उतना विस्तार पिछले 10-12 साल में हो गया। छोटा मीडिया कुछ चंद लोगों के एजेंडे से चल सकता था। उन चंद लोगों में से कुछ सदाशय लोग होते तो उनका एजेंडा बड़े पैमाने पर दिखता। लेकिन मीडिया का अभूतपूर्व विस्तार हुआ, प्रतिस्पर्धा बहुत बड़े पैमाने पर बढ़ी, जिस प्रतिस्पर्धा के चलते मीडिया इस बारे में बहुत सचेत हुआ कि उसका श्रोता-पाठक कौन है? चूंकि मीडिया वालों को अब पता लग गया है कि उसका श्रोता खासकर उसके विज्ञापनों का श्रोता पाठक वर्ग मुख्यतः शहरी मध्यम वर्ग है। इसलिए मीडिया पहले से कहीं ज्यादा सचेत रूप से शहरी मध्यम वर्ग को निशाना बना रहा है व उसके चलते जो शहरी मध्यम अगड़े वर्ग की चिंताएं है वो चिंताएं अब मीडिया में बड़ी बेशर्मी से परोसी जा रही हैं। पहले इस बारे में लाज-संकोच था क्योंकि आज से 15 साल पहले संपादक प्रसार के आंकड़े नहीं देखा करते थे। 15 साल पहले समाचार संपादक टीआरपी भी नहीं देखा करते थे। उन्हें पता भी नहीं होता था कि टीआरपी आखिर किस बला का नाम है। आज चूंकि मीडिया ज्यादा प्रोफेशनल है इसलिए वो ज्यादा बेशर्म है।

इसलिए वो देश के सामान्य व्यक्ति के सरोकार से ज्यादा कटा हुआ है वो समाज के एक छोटे वर्ग की इच्छाओं पर नाच रहा है।

- मई, 2007

अध्याय – 41

साहित्य प्रायः उनका पक्ष लेता है जो हारे हुए हैं

कवि *अरुण कमल* से *प्रमोद रंजन* की बातचीत

प्रमोद रंजन : *आपको 20वीं सदी के एक महत्वपूर्ण कवि के रूप में रेखांकित किया गया और 21वीं सदी में भी आपकी रचना सक्रियता बनी हुई है। इस दौरान विश्व पटल पर कई महत्वपूर्ण घटनाएं हुईं। हिंदी की मुख्यधारा की रचनाशीलता को दिशा देने वाला समाजवाद हाशिए पर चला गया है। अब भूमंडलीकरण को निर्मित करने वाली आर्थिक शक्तियां एक भिन्न किस्म का समाजशास्त्र भी गढ़ रही हैं। आप इन परिवर्तनों को कैसे देखते हैं?*

अरुण कमल : किसी भी साधारण आदमी के जीवन में अचानक न तो एक सदी खतम होती है, न दूसरी शुरू। सब कुछ एक साथ लगातार चलता रहता है। दुनिया का बदलना और आपका लिखना पढ़ना भी। सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप की समाजवादी सरकारें आज नहीं हैं। लेकिन यह भी सच है कि क्यूबा, चीन और वियतनाम हैं। और दक्षिणी अमेरिका में नये वामपंथी रूझान हैं। नेपाल में बदलाव है। भारत में भी वामपंथियों को आज संसद में पहले के मुकाबले ज्यादा जगहें हैं। पूरी दुनिया में पूंजीवाद त्रस्त है। और सबसे बड़ी बात यह कि हार जाने से न तो आदर्श समाप्त होते हैं न स्वप्न। साहित्य किसी बाह्य राजनीतिक सत्ता से नहीं, इन्हीं आदर्शों और स्वप्नों से प्रेरित होता है। अंधेरे में ही सबसे उज्जवल, सुगंध भरे फूल फूटते हैं। साहित्य प्रायः उनका पक्ष लेता है जो हारे हुए हैं, जो अपना सब कुछ खो चुके हैं। 'हो न सके जो पूर्ण काम उनको प्रणाम।'

प्रमोद रंजन : *मौजूदा स्थिति में क्या भूमंडलीकरण का कोई व्यवहारिक विकल्प हो सकता है? इसे एकमात्र विकल्प मानने वाले भी इसमें निहित साम्राज्यवाद के खतरे को चिन्हित करते हैं। ऐसे में भारतीय जनता का स्टैंड*

क्या होना चाहिए? इस संदर्भ में सत्तागत नीतियां क्या होनी चाहिए?

अरुण कमल : आरम्भ से ही समूची दुनिया को एक में जोड़ने-बांधने का सिलसिला चल रहा है। पूंजीवाद ने यह काम सबसे ज्यादा और सबसे तेजी से किया जो मानव इतिहास में अभूतपूर्व है। इसके अनेक फायदे हैं। यह जरूरी भी है। तकनीकी क्रांति ने इसमें बहुत हाथ बंटाया है। आज पूंजी और श्रम-शक्ति दोनों अबाध गति से पूरे भूमंडल में संचरण कर रहे हैं। इसका अर्थ यह भी है कि पूंजीवाद के विरोध की शक्तियां भी एक साथ पूरे भूमंडल में फैल सकती हैं। हम पीछे नहीं लौट सकते। हम वापस स्वयंसम्पूर्ण ग्राम-व्यवस्था में नहीं जा सकते। जरूरत इस बात की है कि जो लोग नया संसार-समानता-स्वतंत्रता के मूल्यों पर आधारित शोषणमुक्त संसार-बनाना चाहते हैं वे भी एकजुट हों। ऐसी कोशिशें चल रही हैं।

प्रमोद रंजन : *सूचनाओं के महाविस्फोट ने मध्यवर्ग को एक तरह के वर्चूअल (आभासी) संसार का निवासी बना दिया है। कहा जा रहा है कि जल्दी ही प्रतिरोध की बची-खुची कवायदें भी समाचार माध्यमों के दृश्य पटल का हिस्सा भर रह जाएंगी। क्या यह श्रेयकर होगा कि इस आभासी संसार का आनंद 'सभी' को उपलब्ध हो पाए? ऐसा होना किस तरह मनुष्यता के खिलाफ जाएगा? रियल से वर्चूअल की यह यात्रा कितनी प्रायोजित है?*

अरुण कमल : एक तरफ टेलिविजन, विज्ञापन आदि का 'आभासी' संसार है तो दूसरी तरफ स्वयं कठोर भौतिक जीवन का 'वास्तविक' संसार भी है। स्वयं अमेरिका और यूरोप का मध्यवर्ग इन दो संसारों के द्वंद्व को महसूस करता है जिसका एक प्रमाण इन समृद्ध देशों का अवसाद भरा, कुटुम्बहीन अकेलापन है। मध्यवर्ग को वास्तविक जीवन का पूरा अंदाज है– नौकरी में असुरक्षा, काम के बढ़ते घंटे, अवकाश का अभाव, प्रेम की कमी, जीवन में जोखिम जिसे टी.एस. इलियट ने बहुत पहले भांपा था– 'वेयर इज द लाइफ वी हैव लॉस्ट इन लिविंग?' कहां है वो जीवन जो हमने जीने में खो दिया? इसलिए पूंजीवाद का विरोध अंततः वे लोग भी करेंगे जो आज इसके आश्रय हैं। क्योंकि नये समाज के निर्माण का अर्थ सुखभरे समाज का निर्माण है जहां आप चार घंटे काम करेंगे और बाकी समय पढ़ेंगे-लिखेंगे, संगीत सुनेंगे, घूमेंगे, मछली मारेंगे, बागवानी करेंगे और आजाद रहेंगे। मनुष्य को आभासी नहीं, वास्तविक सुख चाहिए। एक को नहीं। सबको।

प्रमोद रंजन : *ऐसा लगता है जैसे वर्चस्व की सांप्रदायिक प्रवृत्ति ने 'सभ्यताओं के संघर्ष का वैचारिक चोगा पहन लिया है। अमेरिका द्वारा इराक के जबरन अपदस्थ किए गए राष्ट्रपति सद्दाम हुसेन और भारतीय संसद पर हमला करने के आरोपी अफजल में क्या आप भी कोई समानता देखते हैं? एक समानता तो यह है कि दोनों विश्व के महान लोकतांत्रिक देशों (अमेरिका समर्थित देश द्वारा सद्दाम व भारत द्वारा अफजल) की न्याय व्यवस्थाओं द्वारा घोषित जघन्य अपराधी हैं और मृत्यु दंड की प्रतीक्षा कर रहे हैं।*

इसके अलावा एक इतर प्रश्न यह भी पूछना चाहूंगा कि भगत सिंह और अफजल में क्या असमानताएं हैं?

अरुण कमल : नहीं। सद्दाम हुसेन को पहले तो अमेरिका ने ही खड़ा किया था जैसे लादेन को, जैसे तमाम जनतंत्र और जन-विरोधियों को। फिर सद्दाम हुसेन को इराक की संप्रभुतासंपन्न सरकार ने नहीं, वरन् अमेरिकी कठपुतली सरकार ने सजा दी है, उसकी पोषित न्यायपालिका ने। इसलिए यह गलत है। जबकि जिस हत्यारे का आप नाम ले रहे हैं उसे एक संप्रभुतासम्पन्न संसद पर हमले के लिए सजा दी जा रही है, जिसके लिए उसके मुंह में कभी खेद का एक शब्द भी नहीं है। दोनों की तुलना गलत है।

मैं किसी भी प्रकार की हत्या या अत्याचार का विरोधी हूं। चाहे वह हत्या एक व्यक्ति करे या कोई समूह या सरकार।

आपके प्रश्न के अंतिम खंड के बारे में मेरा कहना है कि जिस पंक्ति में महान् शहीद भगत सिंह का नाम लिखा जाए उसमें किसी और का नाम न लिखें। स्वर्णाक्षर केवल शहीदों के लिए है, क्रांतिकारियों के लिए। पेशेवर हत्यारों के लिए नहीं।

प्रमोद रंजन : *एक मार्क्सवादी होने के नाते इन दिनों सशक्त रूप से अभिव्यक्ति पा रहे सामाजिक समूहों की अस्मिताओं के संघर्ष को आप किस रूप में देखते हैं? क्या आपका कवि इनमें किसी मानवीय दृष्टिकोण की तलाश कर पा रहा है? मार्क्सवादी दलों ने इधर अपने ऐजेंडे में वर्ग के साथ-साथ वर्ण को भी प्रमुखता से शामिल करना आरंभ किया है। जाति हिंदू समाज की मूल सच्चाई रही है। भारतीय मार्क्सवादियों को इसे समझने में इतनी देर क्यों लगी? राजनीति ही नहीं, बौद्धिक हलकों में भी समाज का इतना सूक्ष्म विश्लेषण करने वाले मार्क्सवादी इतिहासकार, साहित्यिक व अन्य समाज-संस्कृतिकर्मी इसे प्रमुखता देने से क्यों बचते रहे? इतने लंबे समय तक इस यथार्थ की उपेक्षा*

को क्या आयातित विचारों का खुमार भर माना जाए, या षड्यंत्र भी?

अरुण कमल : वंचित सामाजिक समूहों का उभार पिछले कुछ दशकों की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। और यह बहुत खुशी की बात है। जब तक हाशिया केन्द्र नहीं बनेगा और फिर एक ऐसा समाज न होगा जहां न तो केन्द्र होगा न हाशिया, तब तक यह उभार चलता रहेगा। लेकिन हमें केन्द्र-हाशिया नहीं, समतल एकरस भूमि चाहिए।

जहां तक वर्ग और वर्ण तथा मार्क्सवादी इतिहासकारों की भूमिका की बात है तो मैं विनम्रतापूर्वक कहूंगा कि मेरा ज्ञान इस विषय में बहुत कम है। आप किसी इतिहासकार से इस पर बात करें तो मेरा भी फायदा होगा। फिर भी मुझे लगता है, हांलाकि मैं गलत हो सकता हूं, कि आज भारतीय जीवन को चलाने वाली व्यवस्था न तो सामंती है न जाति-आधारित। जैसा कि आपके पूर्व प्रश्न भी बताते हैं आज यहां पूंजीवाद ही मुख्य चालक-शक्ति है। आज शोषण का मुख्य कारण पूंजी है। हांलाकि अंतर्विरोध अनेक हैं जैसे जाति, धर्म, योनि, क्षेत्र, भाषा आदि पर आधारित। एक ही साथ अनेक प्रकार के विभेद और शोषण मौजूद हैं। सबका खात्मा जरूरी है। आप कहते हैं कि जाति हिंदू धर्म की मूल सच्चाई है। हो सकता है। लेकिन क्या धर्म बदलने से यह खत्म हो जाता है। अगर ऐसा होता तो फिर दूसरे धर्मों के लोग जाति-आधारित फायदे क्यों चाह रहे हैं? मेरा अनुभव है कि पाकिस्तान में भी, जो शुद्ध मुस्लिम देश है, जात-पांत है, कबीले हैं, यहां तक कि गोत्र हैं और पंथ विभाजन जैसे शिया-सुन्नी-अहमदिया आदि तो है ही। और म्यांमार में भी जो शुद्ध बुद्ध-राष्ट्र है, जात-पांत तथा सामाजिक विभेद है। जबकि 'हिंदू` नेपाल में अपेक्षाकृत कम। स्वयं भारत में भी सभी धर्मों में जाति-भेद आज भी लगभग एक जैसा है। मैं नहीं जानता क्यों। लेकिन इतना लगता है कि वर्ण तथा जाति की व्यवस्था का संबंध केवल धर्म से नहीं है। कोई और कारण भी है। मार्क्सवादी इतिहास का इतिहास ज्यादा लंबा नहीं है। फिर भी मार्क्सवादी इतिहासकारों ने इस बारे में सोचा है। इरफान हबीब का एक लेख जाति-व्यवस्था पर बहुत महत्वपूर्ण है जिसमें वह पूछते हैं कि ऐसा क्यों है कि बुद्ध से लेकर अब तक जितने भी शासक आये-देशी या विदेशी-सबने जाति-व्यवस्था को लगातार मजबूत ही किया और आज भी कर रहे हैं। डॉ. रामशरण शर्मा ने भी विचार किया है। और भारत को समझने के लिए सर्वोपरि डी.डी. कोसाम्बी को पढ़ना जरूरी है। मैं यह भी सोचता हूं कि ऐसा क्यों है कि कोई ऐसी जाति नहीं जिसमें अमीर-गरीब दो वर्ग न हों? जहां मलाई और मट्ठा दोनों न हों? आज शोषण का मुख्य कारण पूंजीवाद है, जाति

या धर्म नहीं। बेरोजगार हर जाति-धर्म में हैं। दरिद्रता हर जगह हर जाति में है, जैसे सम्पन्नता कहीं कम कहीं ज्यादा। फिर भी जाति की भावना है और शायद रहेगी। क्योंकि यह एक मानसिक अवस्था भी है; अपने को ऊंचा या नीचा समझना। चेखव ने लिखा है कि वह एक मोची के बेटे थे। उन्हें यह बात सालती थी। एक सुबह उन्होंने तै किया कि मैं इसे भूल रहा हूं और वह नये आदमी बन गये। ऐसा ही गोर्की ने भी किया। ऐसा ही राहुल जी ने भी किया। लेकिन यह रास्ता कठिन है। अपनी सारी पूर्वप्रदत्त पहचानों को छोड़ना सबसे कठिन है, पूर्वाग्रहों को तोड़ पाना उससे भी कठिन। जैसा कि आइन्सटाइन ने कहा है, 'एक परमाणु के विखंडन से कहीं अधिक कठिन है पूर्वाग्रहों का खंडन'। फिर भी हम सब उस जातिविहीन, वर्गविहीन और धर्मविहीन समाज की इच्छा करते हैं। चाहे जैसे हो, यह हो। इसके लिए जरूरी है कि पूरे सामाजिक जीवन को उन्नत, आधुनिक और तकनीक सम्पन्न बनाया जाय ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार काम पा सके, ताकि उसे पुश्तैनी काम करने पर मजबूर न होना पड़े। हमारे समाज के सबसे दलित भंगी-मेहतर और उनकी स्त्रिंयां पहले माथे पर मैला ढोती थीं। नये आधुनिक शौचालयों ने उनको इस अमानवीयता से मुक्त किया। इसी तरह पूरा जीवन बदल सकता है। न तो मेहतर का बच्चा पाखाना धोने वाला मेहतर बनना चाहता है न ब्राह्मण का बेटा आरती घुमाने वाला भिखमंगा ब्राह्मण। बिना जाति-मुक्ति के देश का कल्याण नहीं हो सकता।

प्रमोद रंजन : *भारतीय लेखन का विश्व बाजार निर्मित हुआ है। सलमान रश्दी, विक्रम सेठ आदि से लेकर अरुंधति राय तक की किताबें भारत में भी खूब बिक रहीं हैं। हिंदी में भी कभी लेखकों को पर्याप्त सम्मान मिला करता था। आज वह स्थिति नहीं है। अपने समकालीन दिग्गज लेखकों को हिंदी समाज जानता तक नहीं। इस परिदृश्य के पीछे आप क्या कारण देखते हैं? क्या कोई सामाजिक कारण भी है-मसलन, गांवों में जागरण का समाप्त होना, एक किस्म के अभिजात्य पाठक का आगमन ..*

अरुण कमल : जिसे आप भारतीय लेखन कह रहे हैं वह वास्तव में अंग्रेजी लेखन है। जो भारत के मध्यवर्ग की भाषा है। दूसरे देशों का मध्यवर्ग आज भी अपनी भाषा को प्रेम करता है। पर भारत का नहीं। हिंदी समाज स्वयं अपनी भाषा और साहित्य से प्रेम नहीं करता। दुनिया के किसी देश में कवियों का मजाक उड़ाने वाले चुटकुले, धारावाहिक और हास्यास्पद चौकड़े नहीं होते।

भारत को छोड़ कर। हमारे गांव पहले से भी ज्यादा जहालत और बर्बादी में हैं। लेकिन इन सबके पीछे एक कारण यह भी है कि भारतीय भाषाओं का लेखन, हिंदी का लेखन, आपको चेतना के स्तर पर उकसाता है, वह व्यवस्था-विरोधी है जबकि भारतीय-अंग्रेजी लेखन मुख्यतः उपभोगवादी है। वहां न तो हेराल्ड पिंटर संभव हैं न हेराल्ड ब्लूम न मुक्तिबोध। यह सत्ता के लिए सुविधाजनक है।

प्रमोद रंजन : *रूस के दिग्गज आलोचक मिखाइल बाख्तिन कहते हैं कि "कविता एक विशेषाधिकार प्राप्त, बुनियादी रूप से सौंदर्यवादी विधा है। यह एकालापी (ऑटोटेलिक) है तथा सिर्फ 'कहने की भाषा' में संभव हो पाती है। यह संवादपरक नहीं है जबकि उपन्यास रैटारिक तत्व से चालित विधा है।"*

एक ऐसे समय में जब समस्याएं जटिलतम होकर अधिकाधिक संवाद की मांग करने लगीं, कविता हाशिए पर चली गई। क्या ऐसा नहीं लगता की बाख्तिन का आकलन सही है? आप आधुनिक चुनौतियों के समक्ष कविता को कितना सक्षम पाते हैं?

अरुण कमल : बाख्तिन को रूपवादी आलोचक माना जाता है जिन्होंने मार्क्सवादी धारणाओं का भी व्यवहार किया। उनका सबसे महत्त्वपूर्ण काम दॉस्तॉवस्की के उपन्यासों पर है। उन्होंने कहा कि दॉस्तॉवस्की के उपन्यास तॉल्सतॉय की तुलना में कहीं अधिक 'बहुस्तरीय', 'बहुस्वरीय' तथा लेखक के अधिनायकत्व से मुक्त अनेक चरित्र स्वरों का स्वतंत्र संपुंजन हैं। इससे आप सहमत-असहमत हो सकते हैं, परन्तु इतना तै है कि बाख्तिन ने खुले, समावेशी, बहुस्तरीय, बहुस्वरीय रचना की वकालत की। अगर हम इसे आधार मानें तो यह स्थिति सबसे ज्यादा शेक्सपीयर की कविता में घटित होती है। जहां कोई एक अंतिम स्वर नहीं है। कविता भाषा की अनन्त सम्भावनाओं का भी उपयोग करती है। प्रश्न कविता बनाम उपन्यास का नहीं है। ऐसा करना वाजिब नहीं। बाख्तिन ने तो एक उपन्यासकार बनाम दूसरे की बात की। फिर भी साहित्य में कोई भी निर्णय अंतिम नहीं होता। बहुत से लोग तॉल्सतॉय को ज्यादा महत्त्व देते हैं और बहुत से लोग सर्वेन्तीज को। कविता एक अलग काम है। आधुनिक चुनौतियों ने ही आधुनिक कविता को जन्म दिया। फिर भी कविता बहुत कम लोग पढ़ते हैं। कविता हाशिए पर है या केन्द्र में यह सवाल नहीं है। हम जिसे प्रेम करते हैं वह अगर धूल में भी हो, कूड़े में भी हो, अंत्यज और क्षुद्र हो तब भी उसे ही प्रेम करते हैं । यही उसकी महानता है। कविता बहुमुखी

संवाद है-दूसरे से भी और खुद से भी। 'सुनो भाई साधो' इसकी टेक है।

प्रमोद रंजन : *मंत्रों से लेकर आधुनिक कविता तक को 'स्वतः स्थापित सत्य' की तरह कोट किया जाता है। जबकि वास्तव में वह एक व्यक्ति (कवि) का 'सत्य'- उसके द्वारा विश्लेषित धारणा होती है। वह कौन से तत्व हैं जो काव्य को ऐसी विश्वसनीयता प्रदान करते हैं? और यह कितनी जेनुईन होती है?*

अरुण कमल : हर रचना व्यक्ति ही करता है। यह व्यक्ति समाज का सर्वाधिक उर्वर तंतु होता है। फिर भी न तो कोई अंतिम सत्य है न अंतिम विश्वसनीयता। 'स्वतः स्थापित सत्य' तो होता ही नहीं। जब कोई कविता अधिक से अधिक लोगों को अधिक से अधिक कालों तक प्रभावित करती जाती है तो वह ऐसी विश्वसनीयता हासिल कर लेती है। जब कभी कोई पंक्ति आपको अचानक कभी याद आ जाए तो समझिए वह सच्ची है।

प्रमोद रंजन : *आपके नए कविता संग्रह 'पुतली में संसार' में एक कविता है 'पक्ष का कारण'। 'पूरी बहस में मैं जूता उतारने के खिलाफ था/मेरा कहना था कि/जूता उतारकर अंदर आने को कहना/न सिर्फ असभ्यता की निशानी है बल्कि सामंती मनोवृति का अवशेष भी..'। इस कविता के अंत में आप कहते हैं कि 'सच बात तो यह थी कि मैं जूता उतारने के/इसलिए खिलाफ था कि मेरा पैताबा/तार-तार था'। यह कविता प्रकारंतर से मोहभंग का संकेत करती लगती है!*

अरुण कमल : मैं खुद नहीं कह सकता कि यह कविता 'मोहभंग का संकेत' करती है या नहीं। शायद आशय यह हो कि आपकी आर्थिक स्थिति जैसी होगी प्रायः आपका पक्ष भी वैसा ही होगा। आर्थिक स्थिति बदलते ही आपकी चाल-ढाल, बात-व्यवहार, चरित्र तथा रूप-रंग भी बदल जाते हैं। फ्रांसीसी उपन्यासकार फ्लॉबेय की एक पंक्ति है 'मादाम बुवारी' में : 'हिज कम्पलेक्शन वाज द कम्पलेक्शन ऑफ वेल्थ'। उसका रंग उसके धन का रंग था।

प्रमोद रंजन : *हिंदी में इन दिनों हो रहे विपुल लेखन के पीछे कौन से कारक काम कर रहे हैं? आपका आलोचनात्मक विवेक इसे कितना प्रासंगिक पाता है? हिंदी पाठक कैसे अपने लिए किताबों, पाठ्य सामग्री का चुनाव करे; आप कुछ सुझाव देंगे?*

अरुण कमल : हिंदी में इन दिनों हो रहे विपुल लेखन का अर्थ है कि पहले की तुलना में अधिक लोग लिख-पढ़ रहे हैं। जो वंचित समूह हैं उनसे भी लेखक आ रहे हैं। यह शुभ है। वैसे आलोचक वाल्टर बेंजामिन कहते थे कि रद्दी किताबें छापने वाले प्रकाशन को दंड मिलना चाहिए। मैं समझता हूं कि प्रत्येक सजग पाठक अपना चुनाव खुद कर लेता है। हर पुस्तक का अपना नियत पाठक, अपना गंतव्य, अपना भाग्य होता है। जिसको जो मन सो पढ़े। मैं पढ़ने में समाज में और जीवन में पूर्ण जनतंत्र चाहता हूं। मैथिली में एक कहावत है-बाजते रहलौं त हारलौं कि? बोलता ही रहा तो हारा कैसे?

अध्याय – 42

प्रतिभा आपको अकेला कर देती है

कथाकार व संपादक *राजेंद्र यादव* से *स्वतंत्र मिश्र* की बातचीत

पहले सवाल के रूप में आपसे आज के साहित्य की दशा एवं दिशा के बारे में जानना चाहूंगा।

देखिए, दशा और दिशा अलग से नहीं होती है। देखना होगा कि हमारे समाज की दशा क्या है। क्योंकि साहित्य समाज से अलग होकर नहीं चलता है। यह बहुत गलत बात प्रचलित है कि साहित्य हमारे समाज का दर्पण है। दर्पण एक निष्क्रिय और प्राणहीन चीज है, जिसमें चीजें छप जाती हैं। साहित्य, समाज के साथ एक संवाद है। एक जिरह है। एक बहस है। वह समस्याओं पर बहस करता है। सबसे बड़ी बात यह है कि हजारों सालों से दो वर्ग साहित्य में उपेक्षित रहे हैं, उन पर समाजशास्त्र और विज्ञान के क्षेत्र में ध्यान दिया जाता रहा है, उनकी आवाज सुनी जाती रही। इतिहास की मुख्यधारा से अलग साहित्य में भी एक मुख्यधारा होती है। जिसे हम मुख्यधारा कहते हैं, वह सत्ता की धारा है। सत्तासीनों की धारा होती है। उसमें दूसरों के लिए गुंजाईश नहीं होती है। हिन्दी में दुर्भाग्य से कुछ प्राध्यापक किस्म के लोगों के पास मुख्यधारा रही है। ऐसे में लोगों ने मुख्यधारा में उनकी प्रतिभा को आने नहीं दिया। आज से 25-30 साल पहले आप सोच नहीं सकते थे कि कोई दलित, कोई मुसलमान या स्त्री लिखेगी। 1850 से 1950 तक एक वर्ण का वर्चस्व रहा। वही साहित्य लिखते थे और पढ़ते भी वही थे। यह मेरे आंकड़े नहीं हैं। 1960 में ओमप्रकाश दीपक का एक लेख इसी संदर्भ में 'कल्पना' में छपा था। इसी लेख को हमने अपने यहां (हंस) में पुनप्रकाशित किया। इस लेख में ब्राह्मण के वर्चस्व को उजागर किया गया है। अब 100 साल में केवल तीन वैश्य हैं। स्त्रियों में एक महादेवी वर्मा और दूसरी सुभद्रा कुमारी चैहान थीं। इस स्थिति

को सबसे पहले मार्क्सवाद ने तोड़ा। ज्ञान की दूसरी शाखाएं आयी, वह समाज का हिस्सा बनीं। समाजशास्त्र का अध्ययन हुआ। विज्ञान, राजनीति, शिक्षा आदि साहित्य का हिस्सा बनी। इस तरह से स्वतंत्रता के बाद लोकतांत्रिक व्यवस्था में क्षेत्रीयता और जातीयता आयी। ध्यान देने योग्य बात यह है कि जिन जातियों को जितना दबाने की कोशिश की गई आज वह उतना ही मुखर हुईं हैं या आगे आईं हैं। अभी साहित्य में कम-से-कम बीस महिलाएं है जो शक्ति के साथ रचना कर रही हैं। दलित और मुस्लिम भी आगे आये हैं।

साहित्यकारों की खेमेबाजी को आप कैसे देखते हैं?

खेमेबाजी दो तरह से होती है। खेमेबाजी, गुटबाजी वगैरह-वगैरह सभी जगह होती है। जब महावीर प्रसाद द्विवेदी थे तो वे अपने खेमे को 'सरस्वती मंडल' कहते थे। भारतेन्दु मंडल था। अपने गुट को अच्छे शब्द देकर आप मंडल कहने लगते थे। लेकिन साहित्य में जब एक तरह के लोग जुटते थे/हैं, फोरम का निर्माण होता है। व्यक्तिगत स्वार्थों के साथ मिलनेवालों को गुटबाजी कहते हैं। वैचारिक स्तर पर जब तक आप एक-दूसरे से नहीं मिलेंगे तो कैसे संभव होगा? देखना यह होगा कि जिन्हें हम मंडल या गुट कह रहे हैं, उसका आधार क्या है? अगर ऐसा है कि मान लीजिए केवल बिहार के पांच-दस लेखक आप से मिलते हैं तो उसे गुट कहेंगे। क्योंकि उसका आधार क्षेत्रीयता या जातीयता है। वहां मिलने का आधार विचार नहीं है। यह एक बंडल में बांधकर रिजेक्ट करने वाली बात है। कभी किसी पत्रिका के साथ कुछ लोग जुड़ जाते हैं तो लोग गुट कहने लगते हैं। मगर पत्रिका के साथ हमेशा कुछ लोगों का एक समूह जुड़ेगा ही जो उसको एक वैचारिकता प्रदान करते हैं। एक व्यक्तित्व प्रदान करते हैं।

साहित्यकारों की गुटबंदी से नए साहित्यकारों की प्रतिभा कुंठित नहीं होती है क्या?

हां, ऐसा जरूर होता है। अगर गुटबंदी क्षेत्र, जातीयता या स्वार्थों के आधार पर होती है। राजनीति में भी ऐसा होता है। लेकिन कोई अपनी प्रतिभा के बल पर रूक गया हो, ऐसा नहीं होता है। साहित्यकार वह है जिसमें प्रतिभा और संकल्प है। आपने एक-दो चीजें लिखीं और मान्यता चाहने लगे, नहीं मिलेगी। जीवन और साहित्य में जिसमें उपेक्षा बर्दाश्त करने की क्षमता है वही आगे बढ़ सकता है। यह एक तरह से रेल का अनारक्षित डिब्बा है। जहां आप घुसने की कोशिश करते हैं, लोग धक्का देते हैं। आगे जाने की सलाह देते हैं। लेकिन

आप धक्का-मुक्की करके जैसे-तैसे घुस जाते हैं तो क्रमशः खड़े होने, फिर टिकने, फिर बैठने की और फिर लेटने की जगह आप बना लेते हैं। धीरे-धीरे फिर वह जगह आपके लिए आरक्षित हो जाती है। आप बाथरूम जाते हैं। चाय पीने जाते हैं तो लोग आपकी जगह बचाकर रखते हैं। साहित्य में भी ऐसा ही होता है। गुटबाजी तो तब होती है जब सारे लोग एकजुट होकर कहते हैं नहीं साहब! आपको घुसने ही नहीं देंगे।

नए साहित्यकारों को श्रेष्ठ पत्र-पत्रिकाओं में बमुश्किल जगह मिलती है?

पत्रिकाओं में भीड़ बहुत है। हंस के लिए मेरे यहां 150 कहानियां रखी हुई है। अब बताईये मैं क्या करूं? कभी-कभी कुछ चीजें ऐसी आती हैं जिन्हें पंक्ति तोड़कर जगह दी जाती है। तात्पर्य यह है कि आपको भीड़ में से निकलकर कुछ अलग करना होगा। हमने दर्जनों ऐसे नए लोगों को छापा है, जिनकी पहली रचना यहीं (हंस) में छपी। संजय जैसे जबर्दस्त लेखक रहे हैं जिनकी रचना 'कामरेड का कोट' बहुत चर्चा में रही। गीतांजलि श्री, शिल्पी को हमने छापा है। मैत्रेयी को हमने मौका दिया था। नए लोगों की गुंजाईश कभी भी कम नहीं होती है, अगर आपमें प्रतिभा हो। नई बात कहने का माद्दा है। अच्छी रचना छापना हमारी भी जरूरत है। ऐसा नहीं कि हम यहां कसाई की तरह बैठे हैं। हमें भी गर्व होता है कि हमने एक नई प्रतिभा की खोज कर ली है। एक पत्रिका की सार्थकता इसमें नहीं है कि उसने कितने लोगों को छापा है। बल्कि उसने कितने प्रतिभावान लोगों को जगह दी है, यह महत्वपूर्ण है।

अक्सर देखा गया है कि प्रतिभा के प्रमाणिक होते ही जीवन-शैली का जमीन से नाता टूटना शुरू हो जाता है। ऐसा क्यों होता है?

होता यह है कि प्रतिभा आपको अकेला कर देती है। प्रतिभा आपका दायरा छोटा करती है। लोगों से धीरे-धीरे संवाद छूटता जाता है। लेकिन अपनी भीतर की जिंदगी से कितना कुछ और कब तक काम चलेगा? जब आपका बाहर स्रोत नहीं हो तब तो मुश्किल हो जाएगी। जो लोग प्रतिभाशाली होते हैं, अपनी प्रतिभा के बोझ तले दब जाते हैं। अपने आप को दुहराने लगते हैं। या फिर खामोश हो जाते हैं। क्योंकि समाज से उनका संवाद टूट जाता है। यह आत्मसंघर्ष है कि कैसे बाहर के लोगों से जुड़े रहें। यह क्रिया चलती रहनी चाहिए।

साहित्य में विवादों का स्तर गिरता जा रहा है। इसे आप कैसे देखते हैं?

देखिए, राजनीति में विवादों का स्तर बहुत गिर गया है। कोई किसी को शिखंडी कह रहा है। कोई किसी को कुछ भी कह दे रहा है। ऐसी गंदगी अभी साहित्य में नहीं आयी है। साहित्य में स्तर की बात करते हैं तो यहां गंभीर विचार-विमर्श ज्यादा होता है। विवाद साहित्य या जागरूकता की निशानी है। आप के पास विचार होंगे तभी लड़ाई स्तरीय होगी। अगर मैं कहूं कि पिछले 20 सालों में 'हंस' ने विभिन्न विषयों पर विवाद उठाए हैं। यहां विवाद का मतलब है जो स्थापित मान्यता है उसके बरक्स, उसके प्रतिपक्ष एक-दूसरा विचार रखना। स्थापित विचारों को जो अंतिम मान लेते हैं, उनके खंडन पर उन्हें बौखलाहट होती है। भाषा, संस्कृति, सांप्रदायिकता आदि को लेकर विवाद चलते रहना चाहिए। यह एक रचनात्मक प्रक्रिया है। इसमें समग्रता में सच क्या है, यह जानने की कोशिश की जाती है। उसके दूसरे पक्ष क्या हैं? यह सच है कि उसका स्तर व्यक्तिगत न हो। वह बहुत नीचे न गिरे।

कोई किताब एक समूह द्वारा प्रतिष्ठित करा दी जाती है और कई बार अच्छी पुस्तकें उपेक्षित रह जाती हैं। टिप्पणी चाहूंगा।

मोटे तौर पर आपकी बात सही है। 'प्रतिष्ठित करा दिया जाता है', का मतलब संपादक द्वारा करा दिया जाता है। या कोई संस्था करा देती है। साहित्य कोई इतनी वस्तुनिष्ठ चीज नहीं है। किताब कोई माल नहीं है। उसके साथ एक मनुष्य का व्यक्तिगत अनुभव जुड़ा होता है। दूसरा, जिसकी किताब उपेक्षित रह जाती है तो उसको शिकायत तो होगी। साहित्य में व्यक्तिगत सूचनाएं बहुत काम करती हैं। एक व्यक्ति, एक किताब को दुनिया की सर्वश्रेष्ठ कृति कहता है, दूसरा व्यक्ति उसी किताब को बकवास। यहां दो और दो चार गणित वाली बात तो होती नहीं है। पेंटिंग्स में एक व्यक्ति कहता है, बकवास है। दूसरा उसे 50 लाख की बताता है। जिनकी किताबें केंद्र में नहीं आ सकती हैं, उन्हें शिकायत ही होगी। दुनिया का कोई लेखक यह नहीं कहता है कि यह किताब जिसे प्रशंसा मिल रही है, मेरी किताब से अच्छी है। इतनी उदारता किसी में नहीं होती है।

भारत में जातिगत द्वेष एक सच है। आप इसे कैसे देखते हैं?

उत्तर भारत में जिसे हिंदी प्रदेश कहा जाता है, वहां शायद ही कोई व्यक्ति हो जिसकी पहचान जाति से नहीं होती हो। जहां जाति न पता हो वहां हमें

बेचैनी होने लगती है कि सामने वाला व्यक्ति किस जाति का है। हम तरह-तरह से पता करना चाहते हैं। अगर कोई व्यक्ति केवल अपना नाम बताये और अपना जातिबोधक टाईटल नहीं बताये तो शिष्टाचारवश, संकोचवश उससे उसका टाईटल नहीं पूछते हैं, परंतु मन में गड़बड़झाला चलने लगता है। दिमाग में, हमारी मानसिकता में जाति इतनी पैठ गयी है कि उससे बाहर का रास्ता हमें नहीं सूझता। जाति की पहचान एक तरह से हमारे समाज, खून में मिल गयी है। जाति इस तरह से हो गयी है कि मौका पड़ने पर हम उसे छोड़ भी देते हैं और मौका पड़ने पर ग्रहण भी कर लेते हैं। यह चित्र हमारे वर्तमान भारत का है। इसी का नतीजा है कि हमारे यहां दलित उत्पीड़न बहुत ज्यादा है। दलितों को अवसर नहीं दिया जाता है। मेहनत, मशक्कत करके थोड़ा पैसा अर्जन कर लें तो वह भी ऊंची जातियों को अच्छा नहीं लगता। फब्तियां कसते हैं – पैसा हो गया है तो क्या, है तो चमार ही न। प्रभारी प्रधानमंत्री बनने के बाद जगजीवन राम को प्रधानमंत्री नहीं बनने दिया गया। हालांकि वे बहुत प्रभावशाली मंत्री थे। जब वे कृषिमंत्री थे तो फसल के उत्पादन में भारी वृद्धि दर्ज की गयी थी। जब वे रक्षा मंत्रालय में थे तो भारत जीता था। जहां-जहां वे रहे उन्होंने अपना कमाल दिखाया लेकिन जातिवाद ने उनका पीछा अंत तक किया। ध्यान देने योग्य बात यह है कि आपातकाल के बाद जब सरकार बनने लगी और सबकुछ तय हो रहा था तब जगजीवन राम अपने घर में टी.वी. के सामने बैठे हुए थे। परंतु जब प्रधानमंत्री के रूप में मोरारजी देसाई का नाम आया तो उन्होंने अपना टी.वी. तोड़ दिया। उन्हें बहुत गहरी चोट लगी। उन्होंने कहा ये लोग कभी भी किसी दलित को प्रधानमंत्री नहीं बनने देंगे।

हरियाणा में दलितों की हालत बहुत खराब है जबकि हरियाणा के दलित बिहार के दलितों की तुलना में अधिक संपन्न हैं। क्यों?

बिहार व अन्य राज्यों में कोई-न-कोई औरत रोज नंगी की जाती है। डायन कहकर प्रताड़ित की जाती है। सामूहिक बलात्कार किया जाता है। अगर शादी-ब्याह में दलितों के घोड़े पर बैठने की बात आती है अगड़ी जातियां उन्हें अपमानित करती है। यह रोज की बात है। कभी झज्जर में गाय मारने के आरोप में पांच लोगों की हत्या कर दी जाती है। परंतु बिहार से इस तरह की घटना की सूचना कम मिलती है। बिहार में दलित राजनीतिक रूप से ज्यादा सचेत हैं। वस्तुतः जहां जितनी असुरक्षा होती है, वहां के लोग अपनी स्थिति, नियति, भविष्य और वर्तमान के बारे में स्वयं सजग रहते हैं। वहां के दलित प्रायः

नक्सलियों से मिले हैं। वे सशस्त्र संघर्ष करते हैं। वहां अगर दस दलितों की हत्या होती है तो अगले दिन आपको पंद्रह भूमिहारों या ब्राह्मणों की हत्या के समाचार मिलते हैं। इसलिए वहां संघर्ष उस तरह का नहीं है। वहां उत्पीड़न का स्तर इतना ज्यादा ऊंचा नहीं है। वहां के सवर्णों को शिद्दत के साथ सोचने को मजबूर होना पड़ता है कि दलितों को अवसर दिए जाएं या देने पड़ेंगे।

पूरे देश के संदर्भ में दलित विकास को आप कैसे देखते हैं?

उत्तरप्रदेश और दिल्ली में दलित बुद्धिजीवी नजर आने लगे हैं। हमारे यहां सारे सांस्कृतिक विकास लंबे संघर्षों के परिणामस्वरूप हुए हैं। राजनीतिक आंदोलन के साथ-साथ सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन नहीं चलाया जा सका। इसलिए सामाजिक रूप से दलितों की स्थितियां आज भी वहीं है। 50 दलितों की आत्मकथाओं में आप मुख्य रूप से एक ही चीज पाते हैं – वह है कि उन्हें पढ़ने नहीं दिया जाता। सफाई करने का काम, झाडू लगाना, लकड़ी काटना ही उनके काम गिनाए जाते हैं। थाने में जिस तरह प्राथमिकी दर्ज नहीं की जाती है उसी तरह इन्हें स्कूल से वंचित किया जाता है। एक गैर-दलित बच्चे को पढ़ाने में अगर 10 प्रतिशत ताकत लगती है तो दलित बच्चे को पढ़ाने में निश्चित तौर पर 100 प्रतिशत। ताज्जुब यह है कि इनमें बिना सामाजिक आधार के इतनी राजनीतिक चेतना है। यही कारण है कि इनमें इतना विचलन भी है। कभी मायावती ब्राह्मण से मिलती है तो कभी किसी से।

पिछड़ी जातियों और दलितों में धर्म-परिवर्तन के मामले को आप कैसे देखते हैं?

धर्म परिवर्तन की मुख्य वजह दलित विरोधी मानसिकता ही तो है। दलित विरोधी इस मानसिकता का परिणाम यह हुआ कि कश्मीर में रहने वाले या वहां से आने वाले सारे लोगों को हम पंडित के नाम से जानते हैं। कश्मीर से ढाई-तीन लाख पंडित आये। बाकी लोग भी उन विस्थापितों में होने चाहिए। मगर ऐसा नहीं है। मेरा मानना है कि शेष जातियों ने अपनी जाति ही बदल ली। उन्हें अपनी सुरक्षा व सम्मान की चिंता होने लगी। इसलिए सिर्फ दो ही जातियां रह गई-पंडित व दूसरी मुसलमान। लगभग यही स्थिति पूर्वी बंगाल में है। वहां की शेष जातियां कहां गई? उनके अन्याय, अत्याचार व दमन के भय से वे मुसलमान हो गये। ऐसा कतई नहीं है कि उन्होंने अपना धर्मांतरण बड़ी श्रद्धा से किया। ऐसा भी नहीं है कि उन्हें जबरदस्ती दक्षिण के गांव-गांव में

मुसलमान बना दिया गया। दरअसल वे अपने को बड़े समूह के साथ जोड़कर सुरक्षित और सम्मानित महसूस करते हैं। वे बड़े समूहों से जुड़कर अपने अधिकारों के लिए लड़ सकते हैं।धर्मांतरण के पीछे यही सबसे बड़ी ताकत है। एक दरिद्र अगर इसाई बनता है तो उसे शिक्षा मिलती और स्वास्थ्य सुविधाएं मिलती हैं। अगर वह पढ़ने के लिए आगे जाना चाहे तो अवसर भी मिलते हैं।

- दिसंबर, 2007-मार्च, 2008 (साहित्य वार्षिकी)

भाग – 5
यवन की परी

जन विकल्प के प्रवेशांक जनवरी, 2007 के साथ वितरित कविता पुस्तिका का कवर पेज

उन्हें नफरत है खिड़कियों से

रति सक्सेना

पेरिया परसिया, सेतारह या पेरि अथवा हिंदी में पुकारू नाम परी कहें, नाम कुछ भी हो, कहानी एक ही है। इंटरनेट पर एक संवाद आरंभ हुआ, संवाद करने वाली ने अपना नाम सेतारह बताया, जो शायद परशियन भाषा का नाम है। ई मेल के रूप में संवाद का आरंभ मेरी वेब पत्रिका की प्रशंसा से हुआ लेकिन कुछ दिनों बाद एक बेहद घबराया सा पत्र मिला, पत्र लेखिका ने अपनी एक मित्र के बारे में लिखा, जिसने अभी-अभी पागलखाने में आत्महत्या कर ली। उनका कसूर यह था कि उन्होंने एक ऐसे कवि से मुहब्बत की थी जिससे वे कभी मिलीं नहीं थीं। पत्र लेखिका ने बताया कि मरने से पहले उसकी मित्र ने पागलखाने की एक नर्स को कुछ पत्र दिए थे...जो कविता से लगते हैं।...ई मेल की सबसे बड़ी दुविधा यह होती है कि हम ना तो पत्र लिखने वाले के बारे में जान पाते हैं ना ही यह पता लगा पाते हैं कि यह किस देश का है (विशेष रूप से यदि पत्र याहू से आया हो)। लेकिन उक्त पत्र लेखिका से संवाद आरंभ होते ही मुझे यह अनुमान हो गया कि वह यवन देशों के किसी ऐसे समाज से ताल्लूक रखती है जहां औरतों के आजादी की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। बाद में इस बात की पुषिट भी हुई। उन्होंने मुझसे आग्रह किया कि मैं उन पत्रों को अपनी वेब पत्रिका 'कृत्या' में जगह दूं, जिससे लोगों को इस बारे में पता लग सके। लेकिन उनका सबसे बड़ा आग्रह यह था कि ना तो पत्र लेखिका का असली नाम दिया जाएगा, ना ही कवि का, नहीं तो कवि के परिवार को खतरा हो सकता है। जब कविता मिली तो मुझे लगा यह एक पुकार है वही पुकार जो कभी हमारे देश में मीरा की थी, वही जो हब्बा खातून की थी, और ना जाने कितनी स्त्रियों की, जो अपने दिमाग का मर्दों की तरह इस्तेमाल करने

लगती है, जो मर्दों के लिए निर्धारित सीमा रेखा के भीतर घुसने की कोशिश करती है। उस कथित विक्षिप्त (विद्रोही!) महिला की यह 'कविता' पुरूष सत्ता की क्रूरताओं का बखान करते हुए स्त्री विमर्श का नया पाठ रचती है। मुझे लगा कि हमारे देश में पाठकों को भी इस कविता को पढ़ना चाहिए.. इसलिए अंग्रेजी में मिली इन कविताओं का मैं हिंदी में अनुवाद करने लगी, और अनुवाद की प्रक्रिया में ही मेरे भीतर आक्रोश शक्ल लेने लगा। बस यहीं पर मेरी कविता प्रक्रिया भी शुरू हो गई। यहीं पर मेरा 'परी' से संवाद स्थापित हुआ।

परी का 'एक पत्र पागलखाने से' तथा मेरी कविता 'परी की मजार पर' वेब पत्रिका में प्रसारित होने के बाद कुछ साइबर पाठकों के पत्र आए जिसमें तरह-तरह की शंकाएं थीं जैसे कि यह कवयित्री मरी नहीं है या फिर कोई और है जो परी के नाम पर लिख रहा है। मैं बस एक बात जानती हूं कि यह कविता औरत की तकलीफ बयान करती है जो देह और मन के साथ दिमाग भी रखती है। कवयित्री का वास्तविक नाम चाहे जो हो।

एक पत्र पागलखाने से

परी

(1)

वे कहते हैं कि
वे हाथ बांध देंगे मेरे
पलंग के सिरहाने से
यदि मैंने दीवारों पर
सिर पटका

उन्हें प्यार है दीवारों से

मैं बन्द हूं पांच दीवारों वाले एक सफेद ठंडे कमरे में
जहां कोई खिड़की नहीं
हवा के लिए

उन्हें नफरत है खिड़कियों से

मैं अकेली पत्ती, पितलाई हरी
पत्तियों की तरह, मुझे दरकार होती है
ताजी हवा की, यदि विश्वास नहीं उन्हें
मेरे क्लोरोफिल पर तो
इतना याद रखें कि
एक पागल औरत को भी जरूरत है
हवा की, जो उसके बालों को सहला दे

वे परागकणों से युक्त हवा को प्रदूषित कहते हैं

कमरे की पांचवी दीवार मेरी छत है
यह दीवार सरकाई जा सकती है
इसका बोझ मेरे कंधों पर टिका है
जिससे मेरे दिल और इसकी दूरी
हर क्षण कम होती जा रही है
यह हर क्षण नीचे झुकती जा रही है
किन्तु कभी ढहती नहीं

वे खुद चमकदार आसमान के नीचे रहते हैं

वे कहते हैं कि मुझे एक सिगरेट देंगे
यदि मैं कसम खाऊं कि मैं अच्छी बच्ची बनूंगी
पलंग के नीचे घुस कर अपनी नसें नहीं चबाऊंगी
लेकिन वे एक ट्रे लेकर आते हैं, शॉक थेरोपी से पहले, हर बार

वे मुझे मार डालने के आदी हो गए हैं

उन्होंने मेरे दिमाग से संगीत मिटा दिया
उन्होंने मेरी देह से नृत्य मिटा दिया
लेकिन वे दिल से नहीं मिटा पाए
तुम्हारे प्यार को, तुम्हारी यादों को, मेरी चाहत को
तुम्हारी कविताओं को अपनी जबान में तर्जुमा करने को

वे मुझे मार डालने के आदी हो गए हैं

(2)

मुझे नहीं चाहिए सिगरेट
नहीं चाहिए सूरज की रोशनी

नहीं चाहिए मुझे आजादी
बस कह दो उन्हें कि
दे दें मुझे कागज और कलम
जिससे मैं बात कर सकूं अपने आप से

यहां सारे के सारे डाक्टरों और नर्सों के सिर गायब हैं

मैं कभी नहीं मांगूगी उनसे चाभी
जिससे इस दरवाजे को बन्द कर
महसूस कर सकूं आजादी अकेलेपन की

कभी भी नहीं मांगूगी उनसे धर्मग्रन्थ
पापों के प्रायश्चित के लिए
जिससे महसूस कर सकें वे अपने को मजबूत

ईश्वर भी उतना अकेला नहीं होगा आसमान में
जितना एक पागल औरत है अकेली
इस कमरे में जो बन्द नहीं होता

कह दो उनसे कि वे दे दें मुझे बस एक कागज और कलम
जिससे मैं बुन सकूं एक खूबसूरत प्रेम कविता
मेरे प्यार की आत्मा के लिए, सर्दियां करीब आ रहीं हैं

सर्दियां करीब आ रहीं हैं

(3)

ये दीवारें इतनी खाली क्यों हैं?
न कोई दर्पण, ना चित्र, ना ही धब्बे
बच्चों के हाथों के निशान तक नहीं
केवल डरावनी सफेदी

केवल डरावनी सफेदी

दीवार घड़ी कहां छिपी है?
मेरे सीने में? मेरी बिल्ली कहां है?
कहां है मेरा वैक्यूम क्लीनर?
कहां हैं बिना धुले कपड़ों और जूठे बर्तनों का ढेर?

यह डरावनी सफेदी
क्या यह इत्तिला है दुनिया के अन्त की?
यहां हर दिन बीता हुआ कल है
कोई आने वाला कल नहीं, दर्पण नहीं, घड़ी की सुइयां नहीं
बस दीवार पर मंडराती एक औरत की परछाई

मरी मोमबत्ती की तरह

कोई है इस दुनिया में जो
मरी मोमबत्ती को याद रखता हो?

(4)

आराम के लिए वक्त नहीं है
यहां तक कि पागल औरत के लिए भी

आधी रात को
एक बिना सिर वाला आदमी
सफेद चोगे में
आता है कमरे में
बोलता है सफेद आवाज में :
'तुम अभी भी खूबसूरत हो'
मेरे इंकार करने पर कहता है :
'मै तुम्हारा पति हूं'

वह झूठ बोल रहा है, मैं जानती हूं
लेकिन वह मेरे पति जैसा लगता जरूर है
वह शुरू होता है बिना चुम्बन के
बिल्कुल मेरे पति जैसा ही
उसे अन्तर मालूम नहीं है
प्यार और यौन सम्बन्ध में

शॉक थेरोपी इससे बेहतर है
शॉक थेरोपी इससे बेहतर है
शॉक थेरोपी इससे बेहतर है
शॉक थेरोपी इससे बेहतर है
शॉक थेरोपी इससे बेहतर है

सुबह वह फिर आता है
खूबसूरत जवान नर्स के साथ
'हमारे बच्चे कैसे हैं' मैं पूछती हूं
वह अपने बालों वाले हाथ हिला हिला कर हंसता है, हंसते हुए कहता है
'मुझे नहीं मालूम, मैं तुम्हारा पति नहीं हूं', फिर पूछता है :
'आज कैसा लग रहा है, कल रात कोई बुरा सपना तो नहीं देखा?'

(5)

क्यों हूं मैं यहां?

क्योंकि मैंने एक आदमी से प्यार किया
जिससे मैं कभी मिली तक नहीं?

क्योंकि मेरे और प्यार के बीच ऐसा कोई पुल नहीं
जो दिखाई दे, सिवाय कविता के?

क्या इसलिए कि मैं पक्की व्यभिचारिणी हूं
स्वप्न युक्त सपनों को बुनती हुई?

कोई भी विश्वास नहीं करता मुझ पर
सिवाय इस गुलाबी गोली के

जो उनके कानून और धर्म के अनुरूप
मेरे दिल की क्रूर धड़कनों को वश में रखती है

मैं यहां क्यों हूं?

मेरी आंखों में आंसू का एक कतरा भी नहीं?
सिवाय भूतों के कोई मुझसे मिलने आता भी नहीं

क्यों नहीं मुझे लोगों से मिलने दिया जाता?
अपने परिवार से, बच्चों से?

'कोई अपनी बेटी से शादी नहीं करेगा
क्योंकि उसकी मां पागलखाने में हैं
मेरे पति ने कहा था गुस्से में, जब वह
आखिरी बार मिलने आया था

उम्दा लफ्ज, उम्दा काम, उम्दा सोच

तभी तो मैंने अपने पति को मार डालने के लिए वार किया
किसी और के लिए नहीं, सिर्फ खुदा के लिए

(6)

अब मैं किससे अपना अकेलापन बाटूंगी
यह चींटी भी मर गई?

नर्स गुस्सा कर रही है
'शर्म आनी चाहिए तुम्हें !
तुम एक चींटी के मरने पर रो रही हो
जबकि पूरी दुनिया में लाखों करोड़ों निरपराध
मारे जा रहे हैं, बमबारी की बरसात में

मैं दूसरों के बारे में सोचने की कोशिश कर कर के थक गई
वे मर गए हैं
बस मेरे अकेलेपन को तकलीफ देने के लिए
वे वास्तव में हैं या फिर
मर गए वास्तव में?

मैं अब इस वास्तव पर विश्वास नहीं करती
यहां तक कि जंग में मेरे अपने बेटे की मौत की बात पर भी नहीं
मुझे तो यह बात कतई झूठ लगती है
बम क्या खाक बच्चों को मारेंगे
वे तो दुश्मनों के लिए बने हैं

मैं इस वक्त बस मरी चींटी के बारे में सोच रही हूं
सारे मीडिया वाले इस बात पर खामोश हैं
यह चींटी अमेरिका की प्रेसीडेंट जो नहीं थी
न ही कोई धार्मिक गुरू
दुनिया की आखिरी चींटी भी नहीं
उसकी जिंदगी और मौत कोई खास मायने नहीं रखती
यहां तक कि कविता पत्रिका का चीफ एडिटर
जो सताई गई औरतों की कविता छापता है
उसके लिए भी यह केवल एक चींटी थी, और कुछ नहीं
उसे तो नर्स के कदमों में कुचल कर मरना ही था

अब जब नर्स चली गई तो मैं अपने आप से पूछ रही हूं
इस चींटी की मौत के लिए यह पागलखाना ही क्यों चुना गया

क्या खुदा कोई संदेश दे रहा है?

दवाईयों की गोलियों और शीशी की जगह
यदि वे मुझे एक गमला दे दें
मैं उसमें चीटी की मरी देह को दफना दूंगी
तो उसका रहस्य लाल पंखुड़ियों में खिल उठेगा

(7)

मैंने भूल के गिद्ध के सामने अपना दिल खोल दिया
जिससे वह खा ले तुम्हारी यादें, और बैठ जाए तुम्हारी जगह
लेकिन तुम बच गए

मैंने पागलपन के अथाह रेगिस्तान में पनाह ली
जिससे एक दुनिया मिले जहां तुम नहीं हो
लेकिन पहले से ज्यादा चालाक शब्दों ने, मेरे दिमाग में पनाह ले ली
यह याद दिलाने के लिए, यह स्वीकार करने के लिए
तुम्हारे सिवाय, और कोई भी जगह नहीं ले सकता है
मेरे दिमाग में, मन में
वे लगातार मेरे लिए दवा और गोलियां ला रहे हैं
इस ठंडे सफेद कमरे में
जहां मैं दुनिया की आखिरी चील की मानिंद रह रही हूं
यह याद रखते हुए की खो गया है मेरे प्यार का आसमान

(8)

मेरी मां किसी और मर्द के बारे में क्यों नहीं सोचा करती थी
अपने शौहर के साथ सोते वक्त
या आलू छीलते वक्त?

मेरी सोच हरदम देह को धोखा देती रही

क्यों मेरी मां के लिए पागलखाना बस
पागलों के रहने की जगह है? क्यों मैं अपने अनन्त सवालों को
भूल जाती हूं, ज्यों ही अपनी ओर आते देखती हूं सिरकटी देहों को

(9)

पागलखाने के इस कमरे की सफेदी और ठंडक
गवाह है, प्रिय! कि मैंने तुमसे कुछ नहीं चाहा
न धन दौलत, न अंगूठी, यहां तक कि कबूतर की परछाई तक नहीं
मेरी एक मात्र इच्छा थी कि तुम्हें सुन सकूं
मेरी आंखे चाहती थीं तुम्हें देखना
'झूठी और धोखेबाज तुमने कहा, और छोड़ कर चले गए
सफेदी और ठंडापन जो इस कमरे में छाया है
साफ-साफ बयान करता है कि मैं झूठ बोल ही नहीं सकती
हलांकि कोई मेरे होठों से सच सुनना पसन्द करता ही नहीं है
सच जिससे मैं नफरत करती हूं वह है 'मौत'

(10)

जब मैं तुम्हारे प्यार में पड़ी तब
मेरे पास एक अच्छा शौहर था, जिसने मेरे लिए
चार कमरों का बंगला बनवा रखा था

जब मैं तुम्हारे प्यार में पड़ी तो
मेरे पास एक बेटा था, गबरू जवान
और एक प्यारी खूबसूरत बेटी

जब मैं तुम्हारे प्यार में पड़ी तो

मुझे कुछ नहीं चाहिए था
अलावा एक आत्मा के, मेरी देह के लिए

तुमने मेरे दिल को अपने प्यार भरे गीतों से भर दिया
तुमने जता दिया कि : 'बस मुझे मानो
मैं ही प्यार का आखिरी मसीहा हूं इस दुनिया में'

तुमने मेरे खाबिन्द को लिखा
उसे धमकाया 'उसे आजाद कर दो! ओ नीच आदमी!'

प्यार के उस विशाल आसमान में
जब मैं तुमहारी बाहों में बंधी, कल्पना में ही
आंखे बन्द किए, बिना परों के उड़ रही थी

तुमने शासित किया : खुदा को चुन, बस खुदा को
मैंने अपनी बीबी से वायदा किया है कि तुम्हें खत नहीं लिखूंगा!
मैं अब से अपने बेटे के लिए अच्छा पिता बनूंगा!

तुम्हारे प्यार में पड़ने से पहले
सभी घड़ियों की दो सूइयां हुआ करती थीं
और पागलखाना मेरा घर नहीं हुआ करता था

(11)

खुदा!
तूने दूसरों के लिए जिन्दगी बनाई
मेरे भाग्य में कविता बदी थी
और अकेलापन
और पागलपन

दूसरों के पास चार मौसम हैं

और दो पांव चलने के लिए
जबकि दुनिया मेरे बर्फीले पंखों पर टिकी है
अपनी खंदकां, यतीमखानों और मरघटों के साथ

दूसरों को तो बस मौत के दिन मरना पड़ता है
लेकिन मैं जिंदगी के हर रोज मर रही हूं

मैं जब नौ बरस की रही हूंगी
दिव्य दृष्टि के लिए चुनी गई थी
लेकिन किसी ने विश्वास नहीं किया
सिवाय बेकार के लफ्जों के

इन्ही लफ्जों ने मुझे मसीहा बना दिया
बिना खुदा के, बिना बन्दों के
अपने पंखों से छूट कर असली दुनिया के
पिंजरे में दुबारा आने के लिए

क्यूपिड की तरह, जिसने अपने पैरों के लिए
जूतों को पंखों से बदल लिया

(12)

मेरे बिस्तर तक, मेरे दिल तक
पानी चला आ रहा है
पांचवी दीवार तक
किसी को आश्चर्य तक नहीं
ऐसा लगता है कि सारे के सारे डाक्टर और नर्सें
जन्मजात मछलियां और सीप घोंघें हैं

और कोई नहीं तो पानी ही
पागल औरत के बाल सहला देता है

और कोई नहीं, बस पानी ही
पोछ देता है आंसूओं को, पगली औरत के

कहां है मेरा प्यार?
कहां हो तुम?
अब तुम चले ही गए तो
मैं नहीं चाहती हूं कि वापिस लौटो
मुझे बचाने के लिए
बस मेरे हाथ छोड़ दो
और समाने दो मुझे समंदर की तलहटी में
वहां, मुझे जरूर मिलेगा एक मरा हुआ शार्क
तुम्हारे दिल की गंध लिए, स्याह
हर बार जब मैं उसके बंद होंठों को चूमूंगी तो
मुझे लफ्ज़ ब लफ्ज़ तुम्हारी प्रेम कविताओं का स्वाद मिलेगा

(13)

तुम्हारी आंखों में
मैं केवल एक औरत हूं, बस एक औरत
एक दिन तुमने प्यार किया बस 'उससे'
दूसरे दिन तुम भुला बैठे उसको

तुमने मेरे भीतर छिपे कवि को नहीं देखा
जो तुम्हारी कविताओं को पाने की आदी हो गई थी, हर दिन
तुमने मेरे भीतर की चिड़िया को भी नहीं देखा
जो आदी हो गई थी तुम्हारे स्नेह की, हर दिन

तभी तो धूल के बादलों की तरह
तुम्हारे लफ्ज़ आसमान में टंगे रहे
'मैं तुम्हे दूंगा प्यार और आजादी और आदर
जबकि दूसरे आदमी चाहते हैं बस तुम्हारी देह, और सेवा`

मेरी निगाहों में,
तुम आदमी थे, इंसान थे, कवि थे
मैंने तुमसे बांटा, अपना सोच, अपना पिंजरा और कविताएं
तभी तो तुम अभी तक जिंदा हो, किसी और औरत से मुहब्बत करने के लिए

जबकि मैं अभी तक तुम्हारी कविताएं
उतार रही हूं अपनी जबान में, अपने घर वापिस लौटने में असमर्थ
जहां मेरा शौहर और बच्चे इंतजार में हैं मेरी वापिसी के
जी रही हूं इस पागलखाने में

तुम अभी तक अपनी पत्रिका में मुख्य संपादक हो

डेथ सर्टीफिकेट

जब वह भुला बैठा उसे
वह याद नहीं रख पाई अपने को, और अधिक
इसीलिए अपनी बन्द पलकों पर एक नींद लिए
वह मर गई

नहीं, यह मत सोचना कि उसने आत्महत्या की
वह तो बस मर गई
जैसे कि एक फूल मरता है
बिना पानी के

उन्हें नफरत है खिड़कियों से..

भाग – 6

परिशिष्ट

जनविकल्प का लोकार्पण, 29 दिसंबर, 2006। दाएं से : असलम आजाद, प्रेमकुमार मणि, मुचकुंद दुबे और मदन कश्यप

जन विकल्प के कवर पेज। पत्रिका के कुल 11 अंक प्रकाशित हुए, जिनमें से एक अंक साहित्य वार्षिकी के रूप में छपा।

जनविकल्प में प्रकाशित सामग्री की सूची

जनवरी, 2007

देशकाल
सामाजिक न्याय की सत्ता संस्कृति
- अनिल चमड़िया

एक नायक का पतन
- अभय मोर्य

बिहार में पंचायत चुनाव : महिला मुक्ति के सवाल
- भारती एस कुमार

साक्षात्कार
अरुण कमल -
'साहित्य प्रायः उनका पक्ष लेता है जो हारे हुए हैं'

अध्ययन कक्ष
प्राचीन भारत में वर्ण व्यवस्था और भाषा
- राजू रंजन प्रसाद

बहुजन नजरिए से 1857 का विद्रोह
- कंवल भारती

– जीवकांत की चार कविताएं

आलोचनात्मक हस्तक्षेप की आवश्यकता
- राजकुमार राकेश

उर्दू शब्दों के इस्तेमाल में नासमझी
- फ़ज़्ल इमाम मल्लिक

पुस्तक-चर्चा
कट्टरवादी दृष्टि से किताब का पाठ
- मुशर्रफ़ आलम ज़ौकी

कविता-पुस्तिका
- जनविकल्प के उद्घाटन अंक जनवरी, 2007 के साथ 24 पृष्ठों की कविता पुस्तिका 'यवन की परी' प्रकाशित हुई थी, जिसमें एक अनाम कवयित्री की लंबी कविता व उससे संबंधित रति सक्सेना की कविता व टिप्पणी संकलित थी।

फरवरी, 2007

समकाल
विश्व : सद्दाम के बाद
- जुबैर अहमद भागलपुरी

साक्षात्कार
विपिन चन्द्र
'भूमंडलीकरण को स्वीकार करना ही होगा'

अध्ययन कक्ष
धर्म की आलोचना की आलोचना
- अशोक यादव

याद
और एक स्कूल का अंत हो गया
- राजू रंजन प्रसाद

कमलेश्वर
- राजेन्द्र यादव

मतांतर
मनोरोग से जुड़े अंधविश्वासों पर चोट करती कविता
- विनय कुमार

ज्ञानेन्द्रपति की चार कविताएं

मार्च, 2007

समकाल
गणतंत्र के अंकुर के बीच मधेशियों का जायज विरोध
- पंकज पराशर

संविधान पर न्यायपालिका के हमले के खिलाफ
- शरद यादव

सच्चर रिपोर्ट की खामियां
- शरीफ कुरैशी

विदेश भक्त एम्स
- मुसाफिर बैठा

पार्टनर आपकी पक्षधरता क्या है?
- प्रमोद रंजन

जनसत्ता, रूपकवंर प्रसंग और फिर से एक सती संदर्भ
- अविनाश

अध्ययन कक्ष

ऋग्वैदिक भारत और संस्कृत : मिथक एवं यथार्थ

- राजेन्द्रप्रसाद सिंह

गरिमा की अर्थव्यवस्था

- गाई सोमां

धरोहर

जाति और योनि के दो कटघरे

- डा. राममनोहर लोहिया

अछूत समस्या

- भगत सिंह

पुस्तक चर्चा

प्रेमचंद की दलित कहानियां

- धीरज कुमार नाइट

अप्रैल, 2007

समकाल

नंदीग्राम : विकास का खूनी खेल

- रेयाज-उल-हक/सुनील

उत्तर प्रदेश का कुरूक्षेत्र

- विद्याभूषण रावत

फौजी शासन के निशाने पर न्यायपालिका और मीडिया

- पंकज

दवाएं और मंत्री की घोषणा

- अनिकेत

सर्वोच्च न्यायालय की सक्रियता पर सवाल
- स्वतंत्र मिश्र
तुर्कमेनिस्तान का अनिश्चित भविष्य
- पंकज पराशर

साक्षात्कार
यह सीधे-सीधे युद्ध है...
- अरुंधती राय

अध्ययन कक्ष
बौद्ध दर्शन के विकास व विनाश के षड़यंत्रों की साक्षी रही पहली सहस्राब्दी
- डा. तुलसी राम

धरोहर
गुलामगिरी
- जोतीराव फुले

इंटरनेट से
क्रिकेट कथा वाया मीडिया
- उमाशंकर सिंह

फिल्म
काबुली वाले के देश में
- फ़ज़ल इमाम मल्लिक

मई, 2007

समकाल
फिर उभरा फासीवादी जिन्न
- स्वतंत्र मिश्र

सुशासन : टोटकातंत्र युग का नया फंडा
- राजकुमार राकेश

हाशिये के लोग और पंचायती राज अधिनियम
- लालचंद ढिस्सा

बांग्लादेश में सैनिक सत्ता
- पंकज पराशर

उपभोक्तावाद और परिवार
- प्रमोद रंजन

मार्क्स को याद करते हुए
- राजू रंजन प्रसाद

कविता
- सुरेश सलिल

साक्षात्कार
योगेन्द्र यादव
जाति केवल मानसिकता नहीं

सीताराम येचुरी
वैश्वीकरण के साथ खास तरह के संवाद की जरूरत

इंटरनेट से
क्या कानून जजों के लिए नहीं?
- सत्येंद्र रंजन

आलेख
दण्डकारण्य : जहां आदिवासी महिलाओं के लिये जीवन का रास्ता युद्ध है
- आदिवासी महिला मुक्ति मंच

जून, 2007

साक्षात्कार
हम जनता के लामबंदी में यकीन रखते हैं
- माओवादी नेता गणपति

समकाल
अमेरिकी हित बैंक?
- पंकज पराशर

प्रवास और अर्थव्यवस्था का संकट
- रेयाज-उल-हक

पानी विश्वयुद्ध नहीं, गृहयुद्ध का कारण बनेगा
- सचिन कुमार जैन

जातिवाद का घिनौना खेल
- अजय कुमार सिंह

राजनीति का मोहरा बना धर्म
- जसपाल सिंह सिद्धू

ब्राह्मण-जाल में माया
- कंवल भारती

धर्म का असली धंधा
- स्वतंत्र मिश्र

गुटीय संघर्ष और शांति वार्ता
- दिनकर कुमार

जनयुद्ध और दलित-प्रश्न
- कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ नेपाल (माओवादी)

कविता
- नागार्जुन
- रवीन्द्र स्वप्निल प्रजापति

धरोहर
आपातकाल : एक डायरी
- विशन टंडन

जुलाई, 2007

समकाल
सिर पर मैला ढोने की प्रथा
- ज्ञानेश्वर शंभरकर

अंतरिक्ष की धर्म यात्रा
- मुसाफिर बैठा

मौत के कगार पर बनारस के बुनकर
- वसीम अख्तर

राष्ट्रपति चुनाव : परंपराओं का विध्वंस
- रजनीश

ईसाइयों के विरुद्ध हिंसा
- राम पुनियानी

भारत-अमेरिका परमाणु समझौता
- पंकज पराशर

जनयुद्ध और दलित प्रश्न II
- सी.पी.एन. (माओवादी)

बोरिस येल्तसिन के बहाने
- अनीश अंकुर

नया ज्ञानोदय : ताअज़ीम के मेआंर परखने होंगे
- प्रमोद रंजन

कविता
- दिनकर कुमार

आयोजन
व्याख्यान : अयोध्या प्रसाद खत्री
- राजीवरंजन गिरि

रपट -अरुण नारायण

पुस्तक चर्चा
समय मुर्दागाड़ी नहीं होता
- राजू रंजन प्रसाद

साक्षात्कार
यह भारतीय इतिहास का निर्णायक समय है
- माओवादी नेता गणपति

- वीरेन नंदा

अगस्त, 2007

समकाल

माइक थेवर को जानना जरूरी है
- रवीश कुमार

शिक्षा की जाति
- मुसाफिर बैठा/प्रदीप अत्रि

बजट व्यवस्था अधिनियम
- अमित भादुरी

मानवाधिकार आंदोलन की प्रतीक शर्मिला चानू
- दिनकर कुमार

इंतजार था जिसका ये वो सहर तो नहीं
- पंकज पराशर

आज के तुलसीगण
- प्रमोद रंजन

व्यवस्था बहुत कम शब्दों को जानती है
- राजूरंजन प्रसाद

मुक्ति-संघर्ष के दो दस्तावेज
- रेयाज-उल-हक

शांति प्रक्रिया का परिप्रेक्ष्य
- राम पुनियानी

15 अगस्त का सन्नाटा
- अनीश अंकुर

साक्षात्कार
संजय काक
'पांच सौ वर्ष पुराना है कश्मीर की गुलामी का इतिहास'

अमर्त्य सेन
'प्रायः मानवीय मुद्दों को नजरअंदाज कर दिया जाता है'

कविता
- उद्भ्रांत

घरोहर
मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन का एक पहलू
- मुक्तिबोध

सितंबर, 2007

समकाल
मैं बौद्ध धर्म की ओर क्यों मुड़ा?
- लक्ष्मण माने

सामाजिक जनतंत्र के सवाल
- प्रफुल्ल कोलख्यान

पाकिस्तान में लोकतंत्र की सुगबुगाहट
- पंकज पराशर

नामकरण के निहितार्थ
- एल एस हरदेनिया

डॉक्टर कैद में है
- अजय प्रकाश

सब्सिडी, आरोप और अश्लील आवाजों की (अ)राजनीति
- आदित्य शर्मा

नदियों का प्रतिशोध
- गुलरेज़ शहज़ाद

मंडल, कमंडल और भूमंडलीकरण
- मृत्युंजय प्रभाकर

खबरों का अकाल
- स्वतंत्र मिश्र

अंधविश्वास का पुल
- मुसाफिर बैठा

तस्लीमा और उदारवादी मूल्य
- राम पुनियानी

भाषाशास्त्री राजमल बोरा
- राजेन्द्रप्रसाद सिंह

कविता
- विष्णुचन्द्र शर्मा

धरोहर
बुद्धिजीवी की भूमिका
- एडवर्ड सईद

अक्टूबर, 2007

समकाल

राजापाकर कांड
- रजनीश उपाध्याय
- अनीश अंकुर
- नरेन्द्र कुमार
- गुलरेज़ शहज़ाद
- डा. विनय कुमार

उत्तर भारत में पिछड़ावाद
- दिलीप मंडल

यूरेनियम खनन पर घमासान
- दिनकर कुमार

शिक्षा के सार्वजनिकरण की चुनौतियां
- अशोक सिंह

जहर का भूमंडलीकरण
- सचिनकुमार जैन

परमाणु संधि के निहितार्थ
- अभिषेक श्रीवास्तव

ब्राह्मणवाद की पुनर्स्थापना का षडयंत्र
- प्रमोद रंजन

संविधान है राष्ट्रीय धर्मशास्त्र
- राम पुनियानी

एक मिथक का पुनर्पाठ
- प्रेमकुमार मणि

पेरियार की दृष्टि में रामकथा
- सुरेश पंडित

रामकथा के विविध रूप
- रामधारीसिंह दिनकर

कविता
- पंकज कुमार चौधरी
- निलय उपाध्याय
- वसंत त्रिपाठी
- मुसाफिर बैठा

साक्षात्कार
सुधीर चंद्र
भारतीय इतिहास लेखन मार्क्सवादी नहीं, राष्ट्रवादी है

पुस्तक चर्चा
गांधी का दलित विमर्श
- कंवल भारती

नक्सबाड़ी का दौर वाया फिलहाल
- राजीवरंजन गिरि

दिसंबर, 2007-मार्च, 2008
(साहित्य वार्षिकी)

कहानियां

गली के मोड़ पे
- संजीव

पास-फेल
- संतोष दीक्षित

हंगर फ्री इंडिया
- विमल कुमार

समानांतर
- कविता

आबो-हवा
अरविंद शेष

हमन को होशियारी क्या
- रणेन्द्र

ज्ञान विकार है
- गुरदयाल सिंह

विद्रोह
- बाबुराव बागुल

प्यास
- मोहनदास नैमिशराय

यह भी युद्ध है
- राजकुमार राकेश

बसंती बुआ
- अनन्तकुमार सिंह

आखिरी औरत
- शेखर मल्लिक

लेख
उत्तरआधुनिकता और हिंदी का द्वंद्व
- सुधीश पचौरी

आधुनिक हिन्दी की चुनौतियां
- अरविंद कुमार

हिंदी में आत्म-आलोचना का अभाव है
- जवाहरलाल नेहरू

साक्षात्कार
राजेंद्र यादव : प्रतिभा आपको अकेला कर देती है

उपन्यास अंश
शब्द-सत्ता
- श्यामबिहारी श्यामल

कविताएं
- संजय कुंदन
- आर. चेतनक्रांति
- सुंदरचंद ठाकुर
- पवन करण
- कुमार अरुण
- कुमार मुकुल
- मधु शर्मा

- प्रियदर्शन
- विनय कुमार
- मदन कश्यप
- शंकर प्रलामी
- बसंत त्रिपाठी
- अरुण आदित्य
- बाबुराव बागुल
- ज्ञानेंद्रपति
- चंद्रकान्त देवताले
- विष्णु नागर
- भगवत रावत
- विजेंद्र
- अनूप सेठी
- नीलाभ
- खगेंद्र ठाकुर
- रवीन्द्र स्वप्निल प्रजापति
- प्रमोद रंजन
- मुसाफिर बैठा
- पंकज पराशर
- मृत्युंजय प्रभाकर
- रोहित प्रकाश
- रमेश ऋतंभर
- शहंशाह आलम
- आशीष कुमार
- अजेय
- प्रणय प्रियंवद
- मोहन साहिल
- कल्लोल चक्रवर्ती
- विक्रम मुसाफिर
- लनचेनबा मीतै

विमोचन से संबंधित समाचार व समीक्षाएं

जन विकल्प पत्रिका का विमोचन

आज समाचार सेवा

पटना। बिहार में पत्र-पत्रिका निकालने की समृद्ध परम्परा विलुप्त हो रही है 'जन विकल्प' इसे पुनर्जीवित करेगा। पूर्व विदेश सचिव एवं समान स्कूल शिक्षा प्रणाली आयोग के अध्यक्ष मुचकुन्द दुबे ने शुक्रवार को 'जन विकल्प' हिन्दी मासिक पत्रिका का विमोचन करते हुए कही।

श्री दुबे ने कहा कि पटना से पाटल एवं हिमालय जैसी उच्च स्तरीय पत्रिका का प्रकाशन होता था किन्तु दुर्भाग्य से अच्छे पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन बंद हो गया।

जन विकल्प के सम्पादकीय पर विचार व्यक्त करते हुए श्री दूबे ने कहा कि सम्पादक ने भारतीय प्रजातंत्र के लिए गंभीर मुद्दे को उठाया है। राजनीतिक दलों में जब तक आंतरिक प्रजातांत्रिक व्यवस्था नहीं होगी तब तक उन राजनीतिक दलों द्वारा संचालित व्यवस्था प्रजातांत्रिक नहीं होगी। पत्रिका से लगी कविता पुस्तिका पर उन्होंने कहा कि 'यवन की परी' क्रांतिकारी कविता है जो कई पहलुओं को एक साथ उजागर करती है।

इस अवसर पर पायोनियर के सम्पादक अजीत कुमार झा ने कहा कि पटना पत्रकारिता की भूमि है। बाजारवाद का प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है लेकिन इस दौर में भी पटना में संतुलित पत्रकारिता हो रही है।

इस अवसर पर पत्रिका के संपादक प्रेम कुमार मणि, शैबल गुप्ता, मदन कश्यप सहित अन्य लोगों ने विचार व्यक्त किये।

(आज, पटना, शनिवार, 30 दिसम्बर, 2006)

सार्थक वैचारिक हस्तक्षेप जनविकल्प

प्रमोद कुमार सिंह

बिहार में अर्से से एक वैचारिक पत्रिका की कमी महसूस की जा रही थी। आम लोगों के सवालों को उठाने का एक शाब्दिक मंच जरूरी लगने लगा था। इसी को ध्यान में रखकर 'जन विकल्प' पत्रिका का प्रकाशन किया गया। यह स्वागतयोग्य पहल है। विगत दिनों आद्री के सभागार में 'जन विकल्प' का लोकार्पण करते हुए पूर्व विदेश सचिव व समान स्कूल शिक्षा प्रणाली आयोग के अध्यक्ष मुचकुंद दुबे ने कहा कि बिहार में बड़ी संख्या में पाठकों के होने के बावजूद एक वैचारिक पत्रिका की कमी थी। इस कमी को 'जन विकल्प' पूरा करेगा, ऐसा मेरा विश्वास है। उन्होंने कहा कि विचारों का संकट घातक है। इससे निपटने की दिशा में यह पहल प्रशंसनीय है। अरब के दोहा में 'द ट्रिब्यून' के संपादक अजित कुमार झा ने प्रिंट मीडिया के बाजार के बढ़ते हस्तक्षेप को खतरनाक बताया। विधान पार्षद असलम आजाद ने हिंदी-उर्दू की मिलीजुली भाषाई संस्कृति पर विस्तार से प्रकाश डाला। आद्री के मानद सचिव शैवाल गुप्ता ने बिहारी उपराष्ट्रीयता के सवाल को रेखांकित किया। मंच संचालन करते हुए कवि मदन कश्यप ने पत्रकारिता के क्षेत्र में पूंजी के बढ़ते दखल की ओर इशारा करते हुए कहा कि इससे निटपने के लिए लघु पत्रिकाओं को समर्थ बनाना होगा। उन्होंने 'जन विकल्प' की कविता पुस्तिका में संकलित कविता 'एक खत पागलखाना से' को शताब्दी की सर्वश्रेष्ठ कविता बताया। इस मौके पर कथाकार संतोष दीक्षित व रमाशंकर आर्य ने भी इस पत्रिका की बाबत विचार रखे। पत्रिका के संपादक कथाकार-पार्षद प्रेमकुमार मणि ने धन्यवाद ज्ञापन करते हुए पत्रिका को बेहतर बनाने की अपनी प्रतिबद्धता जतायी। इस अवसर पर संपादक प्रमोद रंजन, मधुकर सिंह, नरेन, अरविंद यरवदा, मुसाफिर बैठा, अरूण नारायण, अनीश अंकुर, राजू रंजन, कासिम खुरशीद, शंभू सुमन, अशोक कुमार और जितेंद्र वर्मा सहित कई प्रबुद्धजन मौजूद थे। इस पत्रिका का प्रकाशन वैचारिक गैप को भरने में सहायक होगा, ऐसा वहां उपस्थित लोगों का मानना था।

(दैनिक जागरण, पटना 9 जनवरी, 2007)

नंदीग्राम पर लिखी कविताओं ने छुआ है

मैनेजर पांडेय

मैं उसी साहित्यिक कृति को महत्व देता हूं, जो आज के भारतीय समाज और सभ्यता के संकटों की किसी न किसी रूप में पहचान करती है और उसे अभिव्यक्त करती है। हाल के दिनों में देश के विभिन्न भागों में किसानों की यातनाओं और उनकी आत्महत्या से जुड़ी जो रचनाएं प्रकाशित हुईं हैं, उनको खोज-खोज कर पढ़ रहा हूं। दूसरी ओर, देश में बढ़ते सांप्रदायिक उन्माद के कारण अल्पसंख्यक गहरे संकट में हैं। उनकी पीड़ा अभिव्यक्त करने वाली रचनाएं आईं हैं। उनको भी मैं पढ़ रहा हूं। इस समय पश्चिम बंगाल के नंदीग्राम में सीपीआई (एम) के लोग जिस तरह संगठित होकर हिंसा और आतंक के सहारे अपनी स्थिति मजबूत करने में लगे हुए हैं, उससे संबंधित कुछ कविताएं पटना से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'जन विकल्प' में छपी हैं, जिन्होंने मुझे काफी प्रभावित किया है। उनमें से भी बांग्ला कवि जय गोस्वामी ओर द्यूतिमान चौधरी की कविताएं काफी प्रभावित करती हैं। उदाहरण के लिए, जय गोस्वामी की कविता की कुछ पंक्तियां आपके सामने रखता हूं :

"पहले छीन लो मेरा खेता
फिर मुझसे मजदूरी कराओ
मेरी जितनी भर आजादी थी, उसे तोड़वा दो लठैतों से
फिर उसे
कारखाने की सीमेंट और बालू में सनवा दो
उसके बाद
सालों-साल मसनद रोशन कर
डंडा संभाले बैठे रहो।"

(अमर उजाला, 17 जनवरी, 2008)

समीक्षा

आंतरिक जनतंत्र का सवाल

सुरेश सलिल

"राजनीतिक पार्टियां देश में जनतंत्र के खतरे को चाहे जितना समझती हों, अपनी ही पार्टियों के आंतरिक जनतंत्र के प्रति पूरी तरह उदासीन हैं। जो राजनीतिक दल अपने आंतरिक जनतंत्र को ठीक नहीं रख सकता। कमजोर जनतंत्र पर टिके ये राजनीतिक दल देश के जनतंत्र को कमजोर ही करेंगे। ...कुछ अपवादों के साथ लगभग सभी राजनीतिक दल एक गिरोह के रूप में काम कर रहे हैं जहां अनुशासन का अर्थ है दलीय तानाशाही की कारगुजारियों पर चुप्पी साधे रखना।" यह उद्धरण नवजात पत्रिका 'जन विकल्प' के संपादकीय अग्रलेख से लिया गया है जो पत्रिका के दो संपादकों में से एक सुपरिचित कथाकार प्रेमकुमार मणि के नाम से प्रकाशित है। प्रेमकुमार मणि की दलीय प्रतिबद्धताओं से जो लोग परिचित हैं वे समझ सकते हैं कि ये पंक्तियां जहां व्यापक रूप से देश की संसदीय राजनीति के स्वास्थ्य की ओर संकेत करती हैं वहीं इसके आसन्न संकेत संपादक के अपने दल से संदर्भित भी हैं जिसकी पुष्टि जार्ज फर्नांडीज पर केंद्रित अभय मौर्य के लेख 'एक नायक का पतन' से भी होती है। इस लेख का इंट्रो है, 'एक समय विद्रोही नायक-सा दिखने वाला व्यक्ति पतन के ऐसे गर्त में गिर सकता है। देश को आज यह सवाल पूछने का अधिकार है कि आखिर क्यों बीते दिनों के उस डायनामाइट नायक का यह हश्र कैसे हुआ?' अपने ही दलीय मंच से उठाया गया दलगत आंतरिक जनतंत्र का सवाल निश्चय ही देश के वर्तमान और भविष्य की चिंताएं अपने में समेटे हैं लेकिन यहां एक अवधारणात्मक सवाल उठता है कि जनतंत्र के साथ नायक क्यों? जनतंत्र का तो मूल विचार ही नायकवाद के विरुद्ध है। हमारी विडंबना ही यह है कि हम किसी नायक की कल्पना से मुक्त नहीं हो पाते। जबकि सटीक जनतंत्र के लिए नायकवाद से मुक्त होना पहली शर्त है। फ्रांस की राज्यक्रांति से अब तक हम बार–बार नायकवाद से मुक्ति की आकांक्षा के बावजूद उसकी ही गिरफ्त में जाने को अभिशप्त रहे हैं। शायद यही बुनियादी वजह है कि अपने लंबे इतिहास के बावजूद सच्चा जनतंत्र अब

तक एक सपना ही बना हुआ है। दूसरी बात यह कि जनतंत्र किवां लोकतंत्र का सबसे बड़ा पैरोकार अमेरिका दुनिया भर में लोकतंत्र को किस तरह परिभाषित कर रहा है, उसके साथ कैसा सुलूक कर रहा है। स्थापित तथ्य है कि जार्ज बुश के नेतृत्व वाला अमेरिका जहां दुनिया भर के सच्चे लोकतांत्रिक विश्वासों के लिए आतंक का प्रतीक बना हुआ है वहीं हमारे आतंरिक जनतंत्र की अनदेखी और उपेक्षा की प्रोटीन भी इंजेक्ट कर रहा है। अगर हम इस तथ्य को ध्यान में रखकर देखें तो जनतंत्र के विमर्श के दिगंत व्यापक होंगे। एक सच्ची वैचारिक पत्रिका या मंच को यहीं से शुरुआत करनी होगी। पूंजीवाद या जनवादी लोकतंत्र की बहस फिलहाल हम छोड़ भी दें तो वाल्ट व्हिटमैन, अब्राहम लिंकन, मार्टिन लूथर किंग ने जिस लोकतंत्र का झंडा उठाया था और साम्राज्यवाद या उपनिवेशवाद के चक्के तले पिसती राष्ट्रीयताओं को जिससे जीवन शक्ति मिली थी, वह लोकतंत्र आज उन्हीं की जमीन पर तार-तार हो रहा है। पिछले डेढ़ सौ सालों से अमेरिका अपने तौर तरीकों से सारी दुनिया को प्रभावित करता रहा है। आज भी कर रहा है। इसलिए हमें तात्कालिक और स्थानीय लाभों को देखने के बजाय असली लक्ष्य को ही नजर में रखना होगा।

पत्रिका के प्रथमांक का संयोजन सामाजिक न्याय, महिला मुक्ति, इतिहास विमर्श, सामाजिकी तथा भाषा और साहित्य, कवि अरुण कमल से प्रमोद रंजन की बातचीत, राजकुमार राकेश के समकालीन संदर्भों से जुड़ा हुआ है और निश्चय ही इस सामग्री में पाठकों के लिए सोचने और प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए बहुत कुछ है। मिसाल के तौर पर ज्ञानचंद की पुस्तक 'एक भाषा दो लिखावट' को लेकर उर्दू वालों के बीच जो तीखी प्रतिक्रिया हुई और हो रही है, जौकी ने उस पर तार्किक ढंग से विचार किया है। वे ज्ञानचंद को बख्शते नहीं हैं लेकिन उर्दू वालों पर उंगली उठाने में भी कोई चूक नहीं करते। जिन्होंने पूरा जीवन उर्दू पर कुर्बान कर देने के बावजूद निरंतर उपेक्षा में जीते आए ज्ञानचंद के मनोविज्ञान को नहीं समझा। जौकी की यह उदारवादी तार्किक दृष्टि, खेद के साथ कहना पड़ता है कि उर्दू में सोचेन और लिखने वाले लेकिन नागरी अक्षरों में छपने का हौसला रखने वाले हमारे दूसरे दोस्तों के पास नहीं है। वे उर्दू जबान और अदब के बारे में किसी बाहरी व्यक्ति द्वारा कही गई बात को सीधे षडयंत्र और आक्रमण की भांति लेते हैं। 1857 पर लिखते हुए कंवल भारती ने कोई नई बात नहीं कही है। सत्तावन को लेकर दो नजरिए शुरू से ही रहे है। एक नजरिया जहां उसे साम्राज्यवाद-उपनिवेशवाद विरोधी विस्फोट के रूप में लेता है तो दूसरा विशुद्ध सामंती असंतोष के रूप में और यह कि अगर

सत्तावन के विद्रोह में उनकी जीत होती तो इतिहास का पहिया बजाय आगे बढ़ने के पीछे मुड़ जाता। हम आधुनिक पूंजीवादी चरण में पहुंचने की बजाय सामंती दौर में लौट जाते। नंबूदरीवाद जैसे कम्युनिस्ट तक इस सोच के शिकार रहे हैं। कंवल भारती वहां तक नहीं जाते। उनकी पापुलर पालिमिक्स सत्तावन पूर्व के संथाल, मुंडा आदि आदिवासी जनजाति के विद्रोहों की उपेक्षा करते हुए आंबेडकरवाद का ही चक्कर लगाती रहती है। ऐसे पूर्वग्रहों के बीच इतिहास, साहित्य के किसी निरपेक्ष पुनर्मूल्यांकन की उम्मीद निरर्थक है।

जनविकल्प (प्रथमांक जनवरी 2007)
संपादक *– प्रेमकुमार मणि, प्रमोद रंजन,*
संपर्क *: शिक्षक कॉलोनी, कुम्हरार, पटना,*
मूल्य *: एक प्रति : 10 रूपए, वार्षिक : 100 रूपए*

(राष्ट्रीय सहारा, रविवार, 4 फरवरी, 2007)

समीक्षा

स्त्री अस्मिता और पहचान की सशक्त आवाज

रोहित प्रकाश

जन विकल्प के उद्‌घाटन अंक के साथ एक कविता पुस्तिका आयी थी 'यवन की परी'। यवन देश की एक महिला, जिसने पागलखाने में आत्महत्या कर ली थी, की एक लंबी कविता छपी थी — 'एक पत्र पागलखाने से' कविता में अनुभूति और अभिव्यक्ति की ऐसी तीव्रता और तीक्ष्णता अवाक कर देनेवाली थी, परी (कवयित्री का कल्पित नाम) की इस संपूर्ण कविता में सचेत स्त्री दृष्टि मौजूद है, जो पितृसत्ता के उपरी शोषणचक्र को ही नहीं, बल्कि उसके आधार और संश्रयों को भी बखूबी समझती है।

उन्हें प्यार है दीवारों से
उन्हें नफरत है खिड़कियों से
वे मुझे मार डालने के आदी हो गये हैं।

इस कविता की सार्थकता इन अर्थों में और अधिक बढ़ जाती है कि कविता लिखने वाली स्त्री स्थिति की स्पष्ट समझदारी के साथ-साथ प्रतिरोध की चेतना से भी लैस है।

कभी भी नहीं मागूंगी उनसे धर्मग्रंथ
पापों के प्रायश्चित के लिए
जिससे महसूस कर सकें वे अपने को मजबूत

यह कविता इनकार करती है और इकरारनामे की शर्त खुद ही तय करती है, कविता में पांच बार एक ही पंक्ति आती है— शॉक थेरेपी इससे बेहतर है। इसे पढ़ते हुए आलोक धन्वा की दूसरी कविता ब्रूनो की बेटियां की प्रसिद्ध पंक्तियां याद आती हैं 'बातें बार-बार दुहरा रहा हूं मैं। एक छोटी-सी बात का विशाल प्रचार कर रहा हूं।' लेकिन न तो स्त्री शोषण एक साधारण प्रक्रिया है और न ही स्त्री मुक्ति की लड़ाई साधारण है। पितृसत्ताओं और वर्गों का आपसी संबंध जितना जटिल है, जिस प्रकार पूंजीवाद खुद को बनाये रखने के लिए आत्म सुधार की प्रक्रिया में रहता है, वैसे ही पितृसत्ता भी अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए आत्म सुधार की प्रक्रिया में रहती है। इस तरह से काफी

हद तक यह स्त्री मानस को अनुकूलित करता है और प्रतिरोध को कम या भ्रमित करने में भी सफल होता है।

इस लिहाज से भी यह एक असाधारण लड़ाई है। और कई बार ऐसा होता है कि स्त्री मुक्ति की इस लड़ाई या विमर्श को 'पुरुष स्वार्थ' से वशीभूत तत्व इसे खास दायरे में ले जाने या दिशा देने की कोशिश करते हैं।

परी की इस कविता में मानवीय सौंदर्य और गरिमा की भावपूर्ण अभिव्यक्ति मौजूद है।

मुझे कतई यह बात झूठ लगती है
बम क्या खाक बच्चों को मारेंगे
वे तो दुश्मनों के लिए बने हैं।

बहुत 'इनोसेंट' सी नजर आनेवाली यह टिप्पणी साम्राज्यवादी हिंसा पर तीखा प्रहार करती है।

मैं इस वक्त मृत चींटी के बारे में सोच रही हूं
सारे मीडियावाले इस बात पर खामोश हैं
ये चींटी अमेरिका की प्रेसिडेंट जो नहीं थी
न ही कोई धार्मिक गुरु
दुनिया की आखिरी चींटी भी नहीं

इस चींटी के साथ परी को रखा जा सकता है। परी के साथ असंख्य स्त्रियों को, असंख्य मनुष्यों को जो पितृसत्तात्मक, पूंजीवादी-साम्राज्यवादी शोषण के शिकार हैं। स्त्री अस्मिता और पहचान की सशक्त आवाज के तौर पर इस कविता को देखा जा सकता है।

(प्रभात खबर, बुधवार, 18 अप्रैल, 2007)

समीक्षा

बहुजन नजरिये की महत्वपूर्ण मासिक पत्रिका

मुसाफिर बैठा

प्रेमकुमार मणि एवं प्रमोद रंजन के संयुक्त संपादकत्व में जन विकल्प नाम से सामाजिक चेतना की पक्षधर एक वैचारिक मासिक पत्रिका का पटना से प्रकाशन गंभीरमना पाठकों के लिए एक अच्छी खबर है। पत्रिका के अब तक प्रकाशित दो अंकों, प्रवेशांक (जनवरी, 2007) तथा फरवरी, 2007 की सामग्री से आश्वस्ति मिलती है कि यदि पत्रिका सतत निकलती रही तो अलग पहचान बना सकेगी। इसकी अधिकांश सामग्री बहुजन नजरिये से बनी है। और वस्तुनिष्ठ व तार्किक-वैज्ञानिक सोच की आग्रही है। संपादकीय में प्रेमकुमार मणि ने भारतीय राजनीतिक पार्टियों में आंतरिक जनतंत्र के क्षरण पर चिंता व्यक्त की है। देशकाल स्तंभ के आलेख अंक की रीढ हैं। अनिलचमड़िया के आलेख 'सामाजिक न्याय की सत्ता-संस्कृति' में सामाजिक न्याय की राजनीति के खेल को उघाड़ा गया है। अभय मोर्य ने 'एक नायक का पतन' के जरिये जार्ज फर्नांडीज के विद्रोही नायक के समझौतापरस्त व विरोधभासी चरित्र के राजनेता में तब्दील हो जाने की विडंबना की कथा कही है। प्रवेशांक में पत्रिका के संपादकद्वय में से एक, प्रमोद रंजन की कवि अरुण कमल से बातचीत भी विचारोत्तेजक है। प्रश्नकर्ता के सूझबूझ भरे प्रश्नों पर कहीं-कहीं अरुण कमल का जवाब राजनेताओं के जवाब-सा गोलमटोल, तो कहीं एकदम 'गोल' हो गया है। कंवल भारती का आलेख 'बहुजन नजरिए से 1857 का विद्रोह' गवेषणात्मक अध्ययन पर आधारित एवं सबऑल्टर्न दृष्टि से लैस है। यह उक्त विद्रोह की स्थापित धारणा को सिरे से खंडित करता है। इस लेख के साथ की गयी संपादकीय टिप्पणी इस विद्रोह को प्रथम स्वतंत्रता संग्राम तो मानती है पर महज इस अर्थ में कि इंग्लैंड के अशराफ तबके द्वारा भारत के अशराफ तबके से किया गया सीमित समझौता भर था, जिसके तहत भारत में समाज सुधारों से अंगरेजों ने अपना हाथ खींच लिया थहा। अध्ययन कक्ष स्तंभ के तहत राजू रंजन प्रसाद का शोधआलेख 'प्राचीन भारत में वर्ण व्यवस्था और भाषा'

सम्मिलित है। यहां वर्ण और भाषा की भेदक विभिन्नता में ब्रह्मणवादी, सामंती मानस की छल-कपट बदबूदार संस्कृति के आमद के रूप में उभर कर सामने आती है। इस अंक में 'पुस्तक चर्चा' के अंतर्गत मुशरर्फ आलम जौकी का लेख तथा 'अन्यान्य' के अंतर्गत फजल इमाम मल्लिक का लेख भी पठनीय है। राजकुमार राकेश के 'आलोचनात्मक शीर्षक को भी कोई गंभीर पाठक पढ़े बिना नहीं रह सकेगा। प्रवेशां मे मैथिली कवि जीवकांत की चार मैथिली (कवि द्वारा ही अनुदित) कवितायें हैं। इनमें 'सूखे पत्ते ढेर' में अच्छी भाव-व्यंजना है। 'नकली' और अग्नि प्रलय' शीर्षक कविताएं सामान्य हैं, जबकि 'शहर में' कविता का अंतिम अंतरा अटपटा व भ्रामक है। मसलन कविता की अंतिम तीन पंक्तियों , पुराने, विधि-व्यवाहर/पुराने लोकाचार/संस्कृति व धार्मिक कर्मकांड व बासी व तेबासी होकर फेंके जा रहे।' इस कवि सत्य के उलट सांस्कृति धार्मिक आडंबर का प्रकोप महामारी की तरह हमारे आधुनिक होते शहरी समाज को ग्रस ही रहा है। जीवकांत की इन कविताओं के अतिरिक्त 'जनविकल्प' के पहले अंक के साथ कविता पुस्तिक 'यवन की परी' भी जारी की गयी है। इसमें अरब की एक ऐसी कवयित्री 'परी' की कविता दर्ज है, जिसने पागलखाने में आत्महत्या कर ली। त्रिवेंद्रम की रति सक्सेना के सौजन्य से उपलब्ध यह कविता भी विमर्श व विश्व राजनीति को संवेदनशील ढंग से परिभाषित है।

'जनविकल्प' का फरवरी अंक भी खासा विचारोत्तेजक है। विख्यात इतिहासकार बिपनचंद्र ने रोहित प्रकाश से बातचीत में जहां 1857 के विद्रारेह को पारंपरिक नजरिये से देखा हे, वहीं भगत सिंह पर उनके दृष्टिटकोण में नयापन है। उन्होंने भूमंडलीकरण को आवश्यक बताते हुए इसका विरोध करनेवालों को 'महा बेवकूफ' करार दिया है। जाहिर है नामचीन मार्क्सवादी इतिहाकसकार की ऐसी टिप्पणी कई विवादों को जन्म दे सकती है। अपने लंबे आलेख 'धर्म की आलोचना की आलोचना' में युवा समाजकर्मी अशोक यादव भारत में प्रचलित धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए यर्थाथपरक निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि हिंदू धर्म सबसे अमानवीय धर्म है।

संपादकीय के तहत प्रेम कुमार मणि ने एक ओर पिछले दिनों पटना में संपन्न ग्लोबल मीट को 'अपर कास्ट मीट' बताया है, वहीं यह भी कहा है कि नीतीश कुमार के सोच में सामाजिक न्याय का पुट होता है। उन्होंने बिहार के विकास के संदर्भ में 'बेयर फुट कैपिटलिज्म' (नंगे पांव पूंजीवाद) की प्रस्तावना की है। साहित्य अकादमी पुरस्कार के उपलक्ष्य में ज्ञानेंद्रपति की कविताओं का

‘समकालीन कविता’ के संपादक विनय कुमार द्वारा चयन प्रतिनिधिपरक है। कुछ 32 पृष्ठों की यह दसटकिया पत्रिका अखबारी कागज पर मुद्रित है। सो इस वैचारिक पत्रिका के प्रकाशकों को मूल्य और कागज पर पुनर्विचार करना चाहिए।

(प्रभात खबर, 13 फरवरी, 2007)

एक बहुध्रुवीय दुनिया का सपना

सुरेश सलिल

आज जब हिंग्लिशिया शेखी कारपोरेट साम्राज्यवाद और उसके संवाहक मीडिया की प्रवक्ता बनकर इतिहास और विचारधारा यहां तक कि आदमी के अंत तक की घोषणाएं करते नहीं थक रहीं। 'सामाजिक चेतना की वैचारिकी' की मोटो लाइन के साथ 'जन विकल्प' की दस्तक (8 जुलाई 2007), उन जय घोषणाओं की तिली लि ली करती हुई प्रखर सामाजिक चेतना के साथ सामाजिक भूमि से उभर रही है। छत्तीस पृष्ठों की एक क्षीणकाय पत्रिका से उभरती यह दस्तक मुर्डोक के दैत्याकार मीडिया साम्राज्य के सामने उसी तरह की चुनौती पेश करती है जैसे बुश की साम्राज्यवादी सोच के सामने इराक की चुनौती। यह दस्तक अकेली एक पत्रिका की नहीं है। इसमें फिलहाल युवा संवाद, सामयिक वार्ता जैसी उन तमाम छोटी पत्रिकाओं के स्पष्ट रेसे मिले हैं जो तथाकथित मीडिया की पहुंच से बाहर के इलाकों की जनभावना को अभिव्यक्ति देती है और एक व्यापक वैचारिक युद्ध की पृष्ठभूमि तैयार करने में संलग्न है। फिर भी यहां चर्चा फिलहाल 'जन विकल्प' के जुलाई अंक की ही। ...इस अंक की संपादकीय टिप्पणयां बिहार में माओवादी हिंसा, निवर्तमान राष्ट्रपति अब्दुल कलाम की विदाई तथा स्व. चंद्रशेखर की स्मृति को समर्पित हैं। बिहार के विभिन्न हिस्सों में माओवादी हिंसा पर टिप्पणी करते हुए यहां कहा गया है – 'हम किसी तरह की हिंसा का समर्थन नहीं करते। चाहे वह सरकारी हिंसा हो या किसी राजनीतिक संगठन की... लेकिन जो सरकार एकाएक आगे बढ़कर 1857 के सशस्त्र विद्रोह की 150वीं जयंती पर जलसों का आयोजन कर रही हो उसे इस तरह की हिंसा का विरोध करने का कोई नैतिक हक नहीं है। माओवादी कह सकते हैं और कहते हैं कि यह उनका मुक्तियुद्ध है। ...हम एक बार फिर सरकार से कहना चाहेंगे कि वह उग्रवाद उभरने के वास्तविक कारणों तक जाए और उनका निराकरण करे बजाय पुलिसिया दमन के। इसके लिए आवश्यक है कि गरीबों को विश्वास में लिया जाए। पिछले पंद्रह वर्षों के लालू राज में बिहार का विकास तो नहीं हुआ लेकिन

पिछड़े दलितों में झूठा ही सही यह अहसास तो था कि लालू उनके हैं और उनके माध्यम से उनका राज चल रहा है। इस कारण अतिवादी ताकतें गरीब जनता को गोलबंद करने से सफल रहीं। नीतीश सरकार बनते ही एक अफवाह फैली कि सामंतों का राज फिर कायम हो गया। दुर्भाग्य से यह बात निचले स्तरों तक चली गई है।'

...पूर्व राष्ट्रपति अब्दुल कलाम को यहां मुख्यतः मिसाइलमैन के रूप में ही रेखांकित किया है और यह कि एक मिसाइलमैन को देश का राष्ट्रपति बनाना दुर्भाग्यपूर्ण था। ...'राष्ट्रपति के रूप में कलाम ने कोई आदर्श नहीं रखा। कबीर की बानी उधार ले लें तो कहा जा सकता है कि चादर मैली ही की। ...उनकी मिसाइलें मानवता के विरुद्ध ही खड़ी हैं।' यहां हिरोशिमा, नागासाकी पर एटम बम गिराने वाले अमेरिकी वैज्ञानिक क्लाड इथरली को याद किया गया है जो बाद में पश्चाताप से पागल हो गया था। 'इथरली में इतनी चेतना तो थी कि वह प्रायश्चित कर सकता था। अग्नि की उड़ान की तरह अपनी सफलता की कहानी 'महाप्रलय' की तरह वह भी लिख सकता था। लेकिन उसने पागलखाने में रहना बेहतर समझा। इथरली के पागल होने की घटना ने सारी दुनिया को जो संदेश दिया उसे कलाम अगर समझते तो उन्हें मैं सलाम करता।...' कभी के युवा तुर्क और पूर्व प्रधानमंत्री चंद्रशेखर के निधन पर उन्हें याद करते हुए उनके राजनीतिक जीवन के परवर्ती दौर में चंद्रास्वामी और सूरजदेव सिंह का निकट से निकटतर आते जाना वहां संपादक को आहत करता है – 'आश्चर्य होता है जिस व्यक्ति ने कभी आचार्य नरेंद्रदेव के शिष्यत्व में राजनीति धारणा की थी, जो बहुत दिनों तक सत्तू और किताबों से घिरा, वह ऐसी वैचारिक अधोगति का शिकार बन गया।'

समसामयिक समाचारों से जुड़ी ये टिप्पणियां महान साहित्य नहीं है, इन्हें थोरो, इमर्सन, रसेल के अमर वक्तव्यों की श्रेणी में भी नहीं रखा जा सकता। लेकिन आज की मूल्यहीनता के दौर में ये गणेशशंकर विद्यार्थी की मूल्यपरक पत्रकारिता की परंपरा से अवश्य जुड़ती है और एक सार्थक हस्तक्षेप करती है। पत्रिका के इस अंक में 'सिर पर मैला ढोने की प्रथा' (ज्ञानेश्वर शंभकर), 'भारत अमेरिकी परमाणु समझौता' (पंकज पराशर), 'भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी माओवादी के महासचिव गणपति का साक्षात्कार, कम्युनिस्ट पार्टी आफ नेपाल का 'जनयुद्ध और दलित प्रश्न' शीर्षक दस्तावेज, खड़ी बोली कविता के प्रथम पैरोकार अयोध्या प्रसाद खत्री के महत्व पर राजीव रंजन गिरि का दृष्टिसंपन्न लेख और खत्री जी पर फिल्म बनाने वाले कवि फिल्मकार वीरेन नंदा का

साक्षात्कार आदि कई ऐसे गद्य हैं जो जनमानस को शिक्षित प्रेरित करेंगे और मूल्यपरक पत्रकारिता का अर्थ बताएंगे। लेकिन अभी हाल में संपन्न हुए राष्ट्रपति चुनाव की समीक्षा करता रजनीश का आलेख तथा पूर्व रूसी राष्ट्रीय बोरिस येल्तिसिन के निधन के बहाने सोवियत यूनियन के बिखराव की बाहरी और अंदरूनी साजिश की गहरी पड़ताल करता अनीश अंकुर का लेख विशेष रूप से पढ़े जाने चाहिए। ये हमारी दृष्टि और सोच को समृद्ध करते हैं। रजनीश का यह कथन सरकारी नाम की कथनी और करनी पर एक सशक्त टिप्पणी मानी जानी चाहिए। 'यदि योग्यता को ध्यान में रखकर यूपीए और वामपंथी दलों ने उम्मीदवार तय किया होता तो वो आजादी की लड़ाई में महान योगदान करके आई और पिछले चुनाव की उम्मीदवार कैप्टन लक्ष्मी सहगल के नाम पर दुबारा गौर जरूर करते। गौर तो खैर उन्होंने आजादी की लड़ाई में मास्टर दा (सूर्यसेन) के साथ जान लड़ा देने वाली आशालता सरकार और अमेरिकी साम्राज्यवाद के खिलाफ आवाज बुलंद करने वाली चर्चित लेखिका अरुंधति राय जैसी महिलाओं के नाम पर भी नहीं किया। ऐसा शायद इसलिए कि सत्ता के हुक्मरानों को संवैधानिक प्रमुख के पद पर कोई समझदार महिला नहीं बल्कि गूंगी गुड़िया चाहिए।'

जनविकल्प (जुलाई 2007)
संपादक *– प्रेमकुमार मणि*
संपर्क *: 2, सूर्याविहार, आशियाना नगर, पटना,*
मूल्य *– 10 रूपए*

(राष्ट्रीय सहारा, रविवार, 5 अगस्त, 2007)

समीक्षा

समाचार, विचार और पत्रकारिक मानक

सुरेश सलिल

'एक तरफ मुल्क में वैज्ञानिक तकनीकि संस्थानों का जाल बिछ रहा है, लाखों युवा विज्ञान और तकनीक की उम्दा पढ़ाई कर रहे हैं और दूसरी ओर हमारी सामाजिक प्रवृत्तियों में धर्मांधता, कट्टरता और अवैज्ञानिकता का जोर बढ़ता जा रहा है।' 'जन विकल्प' के नए अंक के संपादकीय के रूप में कथाकार/संपादक प्रेमकुमार मणि के लेख की शुरुआत इसी चिंता से होती है। थोड़ा विस्तार से देखें और सोचें तो यह विडम्बना हमारे समय और समाज के साथ 19वीं सदी के अंतिम दशकों से ही जुड़ी हुई है, जिसे नवजागरण की शुरुआत का समय माना जाता है और आधुनिक किस्म के स्वाधीनता आंदोलन की शुरुआत का भी।

टाटा आदि राष्ट्रीय पूंजीपति इस समय जहां विज्ञान और तकनीक से जुड़े राष्ट्रीय उद्योगों की स्थापना की पहल कर रहे थे, वहीं हाथ में गीता की प्रति लेकर 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' का सपना भी संजोया जा रहा था। वर्तमान में भी हम देखें तो हमारे पूर्व राष्ट्रपति विज्ञान और प्रभु कृपा के विचित्र घालमेल है। यदि व्यक्तिगत आस्था तक ही बात हो तो कोई बात नहीं, लेकिन वे तो देशभर में घूम-घूम कर बच्चों तक को वैज्ञानिक दृष्टि अपनाने और ईश्वर भीरु बनने का संदेश साथ-साथ देते रहे हैं। यह भी एक तरह का द्वंद्वात्मक भौतिकवाद ही है लेकिन समस्या तब और उलझ जाती है जब हम एक ओर धर्मांधता, कट्टरता और अवैज्ञानिकता का विरोध करते हुए दूसरी ओर आर्थिक प्रश्नों का सामाजिक, सांस्कृतिक प्रश्नों के साथ घालमेल कर देते हैं, वर्ग-संघर्ष के प्रश्नों को वर्ण संघर्ष में रूपांतरित कर देते हैं। खैर, यह कभी न खत्म होने वाली बहस है।

पत्रिका में समाचार और विचार का संतुलन संपादकीय कल्पनाशीलता और पत्रकारिक मानदंडों के निर्वाह की एक मिसाल बनकर पाठक के सामने आता है। वैशाली जिले के राजापाकर थानांतर्गत कुरेदी नामक घुमंतू जाति के दस

युवकों की हत्या की घटना यहां आवरण कथा की तरह प्रस्तुत है। घुमंतू जातियों को इस प्रकार की हिंसा और सामाजिक तिरस्कार का शिकार एक जमाने से होना पड़ रहा है। उनके मौलिक अधिकारों को लेकिन संविधान में भी बहुत साफ स्थिति नहीं है। पत्रिका के इस अंक में उपरोक्त जघन्य हत्याकांड पर पांच रपटें और आलेख (रजनीश उपाध्याय, अनीश अंकुर, नरेंद्र कुमार, गुलरेज अहमद, डॉ. विनय कुमार) प्रकाशित किये गये हैं, जो वोट की राजनीति से लेकर तथाकथित सामाजिक न्याय तक कई प्रश्नों, पक्षों को रेखांकित करते हैं। दरअसल यह गहरे समाजशास्त्रीय सवालों से जुड़ा मामला है जिसे उसी रोशनी में देखा जाना चाहिए और जिन पर निरंतरित बहस चलाई जानी चाहिए।

पिछड़ावाद की राजनीति को लेकर दिलीप मंडल का लेख तथा यूरेनियम खनन, शिक्षा के सार्वजनीकरण से संदर्भित मेघालय व झारखंड राज्यों की रपटें, कृषि क्षेत्र में बहुराष्ट्रीय कंपनियों को दी गई खुली छूट के दुष्परिणाम और परमाणु संधि जैसे ज्वलंत प्रश्नों से जुड़े आलेख सीमित कलेवर में भी पत्रिका को समाचार विश्लेषण की एक दृष्टिसंपन्न पहचान देते हैं। इस अंक का विचार पक्ष, संपादकीय संबोधन के अनुरूप पुरोहित पुराण और पुनरुत्थानवाद के विरुद्ध एक एजेंडे की भांति सामने आता है। संपादकीय आलेख के अलावा यहां प्रेम कुमार मणि के एक और लेख (एक और मिथक का पुनर्पाठ) की ओर ध्यान जाता है। जो शक्तिपूजा की अवधारणा की शल्यक्रिया करता है। शक्ति आराधना के भारतीय इतिहास का विश्लेषण करते हुए उसे आर्यों के आगमन से जोड़ा गया है, जिसके अनुसार दुर्गा आर्यों की आराध्य देवी हैं, जबकि भारतीय पौराणिक मिथकों का विश्लेषण करने वाले विद्वानों ने दुर्गा-काली आदि को आदि सभ्यता से जोड़ा है। स्त्री विमर्श के अनुसार ये दोनों देवियां पुरुष वर्चस्व के विरुद्ध स्त्री शक्ति का प्रतीक हैं।

इसी क्रम में गीता से संदर्भित प्रखर युवा समीक्षक प्रमोद रंजन के अनुसार, ब्राह्मणत्व को बौद्ध प्रभाव से उबारने के लिए और पहली सहस्राब्दी के पूर्वार्द्ध के बौद्ध चिंतकों के बढ़ते प्रभाव को कम करने के लिए गीता की रचना की गई। यही तर्क तुलसी के रामचरितमानस पर भी लागू किया गया है कि भक्तिकाल के शूद्र कवियों – कबीर और रैदास के बढ़ते प्रभाव को रोकने अथवा हल्का करने के लिए रामचरितमानस का औजार विकसित किया गया। इन दोनों लेखों के तर्कों से सहमत-असहमत होना दीगर बात है। महत्वपूर्ण यह है कि युवा पीढ़ी युगों से चले आ रहे इन विवादास्पद प्रश्नों से टकरा रही

है और तथाकथित आस्था के विरुद्ध तर्क की भाषा विकसित कर रही है।

रामसेतु के हवाले से राम की ऐतिहासिकता को लेकर उठे विवाद पर भी दो लेख प्रकाशित किये गये हैं, पहला लेख सुरेश पंडित का है, जिसमें दक्षिण भारत के दलित आंदोलन के जनक ई.वी. पेरियार की दृष्टि से वाल्मीकि रामायण और उसके चरित्रों का विश्लेषण है। दूसरा लेख राष्ट्रीय धारा के कवि रामधारी सिंह दिनकर की पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' का एक अंश है, जिसमें पुनरुस्थानवादी नजरिए से रामकथा के मूलस्रोत खोजने की कोशिश की गई है।

यहां इतिहासकार सुधीरचंद्र से वसंत त्रिपाठी की बातचीत भी लक्ष्य की जाएगी। आज जब विचार के हर क्षेत्र में धड़े बन गए हैं तो यहां पाठक के मन में प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि सुधीर चंद्र किस धड़े के इतिहासकार हैं। उनकी शैली और तर्क पद्धति उन्हें सबाल्टर्न हिस्टीरियोग्राफी के नजदीक ले जाती है, जो अपनी पूर्व अवधारणाओं के अनुसार तथ्यों को फ्रेंगमेंट्स या टुकड़ों में प्रस्तुत करने की रणनीति लेकर चलती है। कुल मिलाकर 'जनविकल्प' का यह अंक अपने सीमित कलेवर में भी विमर्श और विचार की इतनी बहुविध-सप्रश्न सामग्री संजोए है कि सृजन और विचार के नाम पर निकलने वाली मोटी-मोटी आतंककारी पत्रिकाएं भी बौनी नजर आएं।

जनविकल्प (अक्टूबर-नवं. 2007)
संपादक *- प्रेमकुमार मणि, प्रमोद रंजन*
मूल्य *: एक प्रति : 10 रूपए, वार्षिक : 100 रूपए*

(राष्ट्रीय सहारा, पटना, रविवार, 11 नवंबर 2007)

समीक्षा

संचेतना और वैज्ञानिकता का वाहक

अरुण नारायण

प्रेम कुमार मणि और प्रमोद रंजन के संपादन में निकलने वाला 'जन विकल्प' मासिक लघु पत्रिका है जिसके अब तक 8 अंक निकल चुके हैं। 36 पृष्ठों की इस पत्रिका की प्रकृति 'समयांतर' से मेल खाती है।

पत्रिका में छप रहे लेखों में साहित्यिक संस्कार की एक गहरी अन्तर्लय हम पाते हैं। बिहार के स्तर पर इस पत्रिका का एक योगदान तो यह है कि नियमित निकल रही है और यथास्थितिवाद और कर्मकांड के विरुद्ध तटस्थ होकर अपनी एक पक्षधरता पेश कर रही है। जून अंक में प्रकाशित 'सुनीता विलियम्स की अंतरिक्ष धर्मयात्रा' (लेखक–मुसाफिर बैठा) सरीखे लेखों में यह तेवर देखा जा सकता है। हम सभी इस बात से परिचित हैं कि तब इलैक्ट्रानिक और प्रिंट माध्यमों द्वारा किस तरह सुनीता विलियम्स के अंधविश्वासी और कर्मकांडीय सरोकार को भी ग्लैमराइज कर दिखलाया गया।

हिन्दी में जन विकल्प ने संभवतः पहली बार उस पाखंड की पोल दर पोल खोल डाली। इसी तरह कई और प्रसंगों में जन विकल्प की पहलकदमी काबिल-ए-तारीफ रही है।

एक वैचारिक पत्रिका को अपने समय और समाज को लेकर जो आवश्यक कार्यभार अपने उपर उठाना चाहिए। 'जन विकल्प' उस कसौटी पर कभी-कभी खरा उतरता है लेकिन कभी-कभी चर्चाओं में बने रहने के लिए जो हथकंडे अपनाये जाते हैं, उस रास्ते पर जाता हुआ भी यह दिखता है। अगस्त अंक में प्रकाशित राजू रंजन प्रसाद की डायरी, 'आज के तुलसीगण' में यह प्रवृत्ति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है हालांकि चर्चा में बने रहने सरीखे आरोप चस्पां करके इन उपरोक्त लेखों की अनदेखी नहीं की जा सकती। राजू रंजन प्रसाद कर्मठ कलमजीवी हैं और गंभीर भी। उन्होंने एम एल के साथियों और आलोक धन्वा के विचार और व्यवहार में व्याप्त जिन असमानताओं को रेखांकित किया है, वह गहरे तक उद्वेलित करती है।

(हिन्दुस्तान पटना, 24 अगस्त, 2008)

समीक्षा

बुद्धिवादी समाज के निर्माण की वैचारिकी

शंभुकुमार सुमन

समकालीन राजनीतिक परिदृश्य एवं सामाजिक अंतर्द्वंद्व को उद्‌घाटित करती 'सामाजिक चेतना की वैचारिकी' जन विकल्प मासिक पत्रिका की शुरुआत जनवरी, 2007 से हुई । सोवियत रूस एवं पूर्वी यूरोप के देशों में समाजवादी सरकारों के पतन के बाद साम्राज्यवादी शक्तियां पूंजीवाद का जयकारा लगाते हुए संघर्षों एवं विकल्प की संभावनाओं का अंत मानने लगी है, वे आक्रामक प्रचार नीति के सहारे पिज्जा-बर्गर, कोक-पेप्सी, भक्ति और भोग की संस्कृति को एमकात्र विकल्प के रूप में स्थापित करने की कोशिश में तल्लीन हैं, इसी पृष्ठभूमि में असहमति का स्वर बुलंद करती और विकल्पहीनता की अवधारणा को चुनौती देतीं लघु पत्रिकाओं के बीच बहुत कम समय में जन विकल्प ने अपनी पहचान बनायी है। यह इस मायने में भी कम महत्वपूर्ण नहीं है कि व्यवस्था एवं सत्ता के करीब रहते हुए भी संपादक विपक्ष की संवेदनशीलता के साथ रचनाओं के चयन में परदर्शी दिखते हैं। कभी पटना से ही 'फिलहाल' पत्रिका निकालनेवाले प्रसिद्ध आलोचक वीरभारत तलवार लिखते हैं कि जन विकल्प के गेट अप, आकार-प्रकार और विषय सूची वगैरह को देख कर मुझे 'फिलहाल` की याद आ गयी, साहित्यिक पत्रिकाओं के बीच जन विकल्प इस स्थिति में है कि इससे कोई विचार के स्तर पर असहमति रख सकता है, मगर नजरअंदाज नहीं कर सकता। इसे दुनिया भर के हिंदी पाठकों से मिल रहीं प्रतिक्रियाओं से समझा जा सकता है।

किसी पत्रिका की पठनीयता को पाठकों की प्रतिक्रिया के आंका जा सकता है। हिंदी प्रदेश में सही सूचनाओं और नये शोधपरक विचारों का अभाव है। यहां का माहौल भावनात्मक और आस्थवादी ज्यादा, विचार-विवेकपूर्ण कम है। विज्ञान एवं तकनीक से संचालित जीवन जीते हुए भी वैज्ञानिक चिंतन एवं विश्लेशण से काई सरोकार नहीं। अक्तूबर-नवंबर, 2007 अंक में सेतु समुद्रम परियोजना मामले में 'राष्ट्र की संचित मूर्खता के भव्य दर्शन' से अचंभित

संपादक लिखते हैं कि 'पूजा और आस्था से केवल अंधविश्वास फैलेगा और यह अंधविश्वास समाज को अन्याय और असमानता के गह्वर में धकेल देगा।'

इस संदर्भ में 'अंतरिक्ष की धर्म यात्रा' (जुलाई, 2007) शीर्षक लेख में युवा लेखक मुसाफिर बैठा लिखते हैं कि सुनीता विलियम्स की सफलता को भारतीय गौरव के साथ जोड़कर देखा जाना, वैज्ञानिक उपलब्धि में धार्मिक पूजा-अनुष्ठानों, दुआ-मन्नतों एवं ग्रह-नक्षत्रों आदि की अंधपरक ज्योतिष्कीय भूमिका का श्रेय दिया जाना, हमारे मीडिया की तार्किक सोच शून्यता तथा सामाजिक जिम्मेदारी के प्रति घोर लापरवाही को दरसाता है।

पत्रिका के प्रकाशन को एक साल होनेवाला है। विभिन्न अंकों से गुजरते हुए यह साफ-साफ दिखता है कि समाज, संस्कृति, राजनीति एवं ज्ञान-विज्ञान के सभी अनुशासनों से खुद को जोड़कर पत्रिका ने अपने पाठकों को ज्ञान और विज्ञान के स्तर पर समृद्ध किया है। देश और दुनिया के तमाम जरूरी मुद्दों पर असहमति रखते हुए भी उन पर सामग्री प्रकाशित की गयी है। इस क्रम मे जून-जुलाई, 2007 अंकों में माओवादी नेता गणपति का लंबा साक्षातकार भी शामिल है। महत्वपूर्ण यह है कि माओवादियों से अपनी असहमति (मार्च, 2007) दिखाते हुए संपादक लिखते हैं कि माओवादी मित्रों को हम इस आशा के साथ सलाम करते हैं कि वे सामाजिक परिवर्तन के लिए हिंसा की राजनीति का परित्याग करेंगे। साहित्य और संसकृति 'जनतंत्र' में इस तरह की उदारता देखने को कम ही मिलती है। विरोधी स्वर की आलोचना एवं सम्मान साथ-साथ चले तो हिंसा की संभावना क्षीण होती ही है। इसे नागरिकों के लोकतांत्रिक अधिकारियों को संरक्षित करके ही पाया जा सकता है।

जीवन जीने की बुनियादी जरूरतें आम आदमी को अब भी हमारे देश में मयस्सर नहीं हो सकी है, रोटी, कपड़ा और मकान के सवाल अब भी अनुत्तरित हैं, शिक्षा और स्वास्थ्य तो बाद में आते हैं। बिहार में सिर्फ 'चोरी भी आशंका` मात्र से अराजक भीड़ ने कुरेरी जाति के 10 घुमंतु युवकों की पीट-पीट कर हत्या कर दी। बर्बर होते समाज के संकेतों को पढ़ते हुए डॉ विनय कुमार लिखते हैं कि 'हर व्यक्ति के भीतर हिंसक विचार होते हैं। मगर वह उन्हें प्रकट करने में उसी तरह झिझकता है, जैसे रोशनी में सबके सामने कपड़ा उतारने में - भीड़ में, अंधेरे में व्यक्ति की हिंसकता मुखर हो उठती है।'

सवाल लोकतंत्र को भीड़ तंत्र बनने से बचाने का है। मगर दुर्भाग्य यह है कि वामपंथी पार्टियों को छोड़कर तमाम राष्ट्रीय और क्षेत्रिय राजनीतिक पार्टियों के पास जन शिक्षण एवं जनचेतना विकसित करने का कोई कार्यक्रम नहीं है।

उल्टे विचार और विवेक से रहित भीड़ की संस्कृति विकसित की जा रही है। भीड़ की संस्कृति के खिलाफ एक अनवरत संघर्ष की जरूरत को शिद्दत से महसूस कराती है यह पत्रिका।

हालिया अक्तूबर-नवंबर अंक में दिलीप मंडल का लेख उत्तर-भारत में पिछड़ावाद, रामधारी सिंह दिनकर द्वारा लिखित राम कथा के विविध रूप, राम पुनियानी का संविधान है राष्ट्रीय धर्मशास्त्र आदि लेख भेड़चाल के बरअक्स विचार एवं बुद्धिसंगतता के पक्ष को पुष्ट करते हैं।

शरद यादव के लेख 'संविधान पर न्यायपालिका के हमले के खिलाफ' एवं प्रमोद रंजन का लेख 'ब्राह्मणवाद की पुनर्वस्थापना का षडयंत्र' खास उल्लेखनीय है। पत्रिका ने माइक थेवर जैसे व्यक्तित्व को भी सामने लाया है, जो चुपचाप अपने काम से उन भ्रामक आशंकाओं की जड़ खोद रहे हैं, जिन्हें अभिजात वर्ग की-जान से पनपाने में लगा हुआ है।

समीक्षा

कहानी में दम

ओम नारायण

जन विकल्प की वार्षिकी एक तरह से अपने समय की सच्चाइयों से संवाद है। हां, यह कोई विशिष्ट आयोजन नहीं बल्कि कविता, कहानी, उपन्यास–अंश, आलेख और साक्षात्कारों के जरिए आसपास के कड़वे सच को सामने लाने का प्रयास है। आखिर लघु पत्रिकाएं ही तो हैं जो हिंदी अंचल की जनता के दुख-दर्द, विभीषिकाओं, आकांक्षाओं और सपनों को अभिव्यक्ति देती हैं। यहां कुछ स्थापित हस्ताक्षरों के संग नए नाम भी हैं जो आश्वस्ति देते हैं। कविताओं के मुकाबले कहानियां ज्यादा दमदार हैं। संतोष दीक्षित, कविता, रणेंद्र, राजकुमार राकेश की कहानियां दबे-कुचले वर्ग में आ रही चेतना और उसके प्रतिरोध को स्वर देती हैं। श्यामबिहारी श्यामल का उपन्यास–अंश 20वीं सदी के पूर्वार्ध के काशी के साहित्यिक समाज को पुनर्जीवित करता है ।

जन विकल्प : साहित्य वार्षिकी - 2008
संपादक : प्रेमकुमार मणि, प्रमोद रंजन
कीमत : 50 रुपये ।

- इंडिया टुडे, 7 मई, 2008

यह पुस्तक हिंदी मासिक ‘जन विकल्प’ में प्रकाशित सामग्री का प्रतिनिधि संकलन है। प्रेमकुमार मणि और प्रमोद रंजन के संपादन में पटना से वर्ष 2007 में प्रकाशित इस पत्रिका की जनपक्षधरता, निष्पक्षता और मौलिक त्वरा ने समाजकर्मियों और बुद्धिजीवियों को गहराई से आलोड़ित किया था। इस पुस्तक में जिन लेखों और साक्षात्कारों को जगह दी गई है, उनके कथ्य चिरजीवी हैं।

धर्म, विज्ञान, भाषा, इतिहास और पुनर्जागरण पर केंद्रित सामग्री नए तथ्यों को एक कौंध की तरह इतने नए दृष्टिकोण के साथ पाठक के सामने रखती है कि अनेक मामलों में सोच का पारंपरिक ढांचा दरकने लगता है। इसमें शामिल अनेक लेख उन हाशियाकृत समाजों के सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनीतिक संघर्षो को शिद्दत से सामने लाने की कोशिश करते हैं, जिन्हें मौजूदा अस्मिता विमर्श में भी जगह नहीं मिल सकी है।

भारतीय पत्रकारिता के इतिहास का अध्ययन करने वालों के लिए तो यह एक आवश्यक संदर्भ ग्रंथ है ही, इक्कीसवीं सदी के आरंभ में जारी राजनीतिक, सामाजिक और बौद्धिक हलचलों को समझने के लिए भी उपयोगी है।

अनन्य प्रकाशन
prakashananananya@gmail.com

ISBN : 978-93-92380-42-6